मनुस्मृतिः

[द्वितीय अध्याय]

(श्री कुल्लूकभट्ट कृत मन्वर्थमुक्तावली एवं तदनुसारी 'चन्द्रिका' हिन्दी व्याख्या, विस्तृत भूमिका, अन्वय, हिन्दी अनुवाद, विशेष व्याकरणात्मक टिप्पणी सहित)

डॉ० राकेश शास्त्री

मनुस्मृतिः

[द्वितीय अध्याय]

(श्री कुल्लूकभट्ट कृत मन्वर्थमुक्तावली एवं तदनुसारी 'चन्द्रिका' हिन्दी व्याख्या, विस्तृत भूमिका, अन्वय, हिन्दी अनुवाद, विशेष व्याकरणात्मक टिप्पणी सहित)

सम्पादक एवं व्याख्याकार

डॉ० राकेश शास्त्री

एम० ए० (संस्कृत), डी० फिल्

साहित्य-पुराणेतिहासाचार्य

(लब्ध स्वर्णपदकद्वय)

डॉ० प्रतिमा शास्त्री

एम० ए० (संस्कृत, हिन्दी), डी० फिल्

विद्यानिधि प्रकाशन

दिल्ली-110094

दो शब्द

प्राचीन वैदिक संस्कृत वाङ्मय में धर्मशास्त्रीय साहित्य का महत्त्वपूर्ण स्थान है, क्योंकि ये ही हमारे समाज की व्यवस्था एवं नियमों के निर्धारक हैं। समाज में इन्हें सदा ही आदर की दृष्टि से देखा जाता रहा है। यही कारण है कि हमारे समाज का कानून 'हिन्दू कोड बिल' का मुख्य आधार आचार्य मनु विरचित स्मृति—'मनुस्मृति' ही रही है। अतः भारतीय समाज की धार्मिक, सामाजिक एवं राजनैतिक व्यवस्थाओं के निर्धारण में यह वाङ्मय अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। साथ ही प्राचीन भारतीय सामाजिक, धार्मिक एवं राजनैतिक पद्धतियों की जानकारी प्राप्त करने के लिए भी धर्मशास्त्रीय साहित्य का अत्यन्त महत्त्व है।

इस सम्पूर्ण साहित्य को सुविधा की दृष्टि से तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है—1. धर्मसूत्र ग्रन्थ, 2. धर्मशास्त्रीय ग्रन्थ सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हैं, क्योंकि इनमें उन सभी नियमों का विस्तार से उल्लेख किया गया है, जिनका सूत्र-ग्रन्थों सें संक्षेप में उल्लेख किया गया है तथा जो हमारे समाज की व्यवस्थाओं के मूलाधार हैं।

इनमें भी आचार्य मनु विरचित स्मृति अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। इसी का आज भी सर्वाधिक प्रचलन है। यद्यपि स्मृतियों की संख्या सौ के लगभग मिलती है, किन्तु इनमें जो आदर याज्ञवल्क्य-स्मृति एवं मनुस्मृति को प्राप्त हुआ, वह अन्य को प्राप्त नहीं हो सका। यही कारण है कि उनका या तो केवल नामोल्लेख प्राप्त होता है अथवा वह प्रचलन से बाहर हो गई है।

मनुस्मृति के महत्त्व को ध्यान में रखते हुए ही भारतवर्ष के विभिन्न विश्वविद्यालयों ने मनुस्मृति को अथवा इसके कुछ अध्यायों को पाठ्यक्रम में निर्धारित किया है। विभिन्न टीकाकारों ने मनुस्मृति पर टीका ग्रन्थों की संरचना की, जिनमें मेधातिथि का मनुभाष्य, गोविन्दराज की मनुटीका तथा कुल्लूकभट्ट की मन्वर्थमुक्तावली प्रसिद्ध हैं।

यद्यपि श्री जयन्तकृष्ण, हरिकृष्ण दुबे ने 1972 में नौ संस्कृत टीकाओं के साथ बम्बई से मनुस्मृति को प्रकाशित कराया तथा इससे पूर्व श्री विश्वनाथ मण्डलीक द्वारा सन् 1886 में इसे सात टीकाओं के साथ सम्पादित किया जा चुका था, किन्तु इन सभी में कुल्लूकभट्ट की ''मन्वर्थमुक्तावली' का महत्त्व कुछ विशेष ही है। इसी कारण कुछ विश्वविद्यालयों ने मनुस्मृति की इस टीका को भी पाठ्यक्रम में निर्धारित किया है। अतः हमनें प्रस्तुत संस्करण में मनुस्मृति के द्वितीय एवं सप्तम अध्याय को 'मन्वर्थमुक्तावली'

के साथ प्रस्तुत किया है। यद्यपि इससे पुस्तक के कलेवर में अप्रत्याशित वृद्धि हुई है, किन्तु इससे ग्रन्थकार के अभिप्राय की अभिव्यक्ति में सहायता प्राप्त हुई है। अतः उपयोगिता की दृष्टि से इसे स्वीकार किया गया है।

भूमिका में ग्रन्थकार एवं ग्रन्थ विषयक परीक्षोपयोगी विषयों की विस्तृत चर्चा की गई है। उपलब्ध व्याख्याओं में प्रायः छात्रों की अनेक जिज्ञासाओं का समाधान न होने के कारण वस्तुतः उनके लिए इन प्रश्नों के समाधान की आवश्यकता की अनुभूति ही इस ग्रन्थ के प्रणयन में सहायिका रही है।

श्लोकों का अन्वय, हिन्दी अनुवाद, कुल्लूक भट्ट कृत मन्वर्थमुक्तावली टीकानुसारी 'चन्द्रिका' हिन्दी व्याख्या, व्याकरणात्मक टिप्पणी सहित देने का प्रयास किया गया है। ग्रन्थ के अन्त में परिशिष्ट के अन्तर्गत श्लोकानुक्रमणिका दी गई है। जिससे ग्रन्थ की उपयोगिता में वृद्धि हो सके। मेरा यह लघु प्रयास कितना सफल है, इसका निर्णय तो विद्वद्गण एवं संस्कृत अध्येता छात्र ही करेंगे, किन्तु यदि इससे छात्रों का थोड़ा भी मार्ग-दर्शन हो सका तो मैं इसे अपना परम सौभाग्य समझूँगा।

ग्रन्थ को तैयार करने में उपलब्ध अनेक व्याख्याओं एवं टीकाओं से प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप से अनेकशः सहायता प्राप्त हुई है। मैं उनके विद्वान् लेखकों के प्रति हृदय से धन्यवाद एवं आभार व्यक्त करता हूँ। भूमिका लेखन में डॉ. पी. वी. काणे के धर्मशास्त्र के इतिहास से अत्यन्त सहायता प्राप्त हुई है। अतः इस ग्रन्थ के विद्वान् लेखक के प्रति हार्दिक कृतज्ञताज्ञापन एवं आभार व्यक्त करना मेरा पुनीत कर्तव्य है। इति शम्।

1-एच-31, शस्त्रिनिलयम् राकेश शास्त्री
हाउसिंग बोर्ड कालोनी,
बांसवाडा (राज.) 327 001
दूरभाष - 02962 - 41026

सरस्वती के वरद्पुत्र, देववाणी के अनन्योपासक,

धर्मशास्त्र के उद्भट एवं प्रामाणिक विद्वान्,

संस्कृत के प्रचार-प्रसार में पूर्णतया तन्मयभाव से समर्पित,

प्रातःस्मरणीय, परमश्रद्धेय, गुरुवर्य

डॉ. प्रभाकर शास्त्री

अधिष्ठाता, कला-संकाय एवं वरिष्ठ प्रोफेसर (संस्कृत-विभाग)

राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

निदेशक

राजस्थान संस्कृत अकादमी, जयपुर

जिनके स्नेहिल मार्गदर्शन, प्रोत्साहन एवं शुभाशीर्वाद

के परिणामस्वरूप लेखनी मुखरित हुई

के कर-कमलों में विनम्रभाव से अर्पित।

राकेश शास्त्री

विषयानुक्रमणिका

भूमिका

(क) स्मृति से अभिप्राय— √ स्मृ आध्याने (चिन्तायाम्) धातु से क्तिन् प्रत्यय करके स्मृति शब्द निष्पन्न होता है। जिसका सामान्य अर्थ "पूर्णतया ध्यान करना 'चिन्तन करना' किया जाता है, किन्तु जिस स्मृति साहित्य की हम चर्चा कर रहे हैं। इस प्रसङ्ग में यह शब्द विशिष्ट अर्थ की अभिव्यक्ति के लिए प्रयुक्त हुआ है। स्वयं आचार्य मनु ने इस सम्बन्ध में लिखा है—"धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः" (मनुस्मृति 2/10) अभिधान चिन्तामणि 2/165 में भी—धर्मशास्त्रं स्यात्स्मृतिः, कहा गया है।

स्पष्ट ही आचार्य मनु आदि ने स्मृति को धर्मशास्त्र से परिभाषित किया है। आचार्य गौतम ने भी स्मृति को धर्मशास्त्र के रूप में उद्धृत करते हुए मनु एवं याज्ञवल्क्य को उनके प्रणेता के रूप में बताया है—"स्मृति धर्म शास्त्राणि, तेषां प्रणेतारः·········मनु याज्ञवल्क्यादयः। आचार्य वशिष्ट ने भी स्मृति को धर्म का उपादान माना है (1.4)।

शंकराचार्य ने 'स्मृति' शब्द का अपेक्षाकृत व्यापक अर्थ में प्रयोग करते हुए इसे पाणिनीय व्याकरण, श्रौत्रसूत्र, गृह्यसूत्र, धर्मसूत्र, महाभारत आदि अर्थों में प्रयुक्त माना है। इसी कारण उन्होंने 'पाणिनि स्मृतिरिति' इस प्रकार अनेकशः कथन किया है। तैत्तिरीय आरण्यक में भी स्मृति शब्द का प्रयोग हुआ है (1.2)। मनुस्मृति के प्रसिद्ध टीकाकार मेधातिथि ने अनुभूत अर्थ सम्बन्धी विज्ञान को स्मृति कहा है, "अनुभूतार्थविषयकं विज्ञान स्मृतिरुच्यते" (मनु. टीका. 2/6)।

यद्यपि स्मृति शब्द से सामान्यतया धर्मसूत्र ग्रन्थों के पश्चात् आचार्य मनु आदि द्वारा प्रणीत स्मृति ग्रन्थों से ही अभिप्राय लिया जाता है,। **जिनका प्रणयन, उन्होंने पूर्णतया वेदों का ध्यान करके उनके अभिप्राय एवं सिद्धान्तों को लेकर ही किया है।** सम्भवतः इसी कारण महाकवि कालिदास ने भी "श्रुतेरिवार्थं स्मृतिरन्वगच्छत्" (रघुवंशम् 2/2) कहकर स्मृतियों की वेदमूलकता प्रतिपादित की है।

(ख) स्मृतियों की संख्या—स्मृतियों की संख्या के सम्बन्ध में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है। आरम्भ में स्मृति ग्रन्थों की संख्या अत्यल्प ही थी, किन्तु धीरे-धीरे यह संख्या बढ़ते हुए सौ के लगभग पहुँच गई। इसका प्रमुख कारण प्रतीत होता है कि जब भी कोई आचार्य समाज में प्रतिष्ठित हुआ उसने अपने विचारों के अनुरूप एक स्मृति का प्रणयन कर दिया। यही कारण है कि आचार्य गौतम जहाँ एकमात्र आचार्य मनु के नाम

का स्मृतिकार के रूप में उल्लेख करते हैं (11.19) वहीं आचार्य बौधायन सात धर्मशास्त्रियों—"औपजंघनि, कात्य, काश्यप, गौतम, प्रजापति, मौद्गल्य एवं हारीत', के नाम का कथन करते हैं।

इसके विपरीत आचार्य वशिष्ठ ने केवल पाँच नामों का ही कथन किया है—गौतम, प्रजापति, मनु, यम और हारीत। आचार्य मनु अपने अतिरिक्त छः अन्य धर्मशास्त्रियों—अतथ्य के पुत्र, अत्रि, भृगु, वशिष्ठ, वैखानस और शौनक, के नामों का उल्लेख करते हैं। जबकि याज्ञवल्क्य ने सबसे पहले एक ही स्थल पर 20 धर्मशास्त्रकारों के नामों का परिगणन किया है, उन्होंने बौधायन का नाम का उल्लेख नहीं किया।

आचार्य पराशर थोड़े अन्तर के बाद 19 नामों का कथन करते हैं, किन्तु उन्होंने बृहस्पति, यम और व्यास के नाम का उल्लेख नहीं किया है, जबकि काश्यप, गार्ग्य एवं प्रचेता नामों को सम्मिलित किया है। तन्त्रवार्तिक में कुमारिल भट्ट ने 18 धर्म संहिताओं का कथन किया है। इसके पश्चात् चतुर्विंशतिमत नामक ग्रन्थ में 24 धर्मशास्त्रकारों के नामों का उल्लेख किया है। यद्यपि इसमें याज्ञवल्क्य द्वारा उल्लिखित सूची की अपेक्षा गार्ग्य, नारद, बौधायन, वत्स, विश्वामित्र, शंख आदि छः नाम अधिक हैं, किन्तु यहाँ कात्यायन एवं लिखित इन दो नामों का कथन नहीं हुआ है।

पैठीनसि ने 36 स्मृतियों के नामों का परिगणन किया है। जबकि भविष्यत्पुराण में 36 स्मृतियों का उल्लेख किया गया है, किन्तु वृद्ध गौतम स्मृति में 57 धर्मशास्त्रों के नामों का कथन किया गया है। इसके विपरीत वीरमित्रोदय में प्रयोग परिजात ने 18 मुख्य स्मृतियों, 18 उपस्मृतियों तथा 21 अन्य स्मृतिकारों के नामों का उल्लेख किया गया है। इस प्रकार उत्तरकालीन ग्रन्थों निर्णय सिन्धु, नीलकण्ठ एवं वीरमित्रोदय की सूचियों में उल्लिखित नामों के आधार पर स्मृतियों की संख्या कुल मिलाकर सौ के लगभग हो जाती है, किन्तु यह संख्या भी अन्तिम नहीं कही जा सकती। मनसुखराय मोर ने कलकत्ता से छः भागों में 56 स्मृतियों के प्रकाशन के साथ जिन अनुपलब्ध स्मृतियों के नामों का उल्लेख किया है (स्मृति सन्दर्भ – पञ्चम भाग, भूमिका, पृष्ठ ग) उन सबको मिलाकर स्मृतियों की संख्या 116 हो जाती है।

(ग) स्मृति साहित्य और मनुस्मृति—वास्तव में वेद ही धर्म का मूल आधार हैं। जिसे विद्वानों ने "वेदोऽखिलो धर्ममूलम्" (मनु. 2/6) कह कर स्वीकार भी किया है, किन्तु कालक्रम के प्रभाव से वेदों की दुर्बोधता बढ़ती गई और परम कृपालु ऋषियों ने मानव की अल्पबुद्धि को ध्यान में रखते हुए स्मृति ग्रन्थों की संरचना की। जिनमें वेद प्रतिपादित धर्म एवं सिद्धान्तों का ही वर्णन किया गया। वेद शब्द से अभिप्राय यहाँ केवल संहिता ग्रन्थों से नहीं, अपितु ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् आदि से भी लिया गया है। आचार्य मनु ने भी इस तथ्य को स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है कि इसमें जो कुछ भी कहा गया है वह सब पहले ही वेद में कहा जा चुका है, क्योंकि वेद तो सभी प्रकार के ज्ञान के भण्डार हैं—

"यः कश्चित्कस्यचिद् धर्मो मनुना परिकीर्तितः।
स सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि सः॥" (मनु. 2/6)

अतः वैदिक साहित्य में कही गई बात ही स्मृति साहित्य में, जिसे धर्मशास्त्र के नाम से भी जाना जाता है, कही गई। यहाँ भाषा सरल एवं शैली व्याख्यात्मक स्वीकार की गई। प्रारम्भ में स्मृति ग्रन्थों की संख्या अत्यल्प ही रही। साथ ही ये स्मृति ग्रन्थ काल विशेष की देन न होकर कई युगों की देन हैं। इनमें कुछ तो गद्य में है तथा कुछ पद्य में, किन्तु कुछ गद्य एवं पद्य दोनों में लिखी गई हैं।

इन सभी स्मृतियों में मनुस्मृति को सर्वाधिक प्राचीन स्वीकार किया गया है। भारतवर्ष में मनुस्मृति का सर्वप्रथम प्रकाशन 1813 ई. में कलकत्ता से किया गया। तत्पश्चात् इसके अनेक संस्करणों का प्रकाशन किया गया। इसके अंग्रेजी भाषा में भी अनुवाद किए गए जिनमें डॉ. बुहलर द्वारा किया गया अनुवाद सर्वश्रेष्ठ माना जाता है।

मनु नाम अत्यन्त प्राचीन है। ऋग्वेद में भी इसका उल्लेख मिलता है (ऋ. 1/80/16, 114/2, 2/33/13) वहाँ इन्हें मानव जाति का पिता कहा गया है। तत्पश्चात् तैत्तिरीय संहिता, ताण्ड्य-महाब्राह्मण में भी इनका उल्लेख हुआ है (यद्वै किं च मनुरवदद् भेषजम् तै. सं. 2.2.10.2) (मनु वैं यत्किञ्चावदत् तद् भेषजं भेषजतायै, ताण्ड्य 23/16/17) इसके अतिरिक्त ऐतरेय, शतपथ ब्राह्मण एवं निरुक्त में भी मनु का नामोल्लेख किया गया है। ऋग्वेद में एक मन्त्र में मनु के मार्ग से च्युत न होने की प्रार्थना भी की गई है—

मा नः पथः पित्र्यान्मानवादधि दूरं नैष्ट परावतः (ऋ. 8/30/3)

इस आधार पर स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि मनु एक व्यवहार प्रणेता थे तथा आचार्य यास्क से पूर्व भी स्मृतियों का अस्तित्व था। इसके अतिरिक्त गौतम, वशिष्ठ एवं आपस्तब ने भी मनु का उल्लेख किया है। महाभारत के शान्तिपर्व में (336/38-46) उल्लेख किया गया है कि—ब्रह्मा ने एक सौ सहस्र श्लोकों में धर्म का उल्लेख किया। तत्पश्चात् मनु ने उसकी व्याख्या की पुनः उशना और वृहस्पति ने मनु के ग्रन्थ के आधार पर शास्त्रों का प्रणयन किया।

नारद स्मृति में एक स्थल पर उल्लेख मिलता है कि मनु ने एक लाख श्लोकों 1080 अध्यायों तथा 24 प्रकरणों में एक धर्मशास्त्र की संरचना की और उसका अध्यापन नारद को किया, जिसने उसका 12 हजार श्लोकों में संक्षिप्तीकरण किया और मार्कण्डेय को पढ़ाया। पुनः उसने भी इसको 8 हजार श्लोकों में संक्षिप्त करके सुमति भार्गव को इसका ज्ञान दिया, जिसने इसे 4 हजार श्लोकों में संक्षिप्त किया।

भविष्य पुराण के अनुसार स्वायंभुव शास्त्र के चार संस्करण थे, जो क्रमशः भृगु, नारद, बृहस्पति और अंगिरा द्वारा विरचित थे। इस प्रकार इन उल्लेखों के आधार पर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि मनु सम्भवतः एक उपाधि हो गई थी। अतः वर्तमान मनुस्मृति का प्रणयन किस मनु ने किया यह कहना कठिन ही प्रतीत होता है। हाँ इतना

अवश्य कहा जा सकता है कम से कम मानव के आदि पूर्वज मनु जिसका वेद में उल्लेख हुआ है, के द्वारा इसकी संरचना नहीं की गई है। यद्यपि मैक्समूलर एवं डॉ. बुहलर ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि मानव-चरण के धर्मसूत्र का संशोधित रूप ही मनुस्मृति है, किन्तु इस मत को भी निरापद स्वीकार नहीं किया जा सकता। पुनरपि वर्तमान मनुस्मृति को कुछ विद्वान् स्वायंभुव मनु द्वारा विरचित भी स्वीकार करते हैं। इन सब स्थितियों को दृष्टिगत रखते हुए एक बात की प्रबल सम्भावना की जा सकती है कि वर्तमान मनुस्मृति में मनु नाम से उपलब्ध अन्य धर्मशास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थों से सहायता अवश्य ली गई होगी। इसके संकलन कर्ता कोई भी रहे हों। इसी कारण इसमें अनेक स्थलों पर मनुराह (9.158, 10.78) मनुरब्रवीत् तथा मनोरनुशासनम् (8.139, 279, 9.239) आदि संकेतों का उल्लेख हुआ है। वर्तमान मनुस्मृति में 12 अध्याय एवं 2694 श्लोक हैं। मनुस्मृति सरल एवं प्रवाहपूर्व शैली में लिखी गई है। पाणिनीय व्याकरण का पदे पदे प्रायः अनुकरण किया गया है।

(घ) मनुस्मृति का नामकरण—मनुना उपदिष्टा स्मृतिः, मनुस्मृतिः अर्थात् मनु द्वारा उपदिष्ट स्मृति ही मनुस्मृति कही जाती है। इस दृष्टि से इसका नाम मनु स्मृति पड़ा। इस विषय में एक शंका की जा सकती है कि—मनुस्मृति के अध्ययन से पता चलता है कि ब्रह्मा के मानस पुत्र स्वायंभुव मनु से प्रश्न किए जाने पर आचार्य मनु द्वारा धर्म के सम्बन्ध में उपदेश देना प्रारम्भ किया गया, किन्तु वहाँ यह उपदेश उनके द्वारा अत्यल्प ही दिया गया है, जबकि अधिकांश व्याख्यान उनके शिष्य भृगु द्वारा मनु के आदेश से दिया गया है।

> **एतद्वो भृगुः शास्त्रं श्रावयिष्यत्यशेषतः।**
> **एतद्धि मत्तोऽधिजगे सर्वमेषोऽखिलं मुनिः॥ (1/59)**

इस प्रकार यह स्मृति भृगु द्वारा उपदिष्ट होने पर भी मनुस्मृति कैसे हुई ? इसके निराकरण में तो यही कहना उचित होगा कि भृगु वस्तुतः आचार्य मनु के ही शिष्य हैं। अतः ये सभी उपदेश उन्होंने गुरु मुख से पहले ही सुने हैं। इसलिए ऋषियों को उपदेश देते हुए आचार्य भृगु वस्तुतः मनु के मुखतुल्य ही हैं। इसी कारण इसका नाम मनुस्मृति उचित एवं न्याय संगत प्रतीत होता है, क्योंकि मूल रूप से तो यह सम्पूर्ण उपदेश आचार्य मनु द्वारा ही किया गया है।

(ङ) मनुस्मृति का रचनाकाल—मनुस्मृति की संरचना कब की गई यह निश्चयपूर्वक कहना अत्यन्त कठिन है। फिर भी अन्तःसाक्ष्य एवं बाह्य साक्ष्यों के आधार पर इसके काल निर्धारण का यहाँ प्रयास किया जा रहा है।

अपर सीमा—मनुस्मृति की सर्वाधिक प्राचीन टीका मेधातिथि का मनु-भाष्य माना गया है, जिसका समय 900 ई. माना जाता है। आचार्य बृहस्पति, जिनका समय ईसा की पाँचवी शती है, ने अनेक स्थलों पर मनुस्मृति के उद्धरणों को प्रस्तुत किया है। इसी

समय में स्थित जैमिनिसूत्र के भाष्यकार आचार्य शबरस्वामी ने भी मनुस्मृति को अनेकशः उद्धृत किया है। इसके अतिरिक्त 571 ई. के बलभीराज धारसेन के द्वारा भी मनुस्मृति की ओर संकेत किया गया है।

इस प्रकार 5वीं शती एवं उसके पश्चात् अनेक स्थलों पर मनुस्मृति का उल्लेख किए जाने के कारण इसे पाँचवी शती के बाद की रचना मानना उचित प्रतीत नहीं होता।

इसके अतिरिक्त मनुस्मृति में जिन न्याय एवं विधि विषयक अनेक बातों की विस्तार से चर्चा नहीं की गई है, उनकी विस्तृत व्याख्या याज्ञवल्क्य स्मृति में उपलब्ध होती है। अतः मनुस्मृति का याज्ञवल्क्य स्मृति से पूर्ववर्ती होना सिद्ध होता है। याज्ञवल्क्य स्मृति ईसा की तृतीय शती की रचना स्वीकार की गई है। अतः मनुस्मृति को तृतीय शती से भी बहुत पूर्व की रचना मानना उचित प्रतीत होता है।

पूर्व सीमा—आचार्य मनु ने यवन, कम्बोज, शक, पह्लव एवं चीनियों के नाम का उल्लेख किया है। अतः इस आधार पर इसे ई. पू. तृतीय शती से पूर्व की रचना नहीं कहा जा सकता है। यवन, काम्बोज एवं गान्धार लोगों का उल्लेख अशोक के पाँचवे प्रस्तर अनुशासन में भी हुआ है तथा वर्तमान समय में उपलब्ध मनुस्मृति भाषिक गठन एवं सिद्धान्तों की दृष्टि से अधिक सशक्त होने के कारण प्राचीन धर्मसूत्रों (आपस्तम्ब, गौतम, बौधायन) से पर्याप्त आगे की कही जा सकती है। अतः इस आधार पर इसे धर्मसूत्रों से पश्चात्वर्ती कहा जा सकता है।

इसलिए उपर्युक्त साक्ष्यों के आधार पर कहा जा सकता है कि मनुस्मृति का प्रणयन ई. पू. द्वितीय शती एवं ईसा की द्वितीय शती के बीच कभी हुआ होगा। महामहोपाध्याय डॉ. पी. वी. काणे ने भी इसी प्रकार की सम्भावना व्यक्त की है (धर्मशास्त्र का इतिहास, प्रथम भाग पृ. 46)

(च) मनुस्मृति की टीकाएँ—धर्मशास्त्रीय साहित्य में मनुस्मृति की महत्ता के कारण अनेक विद्वान् आचार्यों ने इस ग्रन्थ पर अपनी टीकाएँ लिखीं। जिनमें मेधातिथि, गोविन्दराज, कुल्लूक, नारायण, राघवनन्दन, नन्दन, मणिराम, भारुचि एवं रामचन्द्र का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। साथ ही कुछ अन्य व्याख्याकारों, जिनकी कृतियाँ आज पूर्ण रूप से उपलब्ध नहीं होती, ने भी मनुस्मृति पर अपनी टीकाओं की संरचना की, जिनमें असहाय, उदयकर, भागुरि, भोजदेव, धरणीधर एवं एक काश्मीरी टीकाकार जिनका नाम अज्ञात है, के नाम उद्धृत किए जा सकते हैं।

इस प्रकार मनुस्मृति के टीकाकारों में कुल मिलाकर लगभग पन्द्रह टीकाकारों के नाम लिए जा सकते हैं। इन सभी टीकाओं में मेधातिथि की मनु-भाष्य टीका सर्वाधिक प्राचीन मानी जाती है। साथ ही कुल्लूक भट्ट की 'मन्वर्थमुक्तावली' टीका भी विद्वानों में लोकप्रिय एवं प्रशंसनीय रही। इसके अतिरिक्त गोविन्द राज कृत मनु टीका की भी विद्वानों ने प्रशंसा की।

मनुस्मृति की महत्त्वपूर्ण टीकाओं के एक साथ सम्पादन एवं प्रकाशन का प्रथम प्रशंसनीय प्रयास सन् 1886 में श्री विश्वनाथ नारायण मण्डलीक द्वारा किया गया। जिसके अन्तर्गत उन्होंने सात प्रमुख टीकाओं का संग्रह किया। इसके अतिरिक्त मेधातिथि के मनुभाष्य को सम्पादित करके अनेक संस्करणों का प्रकाशन भी विद्वानों द्वारा किया गया। जिनमें धारपुडे और गंगानाथ झा के द्वारा सम्पादित संस्करण विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

संस्कृत ग्रन्थों के प्रकाशन में अग्रणी संस्था निर्णय सागर प्रेस, बम्बई से कुल्लूक भट्ट की टीका सहित मनुस्मृति का प्रकाशन पण्डित वासुदेव शर्मा द्वारा (1915 ई.) में किया गया। जो विद्वानों में अत्यन्त लोकप्रिय हुआ।

इसके अतिरिक्त संस्कृत आयोग की अनुशंसा पर श्री जयन्त कृष्ण हरिकृष्ण दुबे ने सन् 1972 ई. में बम्बई से ही नौ टीकाओं के साथ मनुस्मृति को सम्पादित एवं प्रकाशित कराकर संस्कृत-साहित्य जगत् एवं धर्मशास्त्र प्रेमी विद्वानों का महान् उपकार किया। इस विशाल ग्रन्थ में उन्होंने मण्डलीक द्वारा सम्पादित सात टीकाओं के अतिरिक्त श्रीमणिराम एवं भारुचि की टीकाओं को भी प्रामाणिक रूप से प्रथम बार सम्पादित किया।

अब हम इन टीकाओं में से प्रमुख टीकाकारों का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत कर रहे हैं—

(अ) मेधातिथि—मनुस्मृति के सर्वाधिक प्राचीन भाष्यकार हैं। इनके भाष्य में कश्मीर का अत्यधिक वर्णन किए जाने के कारण विद्वानों ने इन्हें काश्मीरी माना है। इनका समय 900 ई. के लगभग स्वीकार किया गया है। इन्होंने मनुस्मृति की विस्तृत एवं विद्वत्तापूर्ण व्याख्या की है। मेधातिथि के भाष्य की हस्तलिखित प्रतियों में उपलब्ध श्लोक से पता चलता है कि सहारण के पुत्र मदन नामक राजा ने किसी देश से मेधातिथि के भाष्य की प्रतियाँ मंगाकर इसका जीर्णोद्धार कराया।

इनके भाष्य में गौतम, बौधायन, आपस्तम्ब, वशिष्ठ, विष्णु, शंख, मनु, याज्ञवल्क्य, नारद, पराशर, बृहस्पति एवं कात्यायन आदि स्मृतिकारों के नामों का उल्लेख हुआ है। यहाँ पुराणों का भी उल्लेख मिलता है। उन्होंने व्यास को ही पुराणों का लेखक माना है। ऐसा प्रतीत होता है कि मेधातिथि ने पूर्व मीमांसा का विशेष रूप से अध्ययन किया था। विधि एवं अर्थवाद शब्दों का उनके भाष्य में अत्यधिक प्रयोग हुआ है। अनेक स्थलों पर व्याख्या करते हुए उन्होंने जैमिनि सूत्रों एवं शाबर-भाष्य के उद्धरणों को भी प्रस्तुत किया है। उन्होंने मोक्ष के लिए ज्ञान और कर्म दोनों को आवश्यक माना है। मेधातिथि ने अनेक स्थलों पर अपनी अन्य कृति 'स्मृतिविवेक' से उद्धरण प्रस्तुत किए हैं। जो आज उपलब्ध नहीं होती।

(ब) गोविन्द राज—मनुस्मृति के द्वितीय महत्त्वपूर्ण टीकाकार हैं। उन्होंने मनुटीका नामक भाष्य की 1050 ई. के लगभग संरचना की। इसके अतिरिक्त उन्होंने स्मृतिमञ्जरी नामक स्वतन्त्र धर्मशास्त्रीय ग्रन्थ का भी प्रणयन किया। मनु टीका एवं स्मृतिमञ्जरी के

आधार पर पता चलता है कि ये गंगा तट निवासी नारायण के पुत्र माधव की सन्तान थे। ये ब्राह्मण थे।

मिताक्षरा टीका में गोविन्दराज का उल्लेख नहीं हुआ है, जबकि मेधातिथि एवं भोजदेव का उल्लेख वहाँ मिलता है। इसी आधार पर विद्वानों ने इनका समय 1050 ई. से 1080 ई. के लगभग निर्धारित किया है। उन्होंने अपने भाष्य में पुराणों, गृह्यसूत्रों एवं योगसूत्र आदि की अनेक स्थलों पर चर्चा की है तथा मेधातिथि के समान ही मोक्ष के लिए ज्ञान एवं कर्म दोनों को आवश्यक माना है। कुल्लूक भट्ट ने मेधातिथि एवं गोविन्दराज के अनेक मतों एवं उद्धरणों को दिया है।

(स) कुल्लूक भट्ट—मनुस्मृति के टीकाकारों में कुल्लूक भट्ट का अद्वितीय स्थान है। इन्होंने 'मन्वर्थमुक्तावली' नामक टीका की संरचना की। सरल, संक्षिप्त, स्पष्ट एवं उद्देश्यपूर्णता इस टीका की विशेषताएँ हैं। इन्होंने अनेक स्थलों पर मेधातिथि, गोविन्दराज के भाष्यों के उद्धरण भी प्रस्तुत किए हैं। इनका समय विद्वानों ने 1150 ई. से 1300 ई. के मध्य स्वीकार किया है। इन्होंने अनेक स्थलों पर मेधातिथि एवं गोविन्दराज के मतों की कटु आलोचना प्रस्तुत करते हुए स्वमत की प्रशंसा की है।

इसके अतिरिक्त इन्होंने स्मृतिसागर नामक एक अन्य ग्रन्थ की भी संरचना की जिसके केवल दो अंश—अशौच-सागर एवं विवाद-सागर ही अभी तक उपलब्ध हो सके हैं। कुल्लूक भट्ट के अनुसार—उन्होंने अपने पिता की आज्ञा से अशौच सागर, विवादसागर एवं श्राद्धसागर की संरचना की। इनमें प्रमुख रूप से महाभारत से उद्धरण प्रस्तुत किए गए हैं। इसके साथ ही महापुराण, उपपुराण, धर्मसूत्र तथा अन्य स्मृति ग्रन्थों की भी यत्र-तत्र चर्चा की गई है। इन्होंने भोजदेव, कामधेनु, हलायुध, मेधातिथि एवं शंख आदि धर्मशास्त्रकारों का भी उल्लेख किया है।

(छ) मनुस्मृति का अध्याय के अनुसार वर्ण्य-विषय—जैसा कि हम पूर्व में ही उल्लेख कर चुके हैं कि मनुस्मृति के वर्तमान संस्करण में कुल 12 अध्यायों में 2694 श्लोक निबद्ध हैं। अब यहाँ इन अध्यायों के वर्ण्य-विषय का संक्षेप में उल्लेख किया जा रहा है—

प्रथम अध्याय—वर्णधर्म की जिज्ञासा लेकर ऋषियों का मनु के पास जाना। मनु द्वारा सांख्यमतानुसार विश्वसृष्टि का कथन। पुनः भृगु को ऋषियों के धर्म की शिक्षा देने का आदेश प्रदान करना। तत्पश्चात् चारों युग, उनके परिमाण, मन्वन्तर, प्रलय आदि का विस्तार से कथन करना। युगों में क्रमशः धर्म की अवनति का उल्लेख। चारों वर्णों के युगों के अनुरूप आचार, धर्म एवं कर्तव्यों का कथन। ब्राह्मणों की श्रेष्ठता प्रतिपादित करना। सत्-आचरण को ही श्रेष्ठ धर्म बताना।

द्वितीय अध्याय—धर्म के लक्षण, बताते हुए वेद, स्मृति, सज्जनों का आचरण एवं आत्म संतुष्टि को ही मुख्याधार कहना। श्रुति, स्मृति की प्रामाणिकता का कथन।

द्विजातियों के संस्कार, भोजन आदि के नियमों का उल्लेख। ब्रह्मावर्त, ब्रह्मर्षि देश, मध्य देश तथा आर्यावर्त की सीमाओं का कथन। संस्कारों की आवश्यकता का प्रतिपादन। प्रणव, व्याहृति एवं सावित्री की उत्पत्ति। अपने से बड़ों को अभिवादन के प्रकार। ब्रह्मचारी के कर्तव्य, जातकर्म, नामकरण, चूड़ाकर्म, उपनयन आदि संस्कारों का विस्तारपूर्वक उल्लेख, गुरूनिन्दा का निषेध तथा अखण्ड ब्रह्मचर्य का फल।

तृतीय अध्याय—चारों वर्णों के विवाह विषयक नियम, विवाह के आठ प्रकार किस जाति के लिए कौन-सा विवाह उपयुक्त है ? पति पत्नी के कर्तव्य, गृहस्थ जीवन की प्रशंसा, अतिथि सत्कार एवं श्राद्ध का विस्तार से कथन, साथ ही पञ्चमहायज्ञों के अनुष्ठानादि का विस्तारपूर्वक उल्लेख।

चतुर्थ अध्याय—गृहस्थाश्रम का समय, जीवन विधि एवं व्यवहार, यज्ञ, वेदाध्ययन, स्नातक की आचार विधि, अनध्याय के नियम, वर्जित एवं ग्राह्य भोजन एवं पेय पदार्थ आदि के नियम, संयम की प्रशंसा, अतिथि सम्मान, नग्न स्नान एवं शयन का निषेध, शूद्रादि को व्रत का निषेध, ब्रह्म-मुहूर्त में उठने के लाभ, दुराचरण निन्दा, सदाचरण प्रशंसा, यम-नियम का वर्णन वेदों के अध्ययन की प्रशंसा एवं असत्य संभाषण की निन्दा।

पञ्चम अध्याय—भक्ष्य मांस एवं सब्जियाँ, जन्म मरण के अवसर पर अशुद्धि लहसुन आदि के भक्षण का प्रायाश्चित, यज्ञ के लिए पशु बलि, सपिण्ड एवं समानोदक की परिभाषा, विभिन्न वस्तुओं के विविध प्रकार के स्पर्श से शुद्धि, आचमन की विधि, स्त्री-धर्म एवं उसकी स्वतन्त्रता का निषेध, स्त्रियों द्वारा पृथक् यज्ञ का निषेध, पतिव्रता के व्रत का फल, पुनर्विवाह एवं गृहस्थाश्रम का समय।

षष्ठ अध्याय—वानप्रस्थ का समय, उनकी दिनचर्या एवं व्यवहार, अतिथि का आचरण, परिव्राजकों के कर्तव्य, गृहस्थ प्रशंसा। मुक्त का स्वरूप, वेद सन्यासी का फल।

सप्तम अध्याय—राजा के कर्तव्य, दण्ड की प्रशंसा, न्यायप्रिय राजा की प्रशंसा, अन्याय करने वाले राजा की निन्दा, राजा के लिए विद्याध्ययन करना, जितेन्द्रिय होना एवं काम के परित्याग का विधान, सन्धि, विग्रह आदि षड्विध उपायों का कथन। सेनापति एवं दूतादि के कर्तव्य, गुणादि। राजा के लिए चार विद्याएँ, क्रोध से उत्पन्न आठ अवगुण, मन्त्रिपरिषद् की रचना, दुर्ग एवं राजधानी, विभिन्न विभागों के अध्यक्ष, टैक्स लेना, नियम, सुपात्र को दान देने का फल, युद्ध नियम, साम, दाम, दण्ड एवं भेदादि का कथन, सन्धि, युद्ध, आक्रमण, आसन, शरण ग्रहण करना आदि, विजयी राजा के कर्तव्य अन्नादि की परीक्षा, विषनाशक रत्न एवं उनको धारण करना, गुप्त बातों का अवधारण।

अष्टम अध्याय—राजा के न्याय विषयक कर्तव्य, व्यवहारों के अष्टादश प्रकार, राजा, न्यायाधीश, सभा संरचना, नाबालिग, विधवा एवं असहाय लोगों तथा कोषादि को देखने सम्बन्धी राज के कर्तव्य, मुकदमों में पराजय, गवाहों की भिन्नता, असत्य गवाही, सत्य प्रशंसा, दण्ड के विभिन्न प्रकार, ब्राह्मण के लिए फाँसी का निषेध, माता-पिता,

पत्नी एवं सन्तान का परित्याग न करना, राजा द्वारा किए जाने वाले धर्म-अधर्म में षष्ठांश की भागीदारी, दासों के सात प्रकारों का कथन।

नवम अध्याय—पति-पत्नी के कर्तव्य, पातिव्रत धर्म की प्रशंसा, बालक पर अधिकार, नियोग का विवरण एवं निन्दा, विवाह की अवस्था, बंटवारा नियम, बारह प्रकार के पुत्र, पिण्डदान के नियम, स्त्रीधन के प्रकार उत्तराधिकार, सम्पत्ति विभाजन के नियम, विद्या के लाभ, जुआ एवं पुरस्कार आर्यों की रक्षा का फल, चोरी की खोज, बन्दी गृह, पंच महापाप एवं उसके प्रायश्चित्, राज्य के सात अंग, वैश्य एवं शूद्र के कर्तव्य।

दशम अध्याय—अध्यापन केवल ब्राह्मण द्वारा, वर्णसंकर जातियों—म्लेच्छ, कम्बोज, यवन, शक आदि के लिए आचार-नियम, चतुर्वर्णों के लिए विशेषाधिकार एवं कर्तव्य, आपत्ति में ब्राह्मण की आजीविका के साधन, ब्राह्मण द्वारा विक्रय की त्याज्य वस्तु, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र की आपत्तिकाल में आजीविका।

एकादश अध्याय—दान की प्रशंसा, स्नातक के नौ प्रकार, परिवार का दायित्व निर्वाह न करने पर दोष, पञ्च महापातक एवं उनके प्रायश्चित्, पूर्वजन्म के पापों से रोगों की उत्पत्ति, उपपातक एवं उनके प्रायश्चित्त, पापवृत्ति की निन्दा, तपःस्तुति, वेदाभ्यास की प्रशंसा। पाप नाशक मन्त्र।

द्वादश अध्याय—कर्म-विवेचन, क्षेत्रज्ञ, भूतात्मा, जीव, नरक-यातना, सत्त्व, रजस्, तमस् गुणत्रय, तीन प्रकार के मानव कर्म, निःश्रेयस् की उत्पत्ति के साधन, आत्मज्ञान की श्रेष्ठता, वेद एवं वेदज्ञ की प्रशंसा, प्रवृत्त एवं निवृत्त कर्म, निष्कामकर्म, तर्क का स्थान, शिष्ट एवं परिषद् धर्मज्ञ का लक्षण, सृष्टि एवं प्रलय का नैरन्तर्य, मानवशास्त्र के अध्ययन का फल।

(ज) स्मृति साहित्य में मनुस्मृति का स्थान—जैसा कि पूर्व में उल्लेख किया जा चुका है कि सम्पूर्ण धर्मशास्त्रीय वाङ्मय को तीन भागों में विभाजित करने पर (धर्मसूत्र, धर्मशास्त्र एवं टीकाएँ) मध्यम धर्मशास्त्रीय साहित्य को ही स्मृति-साहित्य कहा गया है। जिनकी संख्या सौ से भी अधिक होती है। इन सभी में मनुस्मृति अपनी प्राचीनता, विषयविस्तार एवं गाम्भीर्य की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है।

साथ ही इसकी महत्ता का एक और भी कारण है कि यह वेदों के अत्यन्त समीप है। अर्थात् इसमें प्रतिपादित विचार श्रुति द्वारा परिपुष्ट एवं समर्थित हैं। इसी कारण कहा गया है कि—

"वेदार्थोपनिबद्धत्वात् प्राधान्यं तु मनोः स्मृतम्।"

इसकी इसी विश्वसनीयता एवं वेदमूलकता के कारण धर्मशास्त्रकारों ने यहाँ तक कह दिया कि—जो स्मृति मनुस्मृति की भावना एवं विचारों के प्रतिकूल है, वह प्रशस्य नहीं है—

"मन्वर्थ विपरीता तु या स्मृतिः सा न शस्यते।"

इसकी वेदमूलकता के साथ-साथ प्राचीन भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता के ऐतिहासिक विकासक्रम में भी मनुस्मृति का अद्वितीय योगदान अन्य स्मृतियों की अपेक्षा अधिक कहा जा सकता है, क्योंकि इसने हमारे प्राचीन समाज की सामाजिक, धार्मिक एवं राजनैतिक परम्पराओं को न केवल प्रभावित ही किया है, अपितु उनके निर्माण में भी महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। प्राचीन भारतीय समाज में अन्य स्मृतियों की अपेक्षा मनुस्मृति को सर्वोच्च स्थान प्राप्त था। किसी भी प्रकार की शंका, व्यवहार विरोध अथवा व्यवस्था के प्रश्न पर मनुस्मृति को ही प्रमाण रूप में स्वीकार करते हुए निर्णय किए जाते हैं। राजा, महाराजा, समाज के सभी वर्ग इसे सम्मान की दृष्टि से देखते थे।

इतना ही नहीं वर्तमान कानून व्यवस्था में प्रचलित 'हिन्दू कोड़ बिल' की संरचना मनुस्मृति को ही आधार बनाकर की गई। इस प्रकार अन्य स्मृतियों की अपेक्षा वर्तमान समय में भी यही मनुस्मृति हमारे हिन्दू समाज की कानून व्यवस्था का आधार ग्रन्थ कहा जा सकता है। वस्तुतः मनुस्मृति में उन सभी आचार, व्यवहार, यम-नियम एवं कार्यकलापों का विस्तार से विवेचन किया गया है जो सम्पूर्ण आर्यजाति के सभी वर्गों के लिए धार्मिक नियम की संज्ञा से अभिहित किए जाते हैं।

इसके अतिरिक्त पाश्चात्य विद्वानों ने प्राचीन भारतीय संस्कृति, सभ्यता, धर्म, राजनीति एवं समाज का अध्ययन करने के लिए अन्य स्मृतियों की अपेक्षा मनुस्मृति को ही प्रमाण रूप में स्वीकृत किया है। इन सभी दृष्टियों से मनुस्मृति अन्य स्मृतियों की अपेक्षा अद्वितीय स्थान रखती है।

साथ ही इसमें मोक्ष के साधन स्वरूप धर्म का विस्तारपूर्वक अधर्म का परित्याग कराते हुए, विवेचन किया गया है। इस कारण यह धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष रूप पुरुषार्थ चतुष्टय का प्रतिपादन करने के कारण विद्वानों में लोकप्रिय रही। इसमें वर्णधर्म, आश्रमधर्म, गुणधर्म, निमित्तधर्म तथा सामान्यधर्म का साङ्गोपाङ्ग विशद रूप से प्रतिपादन किया गया है। आचार्य मनु इस सम्बन्ध में स्वयं कहते हैं कि—

> **अस्मिन् धर्मोऽखिलेनोक्तो गुणदोषौ च कर्मणाम्।**
> **चतुर्णामपि वर्णानामाचारश्चैव शाश्वतः ॥ 1/107 ॥**

इसीलिए प्रायः सभी आचार्यों ने इसकी श्रेष्ठता को स्वीकार किया है।

(झ) मनुस्मृति में प्रतिपादित सामाजिक व्यवस्था—

(अ) वर्णव्यवस्था—मनुस्मृतिकार ने व्यवस्था की दृष्टि से सम्पूर्ण समाज को चार वर्णों में विभाजित किया—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। इनमें ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य इन तीनों को वेदोक्त संस्कार किए जाने के कारण द्विज नाम दिया गया, क्योंकि व्यक्ति जन्म से शूद्र होता है। वह चाहे किसी भी वर्ण का हो तथा संस्कार किए जाने के बाद मानो वह दूसरा जन्म लेता है। इसलिए द्विज कहलाता है—

जन्मना जायते शूद्रः संस्काराद् द्विज उच्यते॥

किन्तु उन्होंने चतुर्थ वर्ण शूद्र के संस्कार का निषेध किया है। इसी कारण उसे एक जाति कहा गया है—

ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यस्त्रयो वर्णा द्विजातयः।
चतुर्थ एकजातिस्तु शूद्रो नास्ति तु पञ्चमः॥ (10/4)

आचार्य मनु ने वर्णव्यवस्था को जन्म से स्वीकार किया है। ऋग्वेद में भी इन चारों वर्णों का उल्लेख मिलता है, वहाँ इन्हें विराट् पुरुष के विभिन्न अंगों से उत्पन्न बताया है। तदनुसार ही सम्भवतः इसके महत्त्व की भावना मनुस्मृति काल तक आते-आते दृढ़मूल हुई—

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
उरु तदस्य यद् वैश्यः पद्भ्यां शूद्रोऽजायत॥ (10/90/12)

यद्यपि आरम्भ में यह व्यवस्था कर्म के आधार पर थी, किन्तु बाद में यह जन्म पर आधारित हो गई तथा विराट् पुरुष के सर्वोत्कृष्ट अंग मुख से उत्पन्न होने के कारण समाज में ब्राह्मण की सर्वोत्कृष्ट स्थिति स्वीकार की गई। वह समाज का श्रेष्ठ मार्गदर्शक, समादरणीय माना गया। आचार्य मनु ने उसकी श्रेष्ठता का कारण इस प्रकार उल्लेख किया—

वैशेष्यात्प्रकृतिश्रैष्ठ्यान्नियमस्य च धारणात्।
संस्कारस्य विशेषाच्च वर्णानां ब्राह्मणः प्रभुः॥ (मनु. 10/3)

अर्थात् उत्पत्ति स्थल की श्रेष्ठता, नियमों को धारण करने, संस्कारों के वैशिष्ट्य तथा जाति की उत्कृष्टता के कारण ही ब्राह्मण सम्पूर्ण समाज में पूजनीय है। समाज की शिक्षा एवं धर्म की सम्पूर्ण व्यवस्था का दायित्व इसी श्रेष्ठ वर्ग को सौंपा गया। वह शास्त्रों का अध्येता होने के साथ-साथ समाज के सभी वर्गों को धर्म का उपदेश देता था। साथ ही यज्ञ करना कराना, अध्ययन, अध्यापन ही उसका मुख्य कार्य था। समाज के अन्य वर्णों का दायित्व था कि ब्राह्मण के सम्मान, सेवा, सुरक्षा एवं भरणपोषण आदि का पूरा-पूरा ध्यान रखे।

क्षत्रिय की उत्पत्ति विराट् पुरुष की भुजाओं से मानी गई है। यह वर्ण शक्तिशाली होने के कारण समाज का रक्षक माना गया। राजा इसी वर्ण का होता था। समाज के सभी वर्णों को नियमों के अन्तर्गत रखना, सामाजिक-व्यवस्था बनाए रखना ही इस वर्ण का मुख्य कार्य माना गया। वैश्य एवं शूद्र इसके अधीन कार्य करते थे।

समाज का तृतीय वैश्य वर्ण जिसकी उत्पत्ति विराट् पुरुष के उरुओं से मानी गई, का मुख्य कार्य कृषि एवं वाणिज्य कर्म करना रहा। एक प्रकार से समाज की सम्पूर्ण आर्थिक व्यवस्था को ठीक रखने का दायित्व वैश्य वर्ण का माना गया। इसका कार्य ब्राह्मणों का आदर करने के साथ-साथ क्षत्रिय की आज्ञापालन करना भी रहा।

चतुर्थ वर्ण की उत्पत्ति विराट् पुरुष के पैरों से मानी गई। अत: समाज में इसकी स्थिति चतुर्थ स्थान पर रही। इसके संस्कार का निषेध किया गया। साथ ही इसका प्रमुख कार्य ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य-द्विजों की सेवा शुश्रूषा करना माना गया। इस प्रकार सामान्य स्थिति में विभिन्न वर्णों के कार्यों का विभाजन किया गया था, किन्तु आपत्तिकाल में इनके कार्यों की विभिन्नता का भी विधान किया गया है। जैसे, यदि शूद्र सेवावृत्ति से अपने परिवार का पोषण न कर सके तो वह वैश्यवृत्ति को भी स्वीकार कर सकता है, किन्तु इस स्थिति में भी द्विजातियों का हितचिन्तन करना उसका सर्वोत्कृष्ट दायित्व है। इसी प्रकार ब्राह्मण भी आपदवस्था में हीन आजीविका को स्वीकार कर सकता था। मनु के समय में इस वर्णव्यवस्था का कट्टरता के साथ पालन किया जाता था।

सामाजिक व्यवस्था की दृष्टि से इस वर्णव्यवस्था के महत्त्व को स्वीकार करने में लेशमात्र भी संकोच नहीं होना चाहिए, किन्तु यह व्यवस्था तब तक ही प्रशंसनीय रही, जब तक कर्म इसका आधार था। जन्म पर आधारित होने के साथ-साथ इसमें दोषों का आगमन होना प्रारम्भ हो गया। क्षत्रिय को धर्म से भयभीत करते हुए उसका सहयोग लेकर ब्राह्मण वर्ण ने सम्पूर्ण समाज पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया। इसके अन्तर्गत समाज के चतुर्थ वर्ण की स्थिति अत्यन्त दयनीय हो गई। इसका उल्लेख अनेक विद्वानों द्वारा किया गया है। श्री अंजरिया ने ''पोल्टिकल ऑब्लीगेशन इन दा हिन्दू स्टेट' में शूद्रों की स्थिति को जानवरों के समान बताया।

यद्यपि सिद्धान्त की दृष्टि से आचार्य मनु ने शूद्रों को परिवार के सदस्यों की संख्या के आधार पर वेतन देने (10/124) स्वामी द्वारा सेवक को भोजन कराकर स्वयं करने (3/116) तथा भोजन के समय आए शूद्र को भी अतिथि मानकर पूज्य भाव रखने (3/112) का विधान किया, किन्तु सम्भवत: व्यवहार में इनका पालन इतना नहीं किया जाता था।

(आ) आश्रमव्यवस्था—मनुष्य की आयु सौ वर्ष मानते हुए आचार्य मनु ने वर्णव्यवस्था के समान ही पुरुषार्थ चतुष्ट्य की प्राप्ति की दृष्टि से आश्रमव्यवस्था का उल्लेख किया। तदनुसार व्यक्ति को उपनयन संस्कार से लेकर 25 वर्ष तक ब्रह्मचर्य आश्रम का पालन करना चाहिए तथा गुरु के आश्रम में रहकर विद्या अध्ययन करना तथा अपने आचार्यों की सेवा करना ही इस आश्रम में मुख्य कार्य था। जीवन का यह समय वस्तुत: निर्माणकाल कहा जा सकता है। आचार व्यवहार की शिक्षा उसे इसी आश्रम में प्रदान की जाती है। पचास वर्ष की आयु तक गृहस्थाश्रम का समय माना गया। विद्या अध्ययन के पश्चात् विवाह करके व्यक्ति सन्तानोत्पत्ति के द्वारा सृष्टिक्रिया में महत्त्वपूर्ण योगदान प्रदान करता है।

50 वर्ष तक गृहस्थाश्रम का पालन करने के बाद व्यक्ति गृहस्थ का दायित्व अपने पुत्र पर छोड़कर पत्नी सहित वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश करता है। वहाँ वह पञ्चमहायज्ञों को निष्पादित करता हुआ ईश्वर चिन्तन से आध्यात्मिक उन्नति करता है। यहाँ वह सांसारिक

भोगों का पूर्णतया परित्याग कर देता है एवं नींवार, कन्द, मूल आदि का सेवन करके अपना शरीर साधन करता है। 25 वर्ष तक इस आश्रम का सेवन करने के बाद 75 वर्ष की आयु में रागद्वेषादि पर विजय प्राप्त करने के पश्चात् व्यक्ति सन्यास आश्रम में प्रवेश करता है।

सन्यास आश्रम में प्रवेश से पूर्व व्यक्ति का देव, पितृ और ऋषि इन तीनों ऋणों से पूर्णतया मुक्त होना अनिवार्य माना गया है, किन्तु आचार्य मनु ने एक स्थल पर (6/59) पुत्र को गृहस्थ के दायित्व सौंपने के पश्चात् उदासीनभाव से घर में रहकर भी ब्रह्मचिन्तन यदि किया जाए तो व्यक्ति को सन्यासी कहा गया है। अतः सन्यासी के लिए गृहत्याग भी अनिवार्य नहीं है। (4/257-258)। वस्तुतः वर्णव्यवस्था जहाँ समाज को व्यवस्थित एवं मर्यादित रखने में सहायक है, वहीं आश्रम व्यवस्था से मनुष्य का सर्वांगीण विकास होता है तथा वह इस लोक के सुख भोगकर मोक्ष प्राप्त करता है। अर्थात् आश्रमव्यवस्था व्यक्ति को पुरुषार्थ चतुष्ट्य की प्राप्ति कराने में सहायक है।

(ञ) मनुस्मृति में वर्णित राजनैतिक व्यवस्था—मनुस्मृतिकार राजा की दैवी उत्पत्ति के सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं। तदनुसार परमात्मा ने राजा का निर्माण करते समय इन्द्र, वायु, यम, सूर्य, चन्द्रमा, वरुण और कुबेर आदि देवों के अंशों को ग्रहण किया, इसीलिए उसमें इनके गुण एवं प्रभाव के दर्शन होते हैं। मनु के अनुसार राजा बालक ही क्यों न हो, सभी को उसकी आज्ञा का पालन करना चाहिए।

राजा को वेदविद् विद्वान् ब्राह्मणों का आदर करना चाहिए तथा उनके प्रति विनम्रतापूर्वक व्यवहार करना चाहिए, क्योंकि वेन, नहुष, नेमि आदि के समान अविनय उन्हें नष्ट कर डालती है। इसके अतिरिक्त राजा को राजनीति में काम आने वाली विद्या-आन्वीक्षिकी त्रयी, वार्ता और दण्डनीति का गहन अध्ययन वेदज्ञ विद्वानों एवं राजनीति कुशल गुरूओं से करना चाहिए। इतना ही नहीं उसे काम, क्रोध, लोभ, मोह से सदैव दूर रहना चाहिए। उसे मदिरा-पान एवं जुए जैसे व्यसनों से सदैव दूर रहना चाहिए। आचार्य मनु ने दुर्व्यसन एवं मृत्यु में से व्यसन को अधिक कष्टकारी बताया है। (7/43-52)।

राजा को ब्राह्मणों की सेवा एवं उनके आदेशों की पालना सदैव करनी चाहिए, साथ ही विभिन्न देवों से उत्पन्न होने के कारण इन्द्र के समान प्रजा के लिए सुख-सुविधाओं की वर्षा, सूर्य की किरणों के समान अल्पाल्प मात्रा में करग्रहण, वायु के समान गुप्तचरों के माध्यम से सर्वत्रगति, यम के समान पक्षपात से रहित न्याय, तथा वरुण के समान पापियों, अपराधियों का विनाश करने के लिए सदैव तैयार रहना चाहिए। (मनु. 9/304-309)।

राजा का कर्तव्य है कि वह रात्रि के अन्तिम प्रहर में निद्रा का परित्याग करके अग्निहोत्र एवं ब्राह्मणादि की पूजा करे तथा सभागार में आए प्रजाजनों के साथ प्रसन्नतापूर्वक वार्तालाप करे। तत्पश्चात् अपने मन्त्रियों के साथ राजनीति के विभिन्न अंगों पर विचार-विमर्श करे। राजा के लिए रात और दिन सदा चौकन्ना रहना चाहिए। मन्त्रियों से कार्यों में सहयोग

अवश्य ले, किन्तु उनके ऊपर अन्धविश्वास कभी न करे। केवल रुग्णावस्था में ही राजा अपने कार्य मन्त्रियों एवं सेवकों पर छोड़ सकता है।

राजकार्यों के भलीप्रकार सम्पादन हेतु योग्य सचिवों की नियुक्ति की भी आचार्य मनु ने व्यवस्था की है। उनके अनुसार राजा कम से कम सात या आठ योग्य सचिवों की नियुक्ति अवश्य करे, जिससे उसकी कार्य कुशलता में वृद्धि हो सके—

सचिवान् सप्त चाष्टौ वा प्रकुर्वीत परीक्षितान्।। (7/54)

सचिवों के गुणों का उल्लेख भी उन्होंने इसी श्लोक में करते हुए कहा कि शास्त्रवित्, बलवान्, लक्ष्य सिद्ध करने में निपुण एवं उच्च कुल में उत्पन्न होना सचिवों की अनिवार्य योग्यता है।

आचार्य मनु के अनुसार राजा को राज्य के प्रत्येक विषय के सम्बन्ध में उचित अवसर एवं स्थान पर मन्त्रणा करना आवश्यक है, साथ ही मन्त्रणा का गुप्त रहना भी उतना ही अनिवार्य है। उन्होंने मन्त्रणा के लिए उचित स्थानों में पर्वत की चोटी, महल का एकान्त भाग अथवा निर्जन वन को माना है, क्योंकि इन स्थलों पर मन्त्रणा गुप्त बनी रहती है। मन्त्रणा की गोपनीयता के अभाव में शक्तिशाली राजा भी नष्ट हो जाता है। आचार्य मनु ने मन्त्रणा के विषयों का विस्तार से उल्लेख किया है। उनके अनुसार गुप्तचरों की चेष्टाएँ, अष्टविधकर्म, पञ्चवर्ग, राजमण्डल का प्रचार, मध्यम, उदासीन एवं शत्रु का प्रचार विजिगीषु की चेष्टा एवं षड्गुण आदि विषय मन्त्रणा के योग्य हैं।

मनु राज्य में अन्य अधिकारियों के समान धर्मकार्यों को निष्पादित करने हेतु, राज्य संचालन में सहयोग करने के लिए पुरोहित की नियुक्ति पर विशेष बल प्रदान करते हैं। इसके अतिरिक्त अन्य राष्ट्रों के साथ श्रेष्ठ सम्बन्ध बनाने एवं बनाए रखने के लिए योग्य दूत की भी अनिवार्यता प्रतिपादित की गई है। उनके अनुसार—दूत का कर्त्तव्य है कि शत्रु के राजकार्यों एवं उनके सेवकों की गतिविधियों को भली प्रकार जानकर उन्हें अपने वश में कर ले। (7/65-67)। उसकी महत्त्वपूर्ण विशेषता शुद्ध हृदय, चतुर एवं उच्च कुल में उत्पन्न होना है।

इसके अतिरिक्त आचार्य मनु राज्य की स्थिरता के लिए गुप्तचरों की अनिवार्यता भी प्रतिपादित करते हैं। यहाँ इन्हें राजा का नेत्र कहा गया है। जिनके द्वारा राजा सम्पूर्ण राज्य में सभी गतिविधियों पर नजर रखता है। इनका मुख्य कार्य प्रजा एवं राज्य के कर्मचारियों के षड्यन्त्रों का पता लगाना है। कार्य एवं व्यवहार की दृष्टि से गुप्तचर पाँच प्रकार के कहे गए हैं। (1) कापटिक (2) उदासीन (3) गृहपति, (4) वैदेहक (5) तापस, नाम के अनुसार ही वेषधारण करके ये गुप्त बातों का पता लगाते हैं।

मनुस्मृति में राज्य की आय के साधनों के सम्बन्ध में भी विस्तार से विचार किया गया है। यहाँ कर, कृषि की आय का षष्ठ अंश, दण्ड से प्राप्त धन तथा व्यापारियों

से लिया गया शुल्क इन्हें राजा की आय के साधन कहा है। उन्होंने राजा को प्रजा से केवल इतना टैक्स वसूलने के लिए कहा है जिससे प्रजा को किसी प्रकार का कष्ट न हो। अन्यथा राजा स्वयं भी नष्ट हो जाता है।

मनु के अनुसार राजा के समान ही दण्ड की सृष्टि भी परमात्मा द्वारा की गई है। अत: न्यायव्यवस्था बनाए रखने के लिए राजा को दण्ड अवश्य देना चाहिए। उनके अनुसार राजा को देश, काल, शक्ति आदि को ध्यान में रखकर अपराध की प्रकृति एवं अपराधी के अनुसार दण्ड निर्धारण करना चाहिए। इसके अभाव में प्रजा उच्छृंखल हो जाती है।

मनुस्मृति के सातवें अध्याय में दण्ड के विषय में विस्तार से चर्चा की गई है। वहाँ उन्होंने दण्ड की अनिवार्यता प्रतिपादित की है।

स राजा पुरुषो दण्ड स नेता शासिता च सः।
चतुर्णामाश्रमाणां च धर्मस्य प्रतिभूः स्मृतः॥ (7/17)

अत: राजा को सदा ही दण्ड का उचित प्रयोग करना चाहिए। इससे राजा समृद्धि को प्राप्त करता है। यहाँ उन्होंने दण्ड के चार प्रकारों का उल्लेख किया है (1) वाक्दण्ड (2) धिक्दण्ड (3) धनदण्ड (4) वधदण्ड, उनके अनुसार इनमें से एक, एकाधिक अथवा चारों का ही एक साथ प्रयोग भी सम्भव है।

न्याय-व्यवस्था की चर्चा करते हुए मनु ने इसकी निष्पक्षता की अनिवार्यता भी प्रतिपादित की है। विवादास्पद मामलों में विचार हेतु राजा को पहले ब्राह्मण की नियुक्ति करनी चाहिए। न्यायागार में अन्य तीन सदस्यों के साथ जाकर उसे विवादों के सम्बन्ध में विचार-विमर्श करके निपटारा करना चाहिए। गलत निर्णय देने पर ब्राह्मण न्यायाधीश के अधर्म शल्य से पीडित होकर नष्ट होने की बात भी आचार्य मनु करते हैं। उन्होंने न्यायाधीश एवं सदस्यों के ब्राह्मण होने तथा वादी-प्रतिवादी के मनोभावों को समझने की सामर्थ्य से युक्त होने की बात का भी कथन किया।

प्रशासन की दृष्टि से राज्य को विभक्त करने का भी आचार्य मनु उल्लेख करते हैं। इस दृष्टि से गाँव सबसे छोटी इकाई है। जिसे ग्रामिक देखता था। उसका कर्तव्य गाँव में सुविधाओं का ध्यान रखना एवं शान्ति बनाए रखना था। 10, 20, 100 एवं हजार गाँवों के ऊपर एक-एक रक्षक की नियुक्ति की जाती थी। इन सभी के ऊपर एक मन्त्री होता था, जो सभी व्यवस्थाओं को देखता था। ग्रामरक्षकों को गाँवों की आय के कुछ भाग का उपभोग करने का अधिकार प्रदान किया गया था।

मनुस्मृति में युद्ध के नियमों का भी उल्लेख किया गया है। इसके अनुसार सोए हुए, कवच से रहित, नग्न, शस्त्ररहित एवं युद्ध के दर्शक को नहीं मारना चाहिए। इसके अतिरिक्त नपुंसक, हार स्वीकार करने वाले एवं शरणागत का वध भी नहीं करना चाहिए। यहाँ युद्ध में गुप्त, तीक्ष्ण शस्त्र आदि कूटशस्त्रों, विष से बुझे हथियारों आग्नेयास्त्रों के

प्रयोग का निषेध किया गया है। इसके अतिरिक्त जो व्यक्ति अपने शस्त्र टूटने के कारण दुःखी हो, पुत्रादि के शोक से व्याकुल हो, घायल हो, भयभीत होकर युद्ध से विमुख हो गया हो, उसे भी युद्ध में नहीं मारना चाहिए।

इस प्रकार आचार्य मनु ने मनुस्मृति में राजनीतिक दृष्टि से विस्तार पूर्वक इसके अंगों पर चर्चा की है। इस कारण प्रथम दृष्ट्या तो यह ग्रन्थ कौटिल्य के अर्थशास्त्र के समान राजनीति का ही प्रतीत होता है। पुनरपि यह ग्रन्थ तात्कालिक सामाजिक, राजनैतिक परिस्थितियों को जानने के लिए महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है।

(ट) मनुस्मृति में वर्णित संस्कार—यद्यपि मनुस्मृति में सभी सोलह संस्कारों का स्पष्टतया उल्लेख नहीं हुआ है, फिर भी उन्होंने गर्भाधान से लेकर श्मशान पर्यन्त संस्कारित वर्ण के व्यक्ति को ही इस शास्त्र के लिए अधिकृत करने के पश्चात् (2/16) जिन संस्कारों का कथन किया है, उनका हम यहाँ संक्षेप में उल्लेख कर रहे हैं—

गर्भाधान संस्कार—मनुस्मृति के तृतीय अध्याय में मासिक धर्म से 16 दिन के पश्चात् गर्भाधान संस्कार का विधान किया है। इनमें भी प्रथम चार, तेरहवीं और सोलहवीं रात्रियाँ सम्भोग के लिए त्याज्य मानी जाती हैं, किन्तु युगल रात्रियों में पत्नी के साथ संभोग के परिणामस्वरूप पुत्र संतति की प्राप्ति तथा अयुग्म रात्रियों में रतिक्रिया से कन्या सन्तान की प्राप्ति होती है। (मनुस्मृति 3/46-48)

जातकर्म संस्कार—शिशु के जन्म के बाद नाभिच्छेदन से पहले जातकर्म संस्कार किया जाता है। इसके लिए पिता सोने की सलाई से पुत्र की जिह्वा पर मन्त्रोच्चारण पूर्वक मधु मिश्रित घी चटाता है तथा ओउम् शब्द लिखता है—

प्राङ् नाभिवर्धनात्पुंसो जातकर्म विधीयते।
मन्त्रवत्प्राशनं चास्य हिरण्यमधुसर्पिषाम्॥ (2/29)

नामकरण संस्कार—जन्म से दसवें अथवा बारहवें दिन शुभ तिथि, मुहूर्त एवं नक्षत्र में नामकरण संस्कार किया जाता है। नामकरण के समय आचार्य मनु ने कुछ नियमों का उल्लेख किया है—ब्राह्मण का नाम मांगलिक, शर्मशब्द युक्त, क्षत्रिय का बल युक्त एवं वैश्य का धन, ऐश्वर्य की अभिव्यक्ति करने वाला एवं शूद्र का निन्दा सूचक होना चाहिए।

शर्मवद् ब्राह्मणस्य स्याद् राज्ञो रक्षा समन्वितम्।
वैश्यस्य पुष्टिसंयुक्तं शूद्रस्य प्रेष्यसंयुतम्॥ (2/32)

निष्क्रमण संस्कार—शिशु के जन्म से चौथे माह में घर से बाहर निकाल कर सूर्य दर्शन कराया जाता है। यह वेदोक्त रीति से सम्पन्न होता है।

चतुर्थे मासि कर्तव्यं शिशो निष्क्रमणं गृहात्। (2/34)

अन्नप्राशन संस्कार—आचार्य मनु के अनुसार यह संस्कार षष्ठ माह में किया जाता है। कुल परम्परा अथवा सुविधा की दृष्टि से समय में परिवर्तन भी सम्भव है—

षष्ठेऽन्नप्राशनं मासि यद्वेष्टं मङ्गलं कुले। (2/34)

चूड़ाकर्म संस्कार—द्विज कुलोत्पन्न बालकों के वैदिक मन्त्रों के साथ जन्म से पहले या तीसरे वर्ष में चूड़ाकर्म (शिखाबन्धन) संस्कार का विधान किया गया है—

चूडाकर्म द्विजातीनां सर्वेषामेव धर्मतः।
प्रथमेऽब्दे तृतीये वा कर्तव्यं श्रुति चोदनात्॥ (2/35)

उपनयन संस्कार—आचार्य मनु ने इसे 'उपनायन' शब्द से कहा है। यह संस्कार ब्राह्मण बालक का गर्भ से आठवें वर्ष में, क्षत्रिय बालक का 11वें वर्ष में, वैश्य का बारहवें में किया जाता है, किन्तु यदि तत्तत् वर्ण के बालक में तत्तत् गुणों की उत्कृष्टता अभिप्रेत हो तो यह संस्कार क्रमशः 5वें, छठे और 8वें वर्ष में किया जाना चाहिए—

ब्रह्मवर्चसकामस्य कार्यं विप्रस्य पञ्चमे।
राज्ञो बलार्थिनः षष्ठे वैश्यस्येहार्थिनोऽष्टमे॥ (2/36)

केशान्त संस्कार—ब्रह्मचर्य अवस्था में रखे गए केशों का छेदन संस्कार ब्राह्मण बालक का गर्भ से 16वें वर्ष में, क्षत्रिय का 22वें वर्ष में तथा वैश्य का 24वें वर्ष में धर्मशास्त्रीय विधि के द्वारा किये जाने का उल्लेख है—

केशान्तः षोडशे वर्षे ब्राह्मणस्य विधीयते।
राजन्यबन्धो द्वाविंशे वैश्यस्य द्व्यधिके ततः॥ (2/65)

समावर्तन संस्कार—अध्ययन पूर्ण करने के पश्चात् गुरु के घर से वापस लौटते समय किए जाने वाले संस्कार को 'समावर्तन' कहते हैं। कुछ के मत में यह स्नान संस्कार ही है। आचार्य मनु ने दोनों ही नामों को स्वीकार किया है। उनके अनुसार, इस संस्कार के पश्चात् ब्रह्मचारी का विवाह कर देना चाहिए, किन्तु जब तक उसका विवाह नहीं होता वह स्नातक कहा जाता है।

गुरुणानुमतः स्नात्वा समावृत्तो यथा विधिः॥ (3/4)

विवाह संस्कार—विद्या पूर्ण करने एवं समावर्तन संस्कार के तुरन्त पश्चात् विवाह संस्कार का विधान किया गया है। इस संस्कार की आयु 25 वर्ष के बाद ही मानी गई है। आचार्य मनु ने इसे आयु के दूसरे भाग में करने का निर्देश किया है। कन्या गुरु की आज्ञा से अपने वर्ण की शुभ लक्षणा होनी चाहिए।

द्वितीयमायुषो भागं कृतदारो गृहे वसेत्। (4/1)

यह संस्कार हमारे समाज में आज भी धूमधाम के साथ सभी वर्णों में प्रायः वैदिक रीति से मन्त्रोच्चारणपूर्वक कराया जाता है।

अन्त्येष्टि संस्कार—जीवन परित्याग के पश्चात् मृत शरीर का संस्कार 'अन्त्येष्टि' कहलाता है। मृत शरीर को स्नान कराकर, सुगन्धित द्रव्यों का लेप करके श्मशान में ले जाते हैं। जहाँ चिता कर रखकर उसे जलाया जाता है। बाद में दस दिन तक शास्त्र विहित रीति से वैदिक कार्य सम्पन्न किए जाते हैं।

किन्तु दो वर्ष से कम की अवस्था वाले बालकों का दाहसंस्कार नहीं किया जाता है। बालक के दाँत निकलने पर दाहक्रिया को वैकल्पिक माना गया है। मनुस्मृति के पञ्चम अध्याय में मृत्यु से होने वाले अशौच का विस्तृत उल्लेख हुआ है।

आचार्य मनु ने स्त्रियों के संस्कार वेदमन्त्रों के बिना ही करने का उल्लेख किया है, इनके केवल विवाह संस्कार ही मन्त्रपूर्वक किए जाते हैं। शूद्र के संस्कार न किए जाने का भी मनु ने कथन किया है।

अमन्त्रिका तु कार्येयं स्त्रीणामावृदशेषतः।
संस्कारार्थे शरीरस्य यथाकालं यथाक्रमम्॥ (2/66)

(ठ) मनुस्मृति द्वितीय अध्याय के प्रमुख विषय—मनुस्मृति द्वितीय अध्याय में ग्रन्थकार ने 249 श्लोकों के अन्तर्गत प्रमुख रूप से धर्म का लक्षण साधन, द्विजातियों के संस्कार, भोजन के नियम, प्रणव, व्याहृति एवं सावित्री की उत्पत्ति, अभिवादन के प्रकार, ब्रह्मचारी के कर्तव्य आदि विषयों का प्रमुख रूप से वर्णन किया है। जिनका हम यहाँ संक्षेप में कथन कर रहे हैं—

1. धर्म का लक्षण—रागद्वेष से रहित सज्जन वेदवित् विद्वानों द्वारा जिसका पालन किया जाता है तथा अपने हृदय के द्वारा जिसका भलीप्रकार अनुमोदन किया गया है वही धर्म है—

विद्वद्भिः सेवितः सद्भिर्नित्यमद्वेषरागिभिः।
हृदयेनाभ्यनुज्ञातो यो धर्मस्तं निबोधत॥ (2/1)

2. धर्म के साधन—सम्पूर्ण वेद, वेदज्ञों द्वारा विरचित स्मृतियाँ, उनका आचरण सज्जनों का व्यवहार एवं स्वयं के मन की सन्तुष्टि ये सभी धर्म के मूल आधार हैं—

वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम्।
आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च॥ (2/6)

3. ब्रह्मावर्त—धर्म की दृष्टि से सर्वश्रेष्ठ स्थानों में ब्रह्मावर्त का सर्वोच्च स्थान है। यह सरस्वती एवं दृषद्वती देव नदियों के बीच देवताओं के द्वारा निर्मित प्रदेश है—

सरस्वती दृषद्वत्यो र्देवनद्यो र्यदन्तरम्।
तं देवनिर्मितं देशं ब्रह्मावर्तं प्रचक्षते॥ (2/17)

4. ब्रह्मर्षि देश—ब्रह्मावर्त की अपेक्षा कम महत्त्व के, कुरुक्षेत्र, पाञ्चाल, मत्स्यदेश तथा शूरसेनक ये चार ब्रह्मर्षि देश के नाम से जाने जाते हैं—

कुरुक्षेत्रं च मत्स्याश्च पाञ्चालाः शूरसेनकाः।
एष ब्रह्मर्षि देशो वै ब्रह्मावर्तादनन्तरः॥ (2/19)

5. मध्य देश—हिमालय और विन्ध्य पर्वतों के बीच विनशन नामक स्थान से पूर्व दिशा की ओर तथा प्रयाग से पश्चिम की ओर स्थित स्थान मध्यदेश कहलाता है—

हिमवद्विन्ध्योर्मध्यं यत्प्राग्विनशनादपि।
प्रत्यगेव प्रयागाच्च मध्यदेशः प्रकीर्तितः॥ (2/21)

6. आर्यावर्त—हिमालय और विन्ध्य पर्वतों के बीच पूर्व समुद्र से लेकर पश्चिम समुद्र तक का विस्तृत भूभाग आर्यावर्त के नाम से जाना जाता है। ये प्रदेश धर्म की दृष्टि से अग्रणी हैं। अतः द्विजातियों को प्रयासपूर्वक इन्हीं प्रदेशों में निवास करना चाहिए—

आसमुद्रात्तु वै पूर्वादासमुद्रात्तु पश्चिमात्।
तयोरेवान्तरं गिर्योरार्यावर्तं विदुर्बुधाः॥ (2/22)

7. संस्कार—आचार्य मनु ने सभी सोलह संस्कारों का मनुस्मृति में उल्लेख नहीं किया है। जिनका कथन किया है, उनका संक्षेप में हम उल्लेख कर चुके हैं। यहाँ केवल संस्कारों का उद्देश्य बताना पर्याप्त होगा। आचार्य मनु, माता-पिता के बैजिक और गार्भिक दोषों की शुद्धि ही इनका उद्देश्य मानते हैं—

गार्भै होमै र्जातकर्म-चौड-मौञ्जी-निबन्धनैः।
बैजिकं गार्भिकं चैनो द्विजानामपमृज्यते॥ (2/27)

आचार्य मनु संस्कारों की व्यवस्था केवल द्विजातियों ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य के लिए ही करते हैं। शूद्र के लिए उनकी दृष्टि में संस्कारों की आवश्यकता नहीं है। "न शूद्रे पातकं किञ्चिन्न च संस्कारमर्हति।" (10/126) साथ ही स्त्री के संस्कारों का भी मनु वैदिक मन्त्रों के साथ निषेध करते हैं—

अमन्त्रिका तु कार्येयं स्त्रीणामावृत शेषतः।
संस्कारार्थं शरीरस्य यथाकालं यथाक्रमम्॥ (2/66)

8. व्रात्य—यदि ब्राह्मण बालक का सोलहवें वर्ष तक, क्षत्रिय बालक का बाईसवें वर्ष तक एवं वैश्य के बालक का चौबीसवें वर्ष की आयु होने तक भी उपनयन संस्कार नहीं किया जाता है तो वह सावित्री से पतित होकर व्रात्य हो जाता है। इनके साथ आचार्य मनु ने आपात्तिकाल में भी ब्राह्म (अध्ययन, अध्यापन सम्बन्धी) तथा यौन (विवाह) सम्बन्ध का निषेध किया है (2/40)।

अत ऊर्ध्वं त्रयोऽप्येते यथाकालमसंस्कृताः।
सावित्रीपतिता व्रात्या भवन्त्यार्यविगर्हिताः॥ (2/39)

9. **भोजन के नियम**—भिक्षा में प्राप्त अन्न को शुद्धभाव से गुरु को निवेदन करके पूर्व दिशा की ओर मुख करके भोजन करना चाहिए। भोजन करने से पूर्व तथा भोजन के बाद आचमन करना चाहिए। अन्न का पूजन करके प्रसन्नतापूर्वक भोजन करना चाहिए। पूजा किया गया अन्न, बल और तेज प्रदान करता है। कभी भी झूठा भोजन किसी को नहीं खिलाना चाहिए। न ही अधिक खाना चाहिए। झूठे मुख कही जाना भी नहीं चाहिए।

नोच्छिष्टं कस्यचिद् दद्यान्नाद्याच्चैव तथान्तरा।
न चैवात्यशनं कुर्यान्न चोच्छिष्टः क्वचिद् व्रजेत्॥ (2/56)

10. **विविध तीर्थ**—आचमन के सम्बन्ध में नियमों का उल्लेख करते हुए मनु ने विविध तीर्थों का उल्लेख किया है। उनके अनुसार—ब्राह्मण को ब्रह्म तीर्थ से, आचमन करना चाहिए। अपने दाहिने हाथ में अंगूठे के मूल के नीचे ब्रह्मतीर्थ, कनिष्ठिका अंगुलि के नीचे कायतीर्थ, अग्रभाग में देवतीर्थ और दोनों के मध्य में पितृतीर्थ होता है—

अंगुष्ठमूलस्य तले ब्राह्मं तीर्थं प्रचक्षते।
कायमङ्गुलिमूलेऽग्रे दैवं पित्र्यं तयोरधः॥ (2/59)

11. **उपवीती, आवीती, निवीती**—यज्ञोपवीत को विविध प्रकार से धारण करने का उल्लेख किया गया है। इसी प्रसंग में मनु ने दायें हाथ के नीचे जनेऊ रहने पर द्विज को 'उपवीती', बाएँ हाथ के नीचे रहने पर 'प्राचीन आवीती' तथा कण्ठ में लटकते रहने पर '**निवीती**' कहा है। इस प्रकार ये तीनों परिभाषिक शब्द है—

उद्धृते दक्षिणे पाणावुपवीत्युच्यते द्विजः।
सव्ये प्राचीन आवीती निवीती कण्ठसज्जने॥ (2/63)

12. **चरणस्पर्श की विधि**—वेद का अध्ययन आरम्भ करने एवं अध्ययन समाप्त करने पर गुरु के दोनों चरणों का स्पर्श करना चाहिए। यह चरण-स्पर्श सीधे हाथ से सीधा, उल्टे हाथ से उल्टे चरण का स्पर्श किया जाता है—

व्यत्यस्तपाणिना कार्यमुपसंग्रहणं गुरोः।
सव्येन सव्यः स्प्रष्टव्यो दक्षिणेन च दक्षिणः॥ (2/62)

13. **ब्रह्माञ्जलिः**—वेदाध्ययन करते समय ब्रह्मचारी गुरु के सामने हाथ जोड़कर बैठता है, इसी को ब्रह्माञ्जलि कहते हैं—

संहत्य हस्तावध्येयं स हि ब्रह्माञ्जलिः स्मृतः। (2/71)

14. सावित्री की वेदमुखता—ओंकार के साथ कभी नष्ट न होने वाली तीनों महाव्याहृतियों (भूः, भुवः और स्वः) तथा त्रिपदा सावित्री को वेद का मुख कहा गया है —

ओंकारपूर्विकास्तिस्रो महाव्याहृतयोऽव्ययाः।
त्रिपदा चैव सावित्री विज्ञेयं ब्रह्मणो मुखम्॥ (2/81)

15. ब्रह्मचारी के कर्तव्य—सदैव गुरु से पहले रात्रि के अन्तिम प्रहर में उठना, गुरु के बाद सोना, यज्ञ करना, प्रातः एवं सन्ध्याकालीन संध्या करना, सावित्री का जप करना, शास्त्रसम्मत वेषभूषा में भिक्षा माँगकर लाना, गुरु की आज्ञा से भोजन करना, भूमि पर सोना, ये ही ब्रह्मचारी के कर्तव्य कहे गए हैं—

अग्नीन्धनं भैक्षचर्यामधः शय्यां गुरोर्हितम्।
आ समावर्तनात्कुर्यात् कृतोपनयनो द्विजः॥ (2/108)

16. आचार्य उपाध्याय, गुरु के लक्षण—जो ब्राह्मण शिष्य का उपनयन संस्कार करके उसे यज्ञविद्या सहित उपनिषद् विद्या के साथ वेदों का अध्यापन करे, उसे आचार्य कहते हैं—

उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद् द्विजः।
सकल्पं सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते॥ (2/140)

किन्तु जो वेतन आदि के लिए वेद का एक अंश तथा वेदांगों का अध्यापन करता है। उसे उपाध्याय कहते हैं—

एकदेशं तु वेदस्य वेदाङ्गान्यपि वा पुनः।
योऽध्यापयति वृत्त्यर्थमुपाध्यायः स उच्यते॥ (2/141)

इसके अतिरिक्त जो गर्भाधान आदि संस्कारों को नियम के अनुसार करता है तथा अन्नादि के द्वारा उसका पालन करता है, उसे गुरु कहते हैं—

निषेकादीनि कर्माणि यः करोति यथा विधिः।
सम्भावयति चान्नेन स विप्रो गुरुरुच्यते॥ (2/142)

17. वृद्ध की परिभाषा—व्यक्ति बाल सफेद होने से वृद्ध नहीं होता, अपितु युवा होते हुए भी जिसने वेदादिशास्त्रों का अध्ययन किया है, उसे देवताओं के द्वारा भी स्थविर अर्थात् वृद्ध कहा गया है।

न तेन वृद्धो भवति येनास्य पलितं शिरः।
यो वै युवाप्यधीयानस्तं देवाः स्थविरं विदुः॥ (2/156)

18. ब्राह्मण को वेदाध्ययन की अनिवार्यता—ब्राह्मण को सदा ही अपना समय एवं परिश्रम वेद के अध्ययन में लगाना चाहिए। इसके अभाव में वह वंश सहित शूद्र ही हो जाता है—

योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम्।
स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः॥ (2/168)

19. गुरु की सेवा का महत्त्व—जिस प्रकार कुदाली से खोदता हुआ व्यक्ति सहज ही पानी प्राप्त कर लेता है, ठीक उसी प्रकार सेवा करने वाला शिष्य, गुरु की विद्या को सरलता से प्राप्त कर लेता है—

यथा खन्खनित्रेण नरो वार्यधिगच्छति।
तथा गुरुगतां विद्यां शुश्रूषुराधिगच्छति॥ (2/218)

20. आचार्य मातापिता की महत्ता—आचार्य ब्रह्म कीं मूर्ति है, पिता प्रजापति की मूर्ति है। माता पृथिवी की मूर्ति और भाई स्वयं अपना ही शरीर है। अतः सदैव इनका आदर करना चाहिए—

आचार्यो ब्रह्मणो मूर्तिः पिता मूर्तिः प्रजापतेः।
माता पृथिव्याः मूर्तिस्तु भ्राता स्वो मूर्तिरात्मनः॥ (2/226)

21. ब्रह्मचर्य का महत्त्व—अखण्ड ब्रह्मचर्य के पालन से व्यक्ति को मोक्ष की प्राप्ति होती है—

एवं चरति यो विप्रो ब्रह्मचर्यमविप्लुतः।
स गच्छत्युत्तमस्थानं न चेहाजायते पुनः॥ (2/249)

॥ श्रीः ॥

अथ द्वितीयोऽध्यायः

मनुस्मृति के प्रथम अध्याय में ग्रन्थकार ने सांख्यदर्शन के अनुसार विश्वसृष्टि का वर्णन प्रस्तुत करने के पश्चात्, चारों युगों के परिमाण, युगधर्म, गुण, कर्म, स्वभावादि का वर्णन किया। तदनन्तर द्वितीय अध्याय का प्रारम्भ ब्रह्म-प्राप्ति के साधन रूप तत्त्वों के निरूपण के लिए करते हुए, सर्वप्रथम धर्म की विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत करते हैं—

विद्वद्भिः सेवितः सद्भिर्नित्यमद्वेषरागिभिः।
हृदयेनाभ्यनुज्ञातो यो धर्मस्तं निबोधत॥ 1 ॥

अन्वय—विद्वद्भिः अद्वेषरागिभिः सद्भिः नित्यम् सेवितः, हृदयेन अभ्यनुज्ञातः यः धर्मः, तम् निबोधत॥ 1 ॥

अनुवाद—विद्वान्, रागद्वेष से रहित सज्जनों द्वारा सदैव पालन किया गया, हृदय के द्वारा भली प्रकार अनुमोदित, जो धर्म है, उसे पूर्णरूप से समझिए॥

'चन्द्रिका'—वेद के मर्म को जानने वाले विद्वानों के द्वारा, धार्मिक कार्यों में रुचि लेने वाले रागद्वेष से पूर्णतया रहित सज्जन लोगों के द्वारा जिसका सदा ही पालन किया जाए, साथ ही जिस कार्य को करने का हृदय प्रसन्नतापूर्वक अनुमोदन करे। वही कार्य धर्म की श्रेणी में आते हैं। उन्हीं को करने से व्यक्ति कल्याण की प्राप्ति करता है। अतः इस प्रकार के धर्म को जानने के लिए सदा ही प्रयासरत रहना चाहिए।

विशेष—1. सम्पूर्ण मनुस्मृति की भाषा अत्यन्त सरल, भावबोधगम्य, प्रसादगुण-युक्त एवं पौराणिक शैली से सम्पन्न प्रयुक्त हुई है।

2. 'विद्वद्भिः' का अर्थ कुल्लूक भट्ट ने 'वेदविद्भिः' किया है।

3. धर्म की परिभाषा करते हुए ग्रन्थकार ने उसकी तीन विशेषताओं का कथन किया है (क) वेदज्ञ विद्वानों एवं (ख) रागद्वेष की भावना से पूरी तरह ऊपर उठे सज्जनों द्वारा जिसका पालन किया जाए (ग) आपका हृदय जिसका तलस्पर्शी अनुमोदन करे वही धर्म है।

4. 'विद्वद्भिः' का अर्थ 'वेद, शास्त्रों का ज्ञान रखने वाले' ऐसा अर्थ करने पर धर्म के लक्षण में वेद की प्रधानता की अभिव्यञ्जना हो रही है।

5. हारीत ने भी धर्म की वेदमूलकता का अनुमोदन किया है।

अथातो धर्मं व्याख्यास्यामः। श्रुतिप्रमाणको धर्मः।

6. भविष्यपुराण में भी इसी भाव की अभिव्यक्ति हुई है—

धर्मः श्रेयः समुद्दिष्टं श्रेयोऽभ्युदयलक्षणम्।
स तु पञ्चविधो प्रोक्तो वेदमूलः सनातनः॥

7. मनुस्मृति के टीकाकार गोविन्दराज ने 'हृदयेनाभ्यनुज्ञातः' का अर्थ 'अन्तःकरण की शंका से पूर्णतया शून्य' किया है। अर्थात् जिस कार्य को करते हुए हृदय में लेशमात्र भी शंका, संदेह, हिचक न हो, वह उसका पूर्णतया अनुमोदन कर रहा हो, वही धर्म है।

किन्तु मेधातिथि ने यहाँ प्रयुक्त हृदय का अर्थ 'वेद' किया है। उनके मत में इसका अर्थ 'भावना रूप से हृदय में अर्थात् वेद में स्थित' करना उचित है।

9. सेवितः = √ सेव + क्त, सेवा किया गया।

10. अभ्यनुज्ञातः = अभि + अनु + √ ज्ञा + क्त, पूर्णतया अनुमोदित।

11. निबोधत = नि + √ बुध् + थ (लोट् लकार, मध्यम पुरुष, बहुवचन)

मन्वर्थमुक्तावली—प्रकृष्टपरमात्मज्ञानरूपधर्मज्ञानाय जगत्कारणं ब्रह्म प्रतिपाद्याधुना ब्रह्मज्ञानाङ्गभूतं संस्कारादिरूपं धर्मं प्रतिपिपादयिषुर्धर्मसामान्यलक्षणं प्रथममाह—विद्वद्भिरिति। विद्वद्भिर्वेदविद्भिःसद्भिर्धार्मिकै रागद्वेषशून्यैरनुष्ठितो हृदयेनाभिमुख्येन ज्ञात इत्यनेन श्रेयःसाधन-मभिहितम्। तत्रहि स्वरसान्मनोऽभिमुखीभवति। वेदविद्भिर्ज्ञात इति विशेषणोपादानसामर्थ्या-ज्ज्ञातस्य वेदस्यैव श्रेयःसाधनज्ञाने कारणत्वं विवक्षितम्। खड्गधारिणा हत इत्युक्ते धृतखड्गस्यैव हनने प्राधान्यम्। अतो वेदप्रमाणकः श्रेयः साधनं धर्म इत्युक्तम्। एवंविधो यो धर्मस्तं निबोधत। उक्तार्थसंग्रहश्लोकाः—'वेदविद्भिर्ज्ञात इति प्रयुञ्जानो विशेषणम्। वेदादेव परिज्ञातो धर्म इत्युक्तवान्मनुः॥ हृदयेनाभिमुख्येन ज्ञात इत्यपि निर्दिशन्। श्रेयः साधनमित्याह तत्र ह्यभिमुखं मनः॥ वेदप्रमाणकः श्रेयःसाधनं धर्म इत्यतः। मनूक्तमेव मुनयः प्रणिन्युर्धर्मलक्षणम्॥' अतएव हारीतः—'अथातो धर्मं व्याख्यास्यामः। श्रुतिप्रमाणको धर्मः। श्रुतिश्च द्विविधा वैदिकी तान्त्रिकी च।' भविष्यपुराणे—'धर्मः श्रेयः समुद्दिष्टं श्रेयोऽभ्युदयलक्षणम्। स तु पञ्चविधः प्रोक्तो वेदमूलः सनातनः॥ अस्य सम्यगनुष्ठानात्स्वर्गो मोक्षश्च जायते। इह लोके सुखैश्वर्यमतुलं च खगाधिप॥' श्रेयःसाधनमित्यर्थः। जैमिनिरपि इदमपि धर्मलक्षणमसूत्रयत्—'चोदनालक्षणोर्थो धर्मः' इति। उभयं चोदनया लक्ष्यते—अर्थः श्रेयःसाधनं ज्योतिष्टोमादिः, अनर्थः प्रत्यवायसाधनं श्येनादिः। तत्र वेदप्रमाणकं श्रेयःसाधनं ज्योतिष्टोमादिः धर्म इति सूत्रार्थः। स्मृत्यादयोऽपि वेदमूलत्वेनैव धर्मे प्रमाणमिति दर्शयिष्यामः। गोविन्दराजस्तु हृदयेनाभ्यनुज्ञात इत्यन्तःकरणवि-चिकित्साशून्य इति व्याख्यातवान्। तन्मते वेदविद्भिरनुष्ठितः संशयरहितश्च धर्म इति धर्मलक्षणं स्यात्। एवंच दृष्टार्थग्रामगमनादिसाधारणं धर्मलक्षणं विचक्षणा न श्रद्दधते। मेधातिथिस्तु हृदयेनाभ्यनुज्ञात इति यत्र चित्तं प्रवर्तयतीति व्याख्याय, अथवा हृदयं वेदः स ह्यधीतो भावनारूपेण हृदयस्थितो हृदयमित्युच्यत इत्युक्तवान्॥ 1॥

संसार में कामना का अस्तित्व होते हुए भी निष्कामभाव की प्रशंसा करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं—

कामात्मता न प्रशस्ता न चैवेहास्त्यकामता।
काम्यो हि वेदाधिगमः कर्मयोगश्च वैदिकः ॥ 2॥

अन्वय—कामात्मता प्रशस्ता न (अस्ति) च न एव इह अकामता अस्ति, हि वेदाधिगमः, वैदिकः कर्मयोगः च काम्यः (एव) ॥ 2॥

अनुवाद—स्वयं के लिए फल की अभिलाषा करना प्रशंसनीय नहीं (है।) और न ही इस संसार में कामना का अभाव है, क्योंकि वेदों का अध्ययन तथा वैदिक कर्मों का अनुष्ठान भी काम्य (ही हैं)।

'चन्द्रिका'—यद्यपि इस संसार में इच्छा न होना सम्भव नहीं है, क्योंकि व्यक्ति बिना इच्छा किए रह ही नहीं सकता। निष्क्रिय बैठे हुए व्यक्ति की इच्छा-शक्ति क्रियाशील रहती ही है, किन्तु अपने लिए फल की अभिलाषा की कामना करके किसी कार्य का करना किसी भी दृष्टि से प्रशंसनीय नहीं कहा जा सकता। अतः व्यक्ति को फल की इच्छा में आसक्ति रखे बिना अनासक्त-भाव से फल की कामना ही उचित है। इसके समर्थन में ग्रन्थकार ने श्लोक का उत्तरार्द्ध प्रस्तुत करते हुए कहा कि व्यक्ति ज्ञान प्राप्ति की कामना से वेदों का अध्ययन करता है। इसी प्रकार वह वेदों में कहे गये यज्ञादि का अनुष्ठान भी कामना के अभाव में नहीं करता है। अतः इस संसार में निष्काम कर्म करना किसी भी प्रकार सम्भव नहीं है। इसलिए ऐसी स्थिति में व्यक्ति को परमार्थ एवं अपनी आध्यात्मिक उन्नति के लिए ज्ञान प्राप्ति आदि की कामना अवश्य करनी चाहिए।

विशेष—1. कामात्मता = कामः आत्मनि यस्य सः कामात्मा, तस्य भावः कामात्मता। अथवा कामात्मनोभावः कामात्मता-कर्म फल के प्रति अभिलाषा करना।

2. अकामता = न कामता, इति (नञ् समास) अभाव अर्थ में। कामना का पूर्णतया अभाव।

3. फल की कामना करके कर्म करना, बन्धन का कारण है, इससे व्यक्ति जन्म-मरण के चक्र में पड़ता है। यहाँ तक कि स्वर्गादि की कामना से किये गए वैदिक कर्मानुष्ठान भी पुनर्जन्म के कारण बनते हैं। अतः निष्काम कर्म ही श्रेयष्कर है।

4. अधिगमः = अधि + √ गम् + घञ्, वेदस्य अधिगमः = वेदाधिगमः ज्ञान की प्राप्ति।

5. काम्यः = √ कम् + णिच् + यत् = वाञ्छनीय।

6. योग की परिभाषा गीता में इस प्रकार दी गई है—

योगस्थ कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योगमुच्यते॥ (2/48)

7. बूहलर ने कामात्मता का अभिप्राय—To act solely from a desire for rewards किया है।

8. **वैदिक:**—वेद + ठक्, वेदेषु विहित: = वेद सम्मत, वेद में बताया हुआ।

मन्वर्थमुक्तावली—कामात्मतेति॥ फलभिलाषशीलत्वं पुरुषस्य कामात्मता। सा न प्रशस्ता बन्धहेतुत्वात्। स्वर्गादिफलाभिलाषेण काम्यानि कर्माण्यनुष्ठीयमानानि पुनर्जन्मने कारणं भवन्ति। नित्यनैमित्तिकानि त्वात्मज्ञानसहकारितया मोक्षाय कल्पन्ते। न पुनरिच्छामात्रमनेन निषिध्यते। तदाह न चैवेहास्त्यकामतेति। यतो वेदस्वीकरणं वैदिकसकलधर्मसंबन्धश्चेच्छाविषय एव॥2॥

पुन: कामना की संकल्पमूलकता का कथन करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं—

संकल्पमूल: कामो वै यज्ञा: संकल्पसंभवा:।
व्रतानि यमधर्माश्च सर्वे संकल्पजा: स्मृता:॥3॥

अन्वय—काम: सङ्कल्पमूल: वै। यज्ञा: संकल्पसम्भवा:। व्रतानि यमधर्मा: च सर्वे सङ्कल्पजा: स्मृता:॥3॥

अनुवाद—कर्मफल की अभिलाषा का मूलकारण सङ्कल्प ही है। सभी श्रेष्ठ कर्म सङ्कल्प से उत्पन्न होते हैं। व्रत और यम-नियम सभी सङ्कल्प से ही उत्पन्न कहे गए हैं।

'चन्द्रिका'—व्यक्ति जब किसी भी फल — प्राप्ति की इच्छा करता है। इससे पूर्व वह अपने मन में उसका चिन्तन, कल्पना करता है, बस यही संकल्पना ही उसकी कामना फलप्राप्ति की भावना का मूल कारण है। वह अपने जीवन में जो भी श्रेष्ठ कर्म करता है, उन सब यज्ञ रूप कर्मों के मूल में (यज्ञो वै कर्म) भी सङ्कल्प ही कारण रहता है। अर्थात् संकल्प के अभाव में मनुष्य की किसी भी कर्म में प्रवृत्ति सम्भव नहीं है। सत्कार्य के लिए सत्संकल्प का होना आवश्यक है। इसलिए अहिंसा आदि व्रत, माँस भक्षणादि का निषेध रूप नियम, ब्रह्मचर्य-सत्य-अहिंसा-अस्तेय अपरिग्रह आदि यम तथा वेद सम्मत अनुष्ठानादि धर्म सभी विद्वानों द्वारा सत्संकल्प से ही उत्पन्न माने गए हैं।

विशेष—1. कार्य (कामना) से पूर्व परिकल्पना को स्वीकार किया गया। कामना और संकल्प ये दोनों मानसिक व्यापार होते हुए भी भिन्न हैं। निर्लिप्त भाव से प्रथम द्रष्टया संकल्प होता है, किन्तु जब व्यक्ति उसके साथ लाभ-हानि आदि को विचार कर कार्य का निश्चय करता है, वही कामना है।

2. कुल्लूक भट्ट ने 'इस कर्म से अभीष्टफल की सिद्धि होगी', इस प्रकार के मानसिक व्यापार को संकल्प कहा है।

3. अमरकोशकार मानसिक कर्म को संकल्प मानते हैं (संकल्प : कर्म मानसम्)।

4. कुल्लूक भट्ट ने नियम से अभिप्राय—मदिरापान, मांस भक्षणादि निषिद्ध कर्मों को न करने से लिया है—"व्रतैर्मधुमाँसवर्जनादि नियमै:।"

5. मेधातिथि मन के निश्चय को ही व्रत स्वीकार करते हैं—"मानसोऽध्यवसायो व्रतम्।"

6. महर्षि पतञ्जलि ने योगदर्शन में यम का उल्लेख इस प्रकार किया है—'अहिंसासत्यास्तेय ब्रह्मचर्य परिग्रहा: यमा:" (पातञ्जल योग 2/30)।

7. आचार्य मनु नित्य कर्मों को यम धर्म कहते हैं—

यमान्सेवते सततं न नित्यं नियमान्बुध:। (मनु: 4/204)

8. 'वै' निपात का प्रयोग 'निश्चय' अर्थ की अभिव्यक्ति के लिए हुआ है।

9. संकल्पजा: = संकल्पात् जायन्ते, इति। संकल्प से उत्पन्न।

10. स्मृता: = √ स्मृ + क्त = स्मृत: (बहुवचन) स्मृता:।

मन्वर्थमुक्तावली—अत्रोपपत्तिमाह—संकल्पमूल इति॥ अनेन कर्मणेदमिष्टं फलं साध्यत इत्येवंविषया बुद्धि: संकल्प:, तदनन्तरमिष्टसाधनतयावगते तस्मिन्निच्छा जायते, तदर्थं प्रयत्नं कुरुते चेत्येवं यज्ञा: संकल्पप्रभवा:, व्रतानि, यमरूपाश्च धर्माश्चतुर्थाध्याये वक्ष्यमाणा:। सर्व इत्यनेन पदेन अन्येऽपि शास्त्रार्था: संकल्पादेव जायन्ते। इच्छामन्तरेण तान्यपि न संभवन्तीत्यर्थ:। गोविन्दराजस्तु व्रतान्यनुष्ठेयरूपाणि यमधर्मा: प्रतिषेधार्थका इत्याह॥ 3॥

कामना के मूल में संकल्प ही सबसे बड़ा कारण है, इसी की पुष्टि करते हुए अग्रिम श्लोक का कथन करते हैं—

अकामस्य क्रिया काचिद्दृश्यते नेह कर्हिचित्।
यद्यद्धि कुरुते किंचित्तत्तत्कामस्य चेष्टितम्॥ 4॥

अन्वय—इह अकामस्य कर्हिचित् काचित् क्रिया न दृश्यते, हि (जन:) यत् यत् किञ्चित् कुरुते, तत् तत् कामस्य चेष्टितम्॥ 4॥

अनुवाद—इस संसार में इच्छा रहित व्यक्ति की कभी भी कोई भी क्रिया दिखायी नहीं देती है, क्योंकि (व्यक्ति) जो कुछ भी करता है, वह सब कामना की चेष्टा का ही परिणाम है।

'चन्द्रिका'—इस संसार में छोटी से छोटी बड़ी से बड़ी जो भी क्रिया हम देखते हैं, वह सब कामना (कर्मफल की अभिलाषा) का ही परिणाम होती है, क्योंकि व्यक्ति कुछ करने की यदि इच्छा ही नहीं करेगा तो क्रिया की सम्भावना ही नहीं की जा सकेगी। अत: लोकव्यवहार से भी इस बात की पुष्टि होती है कि सांसारिक प्रत्येक क्रिया के मूल में कामना ही मुख्य कारण है, क्योंकि इच्छारहित व्यक्ति तो कुछ क्रिया ही नहीं करता है।

विशेष—1. सांसारिक प्रत्येक क्रिया का मूल कामना को माना है।

2. मेधातिथि के अनुसार—यहाँ क्रियाओं से अभिप्राय जाग्रदवस्था में की जाने वाली क्रियाओं से लेना चाहिए।

3. अकामस्य = न कामः, इति अकामः तस्य, अकामस्य, कर्मफल की अभिलाषा से रहित।

4. छोटे से छोटे कर्म का कथन करने के लिए यत् और तत् का दो बार प्रयोग हुआ है अर्थात् प्रत्येक कर्म।

5. चेष्टितम् = √ चेष्ट् + क्त, परिचालन, व्यापार।

मन्वर्थमुक्तावली—अत्रैव लौकिकं नियमं दर्शयति—अकामस्येति। लोके या काचिद्भोजनगमनादिक्रिया साप्यनिच्छतो न कदाचिद्दृश्यते। ततश्च सर्वं कर्म लौकिकं वैदिकं च यद्यत्पुरुषः कुरुते तत्तदिच्छाकार्यम्॥ 4॥

व्यक्ति जैसा संकल्प करता है वैसे ही कर्म करता है। अतः उसे सत्संकल्प द्वारा श्रेष्ठ कर्म करने चाहिएँ, इसका प्रतिपादन करते हुए कहते हैं—

तेषु सम्यग्वर्तमानो गच्छत्यमरलोकताम्।
यथा संकल्पितांश्चेह सर्वान्कामान्समश्नुते॥ 5॥

अन्वय—तेषु सम्यक् वर्तमानः (जनः) अमरलोकताम् गच्छति। इह च यथा संकल्पितान् सर्वान् कामान् समुश्नुते॥ 5॥

अनुवाद—उन (शास्त्र के द्वारा अनुमोदित) कार्यों में भली प्रकार लगा हुआ (व्यक्ति) अमरलोक (मोक्ष) को प्राप्त कर लेता है तथा इस संसार में यथेष्ट सभी मनोरथों को भी प्राप्त कर लेता है।

'चन्द्रिका'—शास्त्रविहित उन यज्ञानुष्ठानादि सत्कार्यों तथा सत्य-अहिंसा आदि व्रतों में नियमित रूप से भली प्रकार लगा हुआ व्यक्ति न केवल इस लोक में जो भी मनोकामना करता है, उसे प्राप्त कर लेता है, अपितु मरणोपरान्त भी उसे अमरलोकों की प्राप्ति होती है। अतः व्यक्ति को इह लोक एवं परलोक दोनों ही दृष्टि से सत्कर्म करने चाहिएँ।

विशेष—1. मनुस्मृति में वेदानुमोदित कार्यों का ही कथन किया गया है। अतः मनुष्य को इसमें निर्दिष्ट कार्यों को करना चाहिए, इस अभिव्यञ्जना से ग्रन्थ के प्रयोजन का भी कथन किया गया है।

2. कुल्लूक भट्ट ने 'अमरलोक' से अभिप्राय 'मोक्ष' से लिया है, किन्तु मेधातिथि ने इसे देवत्व अर्थ में प्रयुक्त माना है—'देवत्वं प्राप्नोतीत्यर्थः।'

3. बूहलर ने इसको Dethless state एवं Final liberation अर्थ में प्रयुक्त माना है।

4. श्लोक में प्रयुक्त 'सम्यग्वर्तमानः' से अभिप्राय 'सत्कर्मों को भी शास्त्रोक्त विधिपूर्वक करने' से है।

5. इसी प्रकार की अभिव्यक्ति छान्दोग्योपनिषद् में भी हुई है—

"स यदि पितृलोककामो भवति संकल्पादेवस्य पितरः समुत्तिष्ठन्ति।" (8/2/1)

6. यदि व्यक्ति मोक्ष प्राप्त करना चाहता है तो उसे बन्धन के कारण-स्वरूप कर्मफल की अभिलाषा के बिना ही शास्त्रोक्त विधि से शास्त्रों में कहे गए सत्कर्म निष्ठापूर्वक करने चाहिएँ।

7. समश्नुते = (सम्यक् रूपेण प्राप्नोति) सम् + √ अशु (अशूङ् व्याप्तौ संघाते च) + तिप् (लट्लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन, आत्मनेपदी) भलीप्रकार प्राप्त करता है।

मन्वर्थमुक्तावली—सप्रति पूर्वोक्तं फलाभिलाषनिषेधं नियमयति—तेषु सम्यग्वर्तमान इति। नात्रेच्छा निषिध्यते किंतु शास्त्रोक्तकर्मसु सम्यग्वृत्तिर्विधीयते। बन्धहेतुफलाभिलाषं विना शास्त्रीयकर्मणामनुष्ठानं तेषु सम्यग्वृत्तिः सम्यग्वर्तमानोऽमरलोकतामरधर्मकं ब्रह्मभावं गच्छति। मोक्षं प्राप्नोतीत्यर्थः। तथाभूतश्च सर्वेश्वरत्वादिहापि लोके सर्वानभिलाषितान्प्राप्नोति। तथाच छान्दोग्ये—'स यदा पितृलोककामो भवति संकल्पादेवास्य पितरः समुत्तिष्ठन्ति' इत्यादि ॥ 5 ॥

पुनः धर्म के सम्बन्ध में प्रमाणों (स्रोतों) का कथन करते हैं—

वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम्।
आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च ॥ 6 ॥

अन्वय—अखिलः वेदः तद्विदाम् स्मृतिशीले च साधूनाम् आचारः एव च आत्मनः तुष्टिः एव च धर्ममूलम् (वर्तते) ॥ 6 ॥

अनुवाद—सम्पूर्ण वेद, वेद-ज्ञाताओं के स्मृति ग्रन्थ सद्गुण तथा सज्जनों का आचरण एवं आत्म-सन्तुष्टि ही धर्म के आधार हैं।

'चन्द्रिका'—सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय, उस वैदिक वाङ्मय का ज्ञान प्राप्त करने वाले धर्मशास्त्रकारों द्वारा विरचित स्मृतियाँ शुद्ध-आचरण एवं श्रेष्ठ-गुण सम्पन्न सज्जनों का दैनिक व्यवहार तथा अपने मन की प्रसन्नता ये पाँच तत्त्व ही किसी कार्य के धर्म सम्मत होने अथवा न होने में सबसे बड़े प्रमाण हैं। अर्थात् किसी भी कार्य के सम्बन्ध में इस प्रकार की जिज्ञासा होने पर हमें इन पाँच तत्त्वों की कसौटी पर कस कर निर्णय करना चाहिए।

विशेष—1. अनेक बार विद्वानों द्वारा भी इस प्रकार की शंका की जाती है कि कौन-सा कार्य धर्म-सम्मत है ? अत्यन्त स्वाभाविक एवं जटिल इस प्रश्न का समाधान प्रस्तुत श्लोक में किया गया है।

2. यहाँ वेद शब्द से अभिप्राय — सभी संहिता ग्रन्थ, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् एवं सूत्रग्रन्थों तक ग्रहण करना चाहिए।

3. केवल उन्हीं धर्मशास्त्रकारों की स्मृतियों की प्रामाणिकता को स्वीकार किया है, जिन्होंने वेदों का भली प्रकार अध्ययन किया है।

4. शील की व्याख्या हारीत ने इस प्रकार की है—

"ब्रह्मण्यता देवपितृभक्तता सौम्यता अपरोपतापिता अनसूयता मृदुता अपारुष्यं

मैत्रता प्रियवादित्व कृतज्ञता शरण्यता कारुण्यं प्रशान्तिश्चेति त्रयोदशविधं शीलम्॥''

5. गोविन्दराज ने शील से अभिप्राय—''राग द्वेष के परित्याग'' से लिया है।

6. श्लोक का उत्तरार्द्ध सामान्य व्यक्ति की धर्म विषयक जिज्ञासा की निवृत्ति के लिए है, जिससे वह सज्जनों के आचरण को देखकर सहज ही धर्मसम्मत कार्य का निर्णय कर ले तथा उसके भी अभाव में आत्मा की आवाज को सुनकर निश्चय कर ले कि यह कार्य धर्म के अनुकूल है।

7. मीमांसा दर्शन में वेद के पाँच भागों का कथन किया गया है—

स च विधिमन्त्रनामधेयनिषेधार्थवाद भेदात् पञ्चविधः।

8. स्मृतिशीले—स्मृतिश्च शीलञ्च, इति स्मृतिशीले (द्वन्द्व समास) अमरकोश के अनुसार—स्मृतिस्तु धर्मसंहिता, शुचौ तु चरिते शीलम् अर्थात् धर्मसंहिता ही स्मृति हैं तथा चरित्र की पवित्रता ही शील है।

9. अन्तःकरण की प्रवृत्ति की प्रामाणिकता को कालिदास भी स्वीकार करते हैं—सतां हि संदेहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तः करणप्रवृत्तयः (अभिज्ञानशाकुन्तलम् 1/22)

10. तुष्टिः = √ तुष् + क्तिन् (अपनी संतुष्टि)।

11. धर्म के सम्बन्ध में वेद की प्रधानता स्वीकार करने के कारण श्लोक के आरम्भ में 'वेद' शब्द का ग्रहण किया गया है।

12. याज्ञवल्क्य स्मृति में भी धर्म के सम्बन्ध में इन्हीं प्रमाणों का उल्लेख किया गया है।

श्रुतिः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
सम्यक् सङ्कल्पजः कामो धर्म्ममूलमिदं स्मृतम्॥ (1/7)

मन्वर्थमुक्तावली—इदानीं धर्मप्रमाणान्याह—वेदोऽखिलो धर्ममूलमिति॥ वेद ऋग्जुः-सामाथर्वलक्षणः स सर्वो विध्यर्थवादमन्त्रात्मा धर्मे मूलं प्रमाणम्। अर्थवादानामपि विध्येकवा-क्यतया स्तावकत्वेन धर्मे प्रामाण्यात्। यदाह जैमिनिः 'विधिना त्वेकवाक्यत्वात्स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः' मन्त्रार्थवादानामपि विधिवाक्यैकवाक्यतयैव धर्मे प्रामाण्यं, प्रयोगकाले चानुष्ठेयस्मारकत्वं, वेदस्य च धर्मे प्रामाण्यं यथानुभवकरणत्वरूपं न्यायसिद्धम्। स्मृत्यादीनामपि तन्मूलत्वेनैव प्रामाण्यप्रतिपादनार्थमनूद्यते। मन्वादीनां च वेदविदां स्मृतिर्धर्मे प्रमाणम्। वेदविदामिति विशेषणोपादानाद्वेदमूलत्वेनैव स्मृत्यादीनां प्रामाण्यमभिमतम्। शीलं ब्रह्मण्यतादिरूपम्। तदाह हारीतः—'ब्रह्मण्यता देवपितृभक्तता सौम्यता अपरोपतापिता अनसूयता मृदुता अपारुष्यं मैत्रता प्रियवादित्वं कृतज्ञता शरण्यता कारुण्यं प्रशान्तिश्चेति त्रयोदशविधं शीलम्।' गोविन्दराजस्तु शीलं रागद्वेषपरित्याग इत्याह। आचारः कम्बलवल्कलाद्याचरणरूपः, साधूनां धार्मिकाणां आत्मतुष्टिश्च वैकल्पिकपदार्थविषया धर्मे प्रमाणम्। तदाह गर्गः—'वैकल्पिके आत्मतुष्टिः प्रमाणम्॥ 6॥'

मनुस्मृति की वेदसम्मतया प्रतिपादित करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं—

यः कश्चित्कस्यचिद्धर्मो मनुना परिकीर्तितः ।
स सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि सः ॥ 7 ॥

अन्वय—मनुना यः कश्चित् कस्यचित् धर्मः परिकीर्तितः, सः सर्वः वेदे अभिहितः, हि सः सर्वज्ञानमयः ॥ 7 ॥

अनुवाद—आचार्य मनु के द्वारा जो कोई भी किसी के भी लिए धर्म कहा गया है, वह सब (पहले ही) वेद में कहा जा चुका है क्योंकि वह (वेद) सर्वज्ञान सम्पन्न है।

'चन्द्रिका'—आचार्य मनु ने (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र) समाज के चार वर्णों के लिए जिस भी धर्म का कथन किया है, वह सब पूर्व में ही वेद में कहा जा चुका है। अतः मनुस्मृति के अन्तर्गत कुछ वेद विरूद्ध अथवा भिन्न नहीं है, क्योंकि वेद सभी प्रकार के ज्ञान का भण्डार हैं।

विशेष—1. कुल्लूक भट्ट आदि कुछ व्याख्याकारों ने चतुर्थ चरण को मनु के विशेषण के रूप में प्रयुक्त मानते हुए, उन्हें सर्वज्ञ बताया है, किन्तु इसकी अपेक्षा इसे वेद का विशेषण मानना अधिक उचित प्रतीत होता है।

2. गोविन्दराज ने इसे वेद का ही विशेषण माना है। कुल्लूक भट्ट ने भी अपनी टीका में इसका कथन किया है—"गोविन्दराजस्तु सर्वज्ञानमयः इत्यस्य सर्वज्ञानारब्ध इव वेद इति वेद विशेषण तामाह।'

3. मेधातिथि ने भी इसे वेद का ही विशेषण माना है—

"वेदश्च ज्ञानहेतुत्वात् तन्मय इति॥"

4. किन्तु आचार्य रामचन्द्र ने दोनों अर्थों को ही स्वीकार किया है।

"स वेदः सर्वज्ञानमयः सर्वं जानातीत्यर्थः। यद्वा स मनुः सर्वज्ञानमयः।"

5. धर्म — ध्रियते लोकोऽनेन, धरति लोकं वा √ धृ + मन्।

6. अभिहितः = अभि + √ धा + क्त (कहा गया)।

मन्वर्थमुक्तावली— वेदादन्येषां वेदमूलत्वेन प्रामाण्येऽभिहितेऽपि मनुस्मृतेः सर्वोत्कर्ष-ज्ञापनाय विशेषेण वेदमूलतामाह—यः कश्चिदिति॥ यः कश्चित्कस्यचिद्ब्राह्मणादेर्मनुना धर्म उक्तः स सर्वो वेदे प्रतिपादितः। यस्मात्सर्वज्ञोऽसौ मनुः सर्वज्ञतया चोत्सन्नविप्रकीर्णपठ्यमानवेदार्थं सम्यग्ज्ञात्वा लोकहितायोपनिबद्धवान्। गोविन्दराजस्तु सर्वज्ञानमय इत्यस्य सर्वज्ञानारब्ध इव वेद इति वेदविशेषणतामाह॥ 7 ॥

धर्म पालन के समय वेद के प्रामाण्य की आवश्यकता का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं—

सर्वं तु समवेक्ष्येदं निखिलं ज्ञानचक्षुषा।
श्रुतिप्रामाण्यतो विद्वान्स्वधर्मे निविशेत वै॥ 8॥

अन्वय—इदम् सर्वम् तु निखिलम् (जगत्) ज्ञान चक्षुषा समवेक्ष्य विद्वान् श्रुतिप्रामाण्यतः स्वधर्मे वै निविशेत॥ 8॥

अनुवाद—(मनु द्वारा प्रतिपादित) इन सब (धर्मों) को तथा सम्पूर्ण जगत् व्यवहार को ज्ञान रूपी नेत्रों से भली प्रकार देखकर, विद्वान् व्यक्ति श्रुति को प्रमाण रूप में स्वीकार करते हुए अपने धर्म में ही लगा रहना चाहिए।

'चन्द्रिका'—विद्वान् व्यक्ति को आचार्य मनु द्वारा कहे हुए वर्ण, आश्रम एवं इनके नित्य नैमित्तिक धर्मों का अध्ययन करने के साथ-साथ, लोक व्यवहार को भी अपने विवेक द्वारा देखते हुए, हमेशा इस प्रकार के कार्य करने चाहिएँ, जो वेदों में प्रतिपादित सिद्धान्तों के विरुद्ध न हों। व्यक्ति के धर्म का निर्धारण इस प्रकार तीन महत्त्वपूर्ण तत्त्वों से करना चाहिए—प्रथम, मनु द्वारा प्रोक्त सिद्धान्त द्वितीय, लोक व्यवहार तथा तृतीय, स्वविवेक, किन्तु इन तीनों का श्रुति द्वारा समर्थन भी अनिवार्य है।

विशेष—1. ज्ञान-चक्षुषा के रूपक अलंकार ज्ञान रूपी नेत्र।

2. समवेक्ष्य = सम् + अव + √ ईक्ष् + ल्यप् (भली प्रकार देखकर)।

3. कुल्लूक भट्ट ने ज्ञान-चक्षु का अभिप्राय 'मीमांसा व्याकरण आदि ज्ञान' से लिया है, किन्तु राघवानन्द ने गुरु को ज्ञान का नेत्र माना है।

"ज्ञायतेऽनेनेति ज्ञानं गुरुः स एव चक्षुस्तेन।"

4. निविशेत = नि + √ विश् (प्रवेशने) + तिप् (आ. विधिलिङ्ग लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन) (लगा रहना चाहिए)।

मन्वर्थमुक्तावली—सर्वं त्विति॥ सर्वं शास्त्रजातं वेदार्थावगमोचितं ज्ञानं मीमांसाव्याकरणादिकं ज्ञानमेव चक्षुस्तेन निखिलं तद्विशेषेण पर्यालोच्य वेदप्रामाण्येनानुष्ठेयमवगम्य स्वधर्मेऽवतिष्ठेत॥ 8॥

श्रुतिस्मृति समर्थित धर्म का पालन करने से प्राप्त होने वाले फल का कथन करते हैं—

श्रुतिस्मृत्युदितं धर्ममनुतिष्ठन्हि मानवः।
इह कीर्तिमवाप्नोति प्रेत्य चानुत्तमं सुखम्॥ 9॥

अन्वय—श्रुति-स्मृति-उदितम् धर्मम् अनुतिष्ठन् मानवः हि इह कीर्तिम्, प्रेत्य च अनुत्तमम् सुखम् अवाप्नोति॥ 9॥

अनुवाद—वेदों एवं स्मृतिग्रन्थों में कहे गए धर्म का पालन करते हुए व्यक्ति निश्चय ही इस संसार में कीर्ति को और मरकर (परलोक में) उत्तमोत्तम सुखों को प्राप्त करता है।

'चन्द्रिका'—यदि व्यक्ति वेदों एवं स्मृतिग्रन्थों में प्रतिपादित धर्म का पालन करें तो उसे जीवित अवस्था में मृत्युलोक में यश की प्राप्ति होती है तथा मरने के बाद परलोक सिधारने पर भी वह स्वार्गादि के उत्कृष्ट सुखों को प्राप्त करता है। अतः मनुष्य को सदैव श्रुति एवं स्मृति द्वारा अनुमोदित धर्म का ही पालन करना चाहिए।

विशेष—1. वेद एवं स्मृति द्वारा प्रतिपादित धर्म का पालन करने से व्यक्ति को यश एवं स्वर्गादि सुखों की प्राप्ति होती है।

2. उदितम् = उत् + √ इण् + क्त (कहा गया)।

3. अनुतिष्ठन् = अनु + √ स्था + शतृ (करता हुआ)।

4. अवाप्नोति = अव + √ आप् + तिप् (लट्लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन)।

5. प्रेत्य = प्र + √ इण् + ल्यप् (मरकर)।

मन्वर्थमुक्तावली—श्रुतिस्मृत्युदितमिति॥ श्रुतिस्मृत्युदितं धर्ममनुतिष्ठन्मानव इह लोके धार्मिकत्वेनानुषङ्गिकीं कीर्तिं परलोके च धर्मफलमुत्कृष्टं स्वर्गापवर्गादिसुखरूपं प्राप्नोति। अनेन वास्तवगुणकथनेन श्रुतिस्मृत्युदितं धर्ममनुतिष्ठेदिति विधिः कल्प्यते॥ 9॥

पुनः वेद और स्मृति को परिभाषित करते हैं—

श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः।
ते सर्वार्थेष्वमीमांस्ये ताभ्यां धर्मो हि निर्बभौ॥ 10॥

अन्वय—श्रुतिः तु वेदः स्मृतिः तु वै धर्मशास्त्रम् विज्ञेयः, ते सर्वार्थेषु अमीमांस्ये, हि ताभ्याम् धर्मः निर्बभौ॥ 10॥

अनुवाद—श्रुति को तो वेद और स्मृति धर्मशास्त्र ही समझना चाहिए। वे (दोनों) सभी अर्थों में अतर्क्य हैं, क्योंकि उन दोनों से ही धर्म प्रादुर्भूत हुआ है।

'चन्द्रिका'—वेद और धर्मशास्त्र ये दो ही धर्म के मुख्य स्रोत हैं। श्रोत्र परम्परा से प्राप्त होने से वेद को ही श्रुति कहा जाता है तथा धर्मशास्त्र के अन्तर्गत सभी स्मृतियाँ आती हैं। यहाँ स्मृति से "स्मरण किया गया" अभिप्राय भी लिया जा सकता है क्योंकि स्मृतियों में प्रतिपादित सभी सिद्धान्त श्रुति से स्मरण द्वारा ग्रहण करके नियोजित किए गए हैं। ये दोनों ही तर्क-वितर्क के विषय नहीं हैं, क्योंकि वेद और धर्मशास्त्र अर्थात् श्रुति और स्मृति से ही धर्म का प्रकटीकरण हुआ है।

विशेष—1. श्रुति और स्मृति को अतर्क्य अर्थात् तर्क-वितर्क से परे बताया गया है।

2. राघवानन्द ने 'सर्वार्थेष्वमीमांस्ये' के स्थान पर 'सर्वार्थेषु मीमांस्ये' पाठ को उपयुक्त माना है। तर्क से ही धर्म के स्वरूप का अनुसन्धान सम्भव है—"सर्वार्थेषु मीमाँस्ये एव इति पाठः। तथा च सर्वार्थेषु ज्ञातव्येषु मीमाँस्ये एव धर्मस्यातीव सूक्ष्मत्वात्॥

3. नन्दन ने यहाँ प्रयुक्त श्रुति एवं स्मृति को समकक्ष माना है—

"श्रुतिस्मृत्योस्तुल्य कक्ष्यतामेव प्रकारान्तरेणाह।"

4. श्रुति एवं स्मृति के अन्तर का प्रतिपादन सुन्दर ढंग से किया गया है।

5. धर्म का मूल स्रोत श्रुति एवं स्मृति दोनों को माना है।

6. वै निपात का प्रयोग 'निश्चय' अर्थ की अभिव्यक्ति के लिए हुआ है।

7. यदि कोई व्यक्ति श्रुति अथवा स्मृति के सम्बन्ध में तर्क-वितर्क करता है तो उसे प्रशंसनीय नहीं माना गया है। इसी भाव की अभिव्यक्ति अग्रिम श्लोक में 'नास्तिको वेद निन्दक:' द्वारा भी हुई है।

8. विज्ञेय: = वि + √ ज्ञा + यत् (जानना चाहिए)।

मन्वर्थमुक्तावली—श्रुतिस्त्विति। लोकप्रसिद्धसंज्ञासंज्ञिसंबन्धानुवादोऽयं श्रुतिस्मृत्यो: प्रतिकूलतर्केणामीमांस्यत्वविधानार्थं, स्मृते: श्रुतितुल्यत्वबाधनेनाचारादिभ्यो बलवत्त्वप्रतिपादनार्थं च। तेन स्मृतिविरुद्धाचारो हेय इत्यस्य फलम्। श्रुतिर्वेद: मन्वादिशास्त्रं स्मृति: ते उभे प्रतिकूलतर्कैर्न विचारयितव्ये। यतस्ताभ्यां नि:शेषेण धर्मो बभौ प्रकाशतां गत:॥ 10॥

वेद की निन्दा करने वाला बहिष्कार के योग्य है, ऐसा उल्लेख करते हुए ग्रन्थकार कहता है कि—

योऽवमन्येत ते मूले हेतुशास्त्राश्रयाद् द्विज:।
स साधुभिर्बहिष्कार्यो नास्तिको वेदनिन्दक:॥ 11॥

अन्वय—य: द्विज: मूले ते हेतुशास्त्राश्रयात् अवमन्येत, वेदनिन्दक; स: नास्तिक: साधुभि: बहिष्कार्य: (अस्ति)॥ 11॥

अनुवाद—जो द्विजन्मा धर्म के मूल स्रोत इन श्रुति एवं स्मृति का तर्कशास्त्र के द्वारा तिरस्कार करता है, वेद की निन्दा करने वाला वह नास्तिक सज्जनों द्वारा बहिष्कार के योग्य है।

'चन्द्रिका'—श्रुति एवं स्मृति धर्म का मूल आधार हैं, किन्तु कोई भी द्विज अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य यदि इन दोनों की तर्क-वितर्क करते हुए निन्दा करता है, अवमानना करता है, तो वेद की निन्दा करना वाला वह 'नास्तिक' कहलाने योग्य है। अत: सज्जनों को ऐसे नास्तिक का समाज के बहिष्कार करना चाहिए। अन्यथा ऐसे व्यक्ति के कारण समाज के मर्यादाविहीन एवं धर्मविहीन होने की सम्भावना है।

विशेष—1. वेद-निन्दक व्यक्ति नास्तिक है, अत: त्याज्य है।

2. यहाँ द्विज से अभिप्राय समाज के तीन वर्णों ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य से है, क्योंकि इन्हीं तीनों के संस्कार का विधान किया गया है—"जन्मना जायते शूद्र:, संस्काराद् द्विज उच्यते।"

3. हेतुशास्त्राश्रयात् = हेतो: शास्त्रमहेतुशास्त्रम्। हेतुशास्त्रस्य आश्रय: हेतुशास्त्राश्रय: तस्मात्। हेतुशास्त्र से अभिप्राय यहाँ तर्कशास्त्र से है।

4. वेद और स्मृति को तक-वितर्क से परे माना है।

5. अवमन्येत = अव + √ मन् + तिप् (आत्मनेपदी, विधिलिङ्ग लकार, प्रथमपुरुष, एकवचन)।

6. नास्तिक: = नास्ति परलोक: मतिरस्य। न आस्तिक: इति नञ् समास न + अस्ति + ठक्।

मन्वर्थमुक्तावली—योऽवमन्येतेति॥ य: पुनस्ते द्वे श्रुतिस्मृती द्विजोऽवमन्येत स शिष्टैर्द्विजानुष्ठेयाध्ययनादिकर्मणो नि:सार्य:। पूर्वश्लोके सामान्येनामीमांस्ये इति मीमांसानिषेधा-दनुकूलमीमांसापि न प्रवर्तनीयेति भ्रमो माभूदिति विशेषयति—हेतुशास्त्राश्रयात्। वेदवाक्यमप्र-माणं वाक्यत्वात्। विप्रलम्भकवाक्यवदित्यादिप्रतिकूलतर्कावष्टम्भेन चार्वाकादिनास्तिक इव नास्तिक:। यतो वेदनिन्दक: ॥ 11 ॥

पुन: धर्म का लक्षण प्रस्तुत करते हैं—

वेद: स्मृति: सदाचार: स्वस्य च प्रियमात्मन:।
एतच्चतुर्विधं प्राहु: साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम् ॥ 12 ॥

अन्वय—वेद:, स्मृति:, सदाचार:, स्वस्य आत्मन: प्रियम् च, एतत् चतुर्विधम् धर्मस्य साक्षात् लक्षणम् प्राहु: ॥ 12 ॥

अनुवाद—वेद, स्मृति, श्रेष्ठाचरण और अपनी अन्तरात्मा की प्रसन्नता ये चार प्रकार के धर्म के साक्षात् लक्षण कहे गए हैं।

'चन्द्रिका'—संहिता ग्रन्थ, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् एवं सूत्रग्रन्थ जो वेद नाम से अभिहित है, याज्ञवल्क्य, मनु आदि धर्मशास्त्रकारों द्वारा विरचित स्मृतियाँ तथा सज्जन व्यक्तियों द्वारा किया गया आचरण, व्यवहार एवं किसी कार्य के सम्बन्ध में अनुभव की जाने वाली उचित, अनुचित विषयक आत्मा की प्रसन्नता ये चारों धर्म के सम्बन्ध में साक्षात् रूप से सभी व्यक्तियों द्वारा सहज में उपलब्ध होने वाले लक्षण विद्वानों द्वारा कहे गए हैं।

विशेष—1. वेदोऽखिलो इत्यादि श्लोक में भी ग्रन्थकार ने धर्म के लक्षण को प्रस्तुत किया है। यहाँ उन्हीं भावों की पुनरावृत्ति की गई है।

2. विस्तृत व्याख्या के लिए इसी अध्याय का षष्ठ श्लोक देखना चाहिए।

3. कुल्लूक भट्ट ने सदाचार का अर्थ शिष्टाचार किया है—सदाचार: शिष्टाचार:।

4. स्वस्य आत्मन: में पुनरुक्ति प्रतीत होती है, क्योंकि आत्मन: प्रियम् से भी 'अपनी आत्मा की प्रसन्नता' यही अभिप्राय व्यक्त हो रहा है।

5. प्राहु: = प्रकर्षेण आहु:।

मन्वर्थमुक्तावली—इदानीं शीलस्याचार एवान्तर्भावसंभवाद्वेदमूलतैव तन्त्रं न स्मृतिशी-लादिप्रकारनियम इति दर्शयितुं चतुर्धा धर्मप्रमाणमाह—वेद इति॥ वेदो धर्मप्रमाणं स

क्वचित्प्रत्यक्षः क्वचित्स्मृत्यानुमित इत्येवं तात्पर्यं न तु प्रमाणपरिगणने। अतएव 'श्रुतिस्मृत्युदितं धर्मं' इत्यत्र द्वयमेवाभिहितवान्। सदाचारः शिष्टाचारः। स्वस्य चात्मनः प्रियमात्मतुष्टिः॥ 12॥

पुनः धर्मज्ञान के अधिकारी का कथन करते हैं—

अर्थकामेष्वसक्तानां धर्मज्ञानं विधीयते।
धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः॥ 13॥

अन्वय—अर्थ-कामेषु असक्तानाम् धर्मज्ञानम् विधीयते, धर्मम् जिज्ञासमानानाम् श्रुतिः परमम् प्रमाणम्॥ 13॥

अनुवाद—अर्थ एवं काम में आसक्ति-रहित लोगों के लिए ही धर्म के ज्ञान का विधान किया गया है। धर्म के प्रति जिज्ञासा करने वालों के लिए श्रुति ही सर्वोत्कृष्ट प्रमाण है।

'चन्द्रिका'—पुरुषार्थ चतुष्टय में से जिन व्यक्तियों की रुचि अर्थ—धन एवं काम—सैक्स के प्रति नहीं है। इस प्रकार के लोगों को ही धर्म का उपदेश देना चाहिए, क्योंकि इस संसार में जो लोग धन कमाने में अथवा सांसारिक भोगों में आसक्त रहते हैं। उनके लिए धर्मोपदेश निरर्थक है, किन्तु जो मोक्षप्राप्ति के लिए धर्म के आचरण के प्रति जिज्ञासु रहते हैं, उनके लिए प्रत्येक पद पर मार्ग-दर्शन हेतु श्रुति अर्थात् वेद ही सर्वोत्तम प्रमाण हैं। अतः कहीं भी किसी भी स्थल पर शंका होने पर वेद-वाक्य को ही प्रमाण रूप में स्वीकार करना चाहिए।

विशेष—1. धन एवं सांसारिक भोगों में आसक्त व्यक्तियों के लिए धर्मशास्त्र का ज्ञान नहीं है।

2. सम्पूर्ण धर्मशास्त्रीय साहित्य में वेद की सर्वोच्चता प्रतिपादित की गई है, जिसे यहाँ भी परमं प्रमाणम्' कहकर अभिव्यक्त किया गया है।

3. जाबाल एवं कुल्लूक ने श्रुति एवं स्मृति के विरोध की स्थिति में श्रुति की प्रामाणिकता स्वीकार की है—"श्रुतिस्मृतिविरोधे तु श्रुतिरेव गरीयसी।"

4. भविष्य पुराण में भी कहा है—श्रुत्या सह विरोधे तु बाध्यते विषयं विना।

5. आचार्य जैमिनि ने भी इस बात की पुष्टि की है—'श्रुति विरोधे स्मृतिवाक्यमनपेक्ष्यम-प्रमाणमनादरणीयम्। असति विरोधे मूलवेदानुमानमित्यर्थः।'

6. धर्मज्ञानम् = धर्मस्य ज्ञानम् (षष्ठी तत्पुरुष) धर्म का ज्ञान।

मन्वर्थमुक्तावली—अर्थकामेष्विति॥ अर्थकामेष्वसक्तानामर्थकामलिप्साशून्यानां धर्मो-पदेशोऽयम्। ये त्वर्थकामसमीहया लोकप्रतिपत्त्यर्थं धर्ममनुतिष्ठन्ति न तेषां कर्मफलमित्यर्थः। धर्मं च ज्ञातुमिच्छतां प्रकृष्टं प्रमाणं श्रुतिः। प्रकर्षबोधनेन च श्रुतिस्मृतिविरोधे स्मृत्यर्थो नादरणीय इति भावः। अतएव जाबालः—'श्रुतिस्मृतिविरोधे तु श्रुतिरेव गरीयसी। अविरोधे सदा कार्यं स्मार्तं वैदिकवत्सता।' भविष्यपुराणेऽप्युक्तम्—'श्रुत्या सह विरोधे तु बाध्यते विषयं विना।'

जैमिनिरप्याह—'विरोधे त्वनपेक्षं स्यादसति ह्यनुमानम्।' श्रुतिविरोधे स्मृतिवाक्यमनपेक्षमप्रमाणमनादरणीयम्। असति विरोधे मूलवेदानुमानमित्यर्थः॥ 13॥

वेदवाक्य में द्वैधभाव होने पर व्यवस्था देते हुए कहते हैं—

श्रुतिद्वैधं तु यत्र स्यात्तत्र धर्मावुभौ स्मृतौ।
उभावपि हि तौ धर्मौ सम्यगुक्तौ मनीषिभिः॥ 14॥

अन्वय—तु यत्र श्रुतिद्वैधम् स्यात्, तत्र उभौ धर्मौ स्मृतौ, हि मनीषिभिः तौ उभौ अपि धर्मौ सम्यक् उक्तौ॥ 14॥

अनुवाद—किन्तु जहाँ श्रुति वचनों में द्वैधीभाव हो, वहाँ दोनों धर्म कहे गए हैं, क्योंकि विद्वानों के द्वारा वे दोनों ही धर्म उचित माने गए हैं।

'चन्द्रिका'—वेद वाक्यों में हमें अनेक स्थलों पर एक ही विषय में दो या अधिक प्रकार के विधान देखने को मिलते हैं। उन स्थानों पर स्वाभाविक जिज्ञासा होती है कि क्या करणीय है? इस विषय में व्यवस्था देते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि दोनों ही विधान करने योग्य हैं अर्थात् व्यक्ति की इच्छा पर निर्भर है कि उसे जो अनुकूल एवं अच्छा लगे उसी का पालन करना चाहिए, क्योंकि अनेक विद्वानों ने ऐसे स्थलों पर दोनों ही विधानों को उचित धर्म के रूप में अपनी स्वीकृति प्रदान की है।

विशेष—1. कुल्लूक भट्ट ने श्रुति-विरोध के समान ही स्मृति-विरोध की स्थिति में भी विकल्प की अनुमति प्रदान की है—"समानन्यायतया स्मृत्योरपि विरोधे विकल्प इति॥"

2. श्लोक में प्रयुक्त 'श्रुति द्वैध' से अभिप्राय "श्रुति में विभिन्नता, विविधता से है, जो दो या दो से अधिक प्रकार की भी सम्भव है। जिसको ग्रन्थकार ने अग्रिम श्लोक 'उदितेऽनुदिते' इत्यादि से स्पष्ट भी किया है।

3. गौतम ने विरोध की स्थिति में विकल्प को स्वीकृति प्रदान की है—

"तुल्यबलविरोधे विकल्पः।"

मन्वर्थमुक्तावली—श्रुतिद्वैधं त्विति॥ यत्र पुनः श्रुत्योरेव द्वैधं परस्परविरुद्धार्थप्रतिपादनं तत्र द्वावपि धर्मौ मनुना स्मृतौ। तुल्यबलतया विकल्पानुष्ठानविधानेन च विरोधाभावः। यस्मान्मन्वादिभ्यः पूर्वतरैरपि विद्वद्भिः सम्यक् समीचीनौ द्वावपि तौ धर्मावुक्तौ। समानन्यायतया स्मृत्योरपि विरोधे विकल्प इति प्रकृतोपयोगः तुल्यबलत्वाविशेषात्। तदाह गौतमः—'तुल्यबलविरोधे विकल्पः॥ 14॥'

पुनः इस सम्बन्ध में दृष्टान्त प्रस्तुत करते हैं—

उदितेऽनुदिते चैव समयाध्युषिते तथा।
सर्वथा वर्तते यज्ञ इतीयं वैदिकी श्रुतिः॥ 15॥

अन्वय—उदिते च अनुदिते तथा समयाध्युषिते एव सर्वथा यज्ञः वर्तते इति, इयम् वैदिकी श्रुतिः ॥ 15 ॥

अनुवाद—(सूर्य के) उदित होने पर और (उसके) उदित न होने पर तथा मध्याह्न के समय में ही सर्वथा यज्ञ होता है, यह वेद विषयक श्रुति है।

'चन्द्रिका'—यज्ञ कब करना चाहिए? इस सम्बन्ध में वेद में तीन व्यवस्थाएँ दी गई हैं—"उदिते जुहोति, अनुदिते जुहोति एवं समयाध्युषिते जुहोति", अतः इन उल्लेखों से समय के विरुद्ध भाव के कारण अस्पष्टता प्रतीत हो रही है। ऐसी स्थिति में ग्रन्थकार ने व्यवस्था दी कि यहाँ यज्ञ-कर्ता की इच्छा पर निर्भर है कि वह सुबह, दोपहर अथवा सायंकाल इन तीनों में से किसी भी समय यज्ञ कर सकता है, क्योंकि ये तीनों वाक्य वेद में उपलब्ध होते हैं। अतः इस सम्बन्ध में शंका नहीं करनी चाहिए।

विशेष—1. कुल्लूक भट्ट ने समयाध्युषिते का अभिप्राय 'सूर्य और नक्षत्र दिखाई न पड़ने वाले प्रातःकालीन समय' से किया है। जिसे अरुणोदय भी कहा जा सकता है। (द्रष्टव्य टीका मन्वर्थ.), किन्तु यहाँ मध्याह्न अर्थ अधिक उपर्युक्त प्रतीत होता है।

2. प्रस्तुत श्लोक में एक ही कार्य के लिए तीन विकल्पों का उल्लेख हुआ है। अतः तीनों समय में से किसी भी समय यज्ञ किया जा सकता है।

3. इन तीनों समयों को टीकाकार रामचन्द्र कात्यायन को उद्धृत करते हुए इस प्रकार स्पष्ट करते हैं—**राज्यास्तु षोडशे भागे ग्रहनक्षत्र भूषिते। कालं चानुदितं ज्ञात्वा होमं कुर्याद् विचक्षणः ॥ तथा च प्रातः समये नष्टे नक्षत्रमण्डले। रविर्यावन्न दृश्येत समयाध्युषितं च तत्। रेखा मात्रं च दृश्येत रश्मिभिश्च समन्वितः। उदितं तं विजानीयात् तत्र होमं प्रकल्पयेत्।**

4. अनुदिते — न उदिते, इति (नञ् समास)।

5. वैदिकी — वेदेषु विहितः = वेद + ठक् = वैदिकः (स्त्री.) वैदिकी।

मन्वर्थमुक्तावली—अत्र दृष्टान्तमाह—उदितेऽनुदिते चैवेति॥ सूर्यनक्षत्रवर्जितः कालः समयाध्युषितशब्देनोच्यते। उदयात्पूर्वमरुणकिरणवान्प्रविरलतारकोऽनुदितकालः। परस्परविरुद्धकालश्रवणेऽपि सर्वथा विकल्पेनाग्निहोत्रहोमः प्रवर्तते। देवतोद्देशेन द्रव्यत्यागगुणयोगात्। यज्ञशब्दोऽत्र गौणः। 'उदिते होतव्यम्' इत्यादिका वैदिकी श्रुतिः ॥ 15 ॥

तत्पश्चात् इस शास्त्र के अध्ययन का किसको अधिकार है, बताते हैं—

निषेकादिश्मशानान्तो मन्त्रैर्यस्योदितो विधिः।
तस्य शास्त्रेऽधिकारोऽस्मिञ्ज्ञेयो नान्यस्य कस्यचित् ॥ 16 ॥

अन्वय—यस्य निषेकादिश्मशानान्तो विधिः मन्त्रैः उदितः, तस्य अस्मिन् शास्त्रे अधिकारः ज्ञेयः, कस्यचित् अन्यस्य न ॥ 16 ॥

अनुवाद—जिसके गर्भाधान से लेकर अन्त्येष्टि पर्यन्त सभी संस्कार विधिपूर्वक मन्त्रों

के द्वारा किए गए हैं, उसका ही इस धर्मशास्त्र में अधिकार समझना चाहिए, किसी अन्य (संस्कार हीन व्यक्ति) का नहीं।

'चन्द्रिका'—धर्मशास्त्र के अध्ययन का किस व्यक्ति को अधिकार है, इस विषय में व्यवस्था निर्धारित करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि जिस व्यक्ति के गर्भाधान संस्कार से लेकर श्मशान जाने अर्थात् मृत्यु पर्यन्त सम्पूर्ण संस्कार शास्त्रोक्त विधि का पालन करते हुए मन्त्रों के उच्चारण के साथ किए जाते हैं, केवल वे ही इस शास्त्र के अध्ययन के अधिकारी हैं। अन्य कोई इस शास्त्र का अध्ययन करने के अधिकारी नहीं है।

विशेष—1. श्लोक के चतुर्थ चरण में 'न अन्यस्य कस्यचित्' के द्वारा शूद्र एवं स्त्री दोनों को इस शास्त्र के अध्ययन एवं श्रवण का अनधिकारी कहा गया है, क्योंकि स्वयं आचार्य मनु ने शूद्रों के संस्कार का निषेध किया है—"न शूद्रे पातकं किञ्चन्न च संस्कारमर्हति 10/126॥

2. इसी प्रकार स्त्री के संस्कार मन्त्रों के बिना किए जाने का विधान होने से उनके भी शास्त्राध्ययन के अधिकार को स्वीकार नहीं किया जा सकता—

अमन्त्रिका तु कार्येयं स्त्रीणामावृदशेषतः।
संस्कारार्थं शरीरस्य यथाकालं यथाक्रमम्॥ (2/66)

3. यहाँ प्रयुक्त 'शास्त्रेऽधिकारः' से अभिप्राय केवल इस शास्त्र का अध्ययन करने के अधिकार से है, क्योंकि इसके अध्यापन का अधिकार तो आचार्य मनु ने ब्राह्मण के अतिरिक्त किसी अन्य वर्ण को प्रदान ही नहीं किया—

विदुषा ब्राह्मणेनेदमध्येतव्यं प्रयत्नतः।
शिष्येभ्यश्च प्रवक्तव्यं सम्यङ् नान्येन केनचित्॥ 1/103॥

4. इससे आचार्य मनु का कट्टर ब्राह्मणवादी होना सिद्ध होता है, साथ ही स्त्रियों के विषय में भी उनकी संकुचित भावना की अभिव्यक्ति हो रही है।

5. अधिकारः = अधि + √ कृ + घञ्।

6. वि + √ धा + कि। (शास्त्रोक्त विधि-विधान पूर्वक)।

7. ज्ञेयः = √ ज्ञा + यत् (जानना चाहिए)।

मन्वर्थमुक्तावली—निषेकादीति॥ गर्भाधानादिरन्त्येष्टिपर्यन्तो यस्य वर्णस्य मन्त्रैरनुष्ठानकलाप उक्तो द्विजातेरित्यर्थः। तस्यास्मिन्मानवधर्मशास्त्रेऽध्ययने श्रवणेऽधिकारः न त्वन्यस्य कस्यच्छिद्रादेः। एतच्छास्त्रानुष्ठानं च यथाधिकारं सर्वैरेव कर्तव्यं, प्रवचनं त्वस्याध्यापनं व्याख्यानरूपं ब्राह्मणकर्तृकमेवेति विदुषा ब्राह्मणेनेत्यत्र व्याख्यातम्॥ 16॥

धर्म की परिभाषा आदि का कथन करने के बाद धर्मानुष्ठान के योग्य प्रदेशों का कथन करते हैं—

सरस्वतीदृषद्वत्यो र्देवनद्योर्यदन्तरम्।
तं देवनिर्मितं देशं ब्रह्मावर्तं प्रचक्षते॥ 17॥

अन्वय—सरस्वतीदृषद्वत्योः देवनद्योः यत् अन्तरम् (वर्तते) देवनिर्मितम् तम् देशम् ब्रह्मावर्तम् प्रचक्षते॥ 17॥

अनुवाद—सरस्वती और दृषद्वती इन दोनों देवनदियों के बीच में जो अन्तर है, देवताओं द्वारा निर्मित उस देश को 'ब्रह्मावर्त' कहा जाता है।

'चन्द्रिका'—सरस्वती एवं दृषद्वती ये दोनों उत्कृष्ट नदियाँ हैं, क्योंकि इनका निर्माण देवताओं द्वारा किया गया है। इसी कारण इन्हें देवनदी भी कहा जाता है। इन दोनों देव नदियों के बीच का प्रदेश विद्वानों द्वारा 'ब्रह्मावर्त' के नाम से कहा जाता है। इस प्रदेश का निर्माण भी देवताओं द्वारा किया गया है। अतः इसकी उत्कृष्टता स्वतः सिद्ध है।

विशेष—1. कुल्लूक भट्ट ने देवनदी और देवनिर्मित शब्दों के दो शब्द को इन नदियों एवं प्रदेश की उत्कृष्टता के अर्थ की अभिव्यक्ति के लिए प्रयुक्त माना है।

2. देवनिर्मित होने से स्थान की पवित्रता तथा धर्मानुष्ठान की योग्यता की अभिव्यञ्जना भी हो रही है।

3. सरस्वती = सरस्वत् + ङीप्।

4. सरस्वती दृषद्वत्योः = सरस्वती च दृषद्वती च तयोः (द्वन्द्व समास)।

मन्वर्थमुक्तावली—धर्मस्य स्वरूपं प्रमाणं परिभाषां चोक्त्वा इदानीं धर्मानुष्ठानयोग्यदेशानाह—सरस्वतीति॥ सरस्वतीदृषद्वत्योर्नद्योरुभयोर्मध्यं ब्रह्मावर्तं देशमाहुः। देवनदीदेवनिर्मितशब्दौ नदीदेशप्राशस्त्यार्थौ॥ 17॥

ब्रह्मावर्त प्रदेश की आचार के सम्बन्ध में प्रामाणिकता का उल्लेख करते हैं—

तस्मिन्देशे य आचारः पारंपर्यक्रमागतः।
वर्णानां सान्तरालानां स सदाचार उच्यते॥ 18॥

अन्वय—तस्मिन् देशे वर्णानाम् सान्तरालानाम् पारम्पर्यक्रमागतः यः आचारः (वर्तते), सः सदाचारः उच्यते॥ 18॥

अनुवाद—उस प्रदेश में सभी वर्णों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र) का एवं वर्ण संकर जातियों का परम्परा से प्राप्त जो आचरण है, वही सदाचार कहा जाता है।

'चन्द्रिका'—देवनिर्मित उस पवित्र ब्रह्मावर्त प्रदेश में रहने वाले सभी वर्णों, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों के द्वारा तथा अन्य वर्ण संकर जाति के लोगों द्वारा कुल परम्परा द्वारा किया गया जो दैनिक आचरण एवं व्यवहार है, उसी को विद्वानों ने सदाचार की संज्ञा प्रदान की है। कहने का तात्पर्य यह है कि आचार के विषय में ब्रह्मावर्त प्रदेश के व्यक्ति एक आदर्श उदाहरण है, वे कोई भी धर्म विरुद्ध आचरण नहीं करते हैं।

विशेष—1. आचरण के विषय में ब्रह्मावर्त प्रदेश को एक आदर्श उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया गया है।

2. आचारः = आ + √ चर् + घञ्। सदाचारः = सत् + आ + √ चर् + घञ्।

3. सान्तराल शब्द का प्रयोग वर्णसंकर जातियों के लिए हुआ है।

मन्वर्थमुक्तावली—तस्मिन्देश इति ॥ तस्मिन्देशे प्रायेण शिष्टानां संभवात्तेषां ब्राह्मणादि-वर्णानां संकीर्णजातिपर्यन्तानां य आचारः पारंपर्यक्रमागतो न त्विदानींतनः स सदाचारोऽभिधीय-ते॥ 18 ॥

पुनः ब्रह्मर्षि प्रदेशों का वर्णन करते हैं—

> **कुरुक्षेत्रं च मत्स्याश्च पञ्चालाः शूरसेनकाः।**
> **एष ब्रह्मर्षिदेशो वै ब्रह्मावर्तादनन्तरः ॥ 19 ॥**

अन्वय—कुरुक्षेत्रम् मत्स्याः च पाञ्चालाः च शूरसेनकाः, एषः वै ब्रह्मावर्तात् अनन्तरः ब्रह्मर्षि, देशः (प्रचक्षते) ॥ 19 ॥

अनुवाद—कुरुक्षेत्र, मत्स्य, पाञ्चाल और शूरसेन प्रदेश यही ब्रह्मावर्त के बाद गिने जाने वाले ब्रह्मर्षि प्रदेशों के (नाम से प्रसिद्ध हैं)।

'चन्द्रिका'—ब्रह्मावर्त प्रदेश का उल्लेख करने के बाद ग्रन्थकार ने उसकी अपेक्षा कम महत्त्व रखने वाले ब्रह्मर्षि प्रदेशों का उल्लेख करते हुए कुरुक्षेत्र, मत्स्य प्रदेश, पाञ्चाल प्रदेश तथा शूरसेन इन चारों को गिनाया है।

विशेष—1. ब्रह्मर्षि प्रदेश धर्मशास्त्रीय दृष्टि से ब्रह्मावर्त प्रदेश की अपेक्षा कम महत्त्व रखता है। इसी कारण इसे ब्रह्मावर्त के पश्चात् गिनाया गया है। यही अभिप्राय—कुल्लूक भट्ट, मेधातिथि, नन्दन, रामचन्द्र, मणिराम तथा गोविन्दराज ने भी लिया है।

2. पाञ्चाल प्रदेश पंजाब अथवा कन्नौज का समीपवर्ती प्रदेश है तथा शूरसेन प्रदेश वर्तमान मथुरा क्षेत्र के अन्तर्गत रहा है।

मन्वर्थमुक्तावली—कुरुक्षेत्रमिति ॥ मत्स्यादिशब्दा बहुवचनान्ता एव देशविशेषवा-चकाः। पञ्चालाः कान्यकुब्जदेशाः। शूरसेनका मथुरादेशाः। एष ब्रह्मर्षिदेशो ब्रह्मावर्तात्किंचिदूनः ॥ 19 ॥

ब्रह्मावर्त और ब्रह्मर्षि प्रदेशों की आचरण विषयक प्रामाणिकता का उल्लेख करते हैं—

> **एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।**
> **स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन्पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥ 20 ॥**

अन्वय—एतत् देशप्रसूतस्य अग्रजन्मनः सकाशात् पृथिव्याम् सर्वमानवाः स्वम् स्वम् चरित्रम् शिक्षेरन् ॥ 20 ॥

अनुवाद—इस क्षेत्र में उत्पन्न ब्राह्मण के सान्निध्य से पृथिवी पर सभी मनुष्य अपने अपने आचरण की शिक्षा ग्रहण करें।

'चन्द्रिका'—ब्रह्मावर्त एवं ब्रह्मर्षि प्रदेशों में जिन ब्राह्मणों ने जन्म ग्रहण किया वे सभी सदाचारी एवं शास्त्रानुकूल अचारण करने वाले हैं। अतः सम्पूर्ण पृथ्वी के अन्य लोगों को इन ब्राह्मणों के मार्गदर्शन तथा सान्निध्य से अपनी-अपनी आचार विषयक शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए। अर्थात् इन प्रदेशों में निवास करने वाले ब्राह्मण आचार, व्यवहार की दृष्टि से आदर्श हैं।

विशेष—1. यहाँ प्रस्तुत 'एतत् देश' का अभिप्राय ब्रह्मावर्त तथा चारों देश जिन्हें ब्रह्मर्षि देश कहा गया है, इन दोनों से लेना चाहिए सर्वज्ञ नारायण एवं कुल्लूक भट्ट ने भी यही अर्थ किया है। "एतत्पदेन ब्रह्मावर्तस्यापि ग्रहणम्।"

2. ब्रह्मावर्त एवं ब्रह्मर्षि देश आचरण की दृष्टि से प्रशंसनीय हैं। अतः अनुकरणीय हैं।

3. प्रदेशों की श्रेष्ठता के साथ-साथ चारों वर्णों में इस क्षेत्र के ब्राह्मणों की उत्कृष्टता भी प्रतिपादित की गई है।

मन्वर्थमुक्तावली—एतद्देश इति॥ कुरुक्षेत्रादिदेशजातस्य ब्राह्मणस्य सकाशात्सर्वमनुष्या आत्मीयमात्मीयमाचारं शिक्षेरन्॥ 20॥

पुनः मध्यदेश को परिभाषित करते हैं—

हिमवद्विन्ध्ययोर्मध्यं यत्प्राग्विनशनादपि।
प्रत्यगेव प्रयागाच्च मध्यदेशः प्रकीर्तितः॥ 21॥

अन्वय—हिमवद्विन्ध्ययोः मध्यम यत् (स्थानम्) विनशनात् अपि प्राक्, प्रयागात् च प्रत्यक् एव (प्रदेशः) मध्यदेशः प्रकीर्तितः॥ 21॥

अनुवाद—हिमालय और विन्ध्य पर्वतों के बीच जो (स्थान) विनशन नामक स्थान से पूर्व की ओर एवं प्रयाग से पश्चिम की ओर हो, वह प्रदेश 'मध्यदेश' कहा गया है।

'चन्द्रिका'—मध्यदेश की भौगोलिक स्थिति को स्पष्ट करते हुए कहते हैं—कि हिमालय पर्वत एवं विन्ध्य पर्वत के बीच में जो स्थान स्थित है तथा जिस स्थान पर सरस्वती नदी लुप्त हुई है, उसकी पूर्व दिशा में स्थित एवं प्रसिद्ध तीर्थ प्रयाग से पश्चिम की ओर स्थित प्रदेश ही 'मध्य देश' के नाम से कहा जाता है।

विशेष—1. वस्तुतः मध्यदेश के पूर्व दिशा में प्रयाग, पश्चिम दिशा में लुप्त हुई सरस्वती, उत्तर में हिमालय और दक्षिण में विन्ध्य पर्वत स्थित है।

2. यहाँ प्रयुक्त विनशनात् से अभिप्राय उस स्थान से है जहाँ सरस्वती नदी लुप्त हो गई है।

3. प्रकीर्तितः = प्र + √ कॄ + क्तिन् + क्त (प्रकृष्ट रूप से कहा गया)।

मन्वर्थमुक्तावली—हिमवदिति॥ उत्तरदक्षिणदिगवस्थितौ हिमवद्विन्ध्यौ पर्वतौ तयोर्यन्मध्यं विनशनात्सरस्वत्यन्तर्धानदेशाद्यत्पूर्वं प्रयागाच्च यत्पश्चिमं स मध्यदेशनामा देशः कथितः॥ 21॥

तदनन्तर आर्यावर्त को इंगित करते हुए कहते हैं—

आ समुद्रात्तु वै पूर्वादासमुद्रात्तु पश्चिमात्।
तयोरेवान्तरं गिर्योरार्यावर्तं विदुर्बुधाः ॥ 22 ॥

अन्वय—तु पूर्णात् समुद्रात् आ, पश्चिमात् समुद्रात् आ, तयोः एव गिर्योः अन्तरम् बुधाः आर्यावर्तम् वै विदुः ॥ 22 ॥

अनुवाद—किन्तु पूर्वी समुद्र से लेकर, पश्चिम समुद्र तक फैला हुआ तथा उन्हीं हिमालय और विन्ध्य पर्वतों के बीच (स्थित प्रदेश को) विद्वान् लोग आर्यावर्त के रूप में ही जानते हैं।

'चन्द्रिका'—इसके अतिरिक्त पूर्व में समुद्र से लेकर पश्चिम में स्थित समुद्र तक हिमालय पर्वत और विन्ध्य पर्वतों के बीच के विस्तृत भू-भाग में फैला हुआ प्रदेश विद्वानों द्वारा आर्यावर्त के नाम से कहा गया है। अर्थात् इस विस्तृत भू प्रदेश को विद्वानों ने आर्यावर्त नाम दिया है।

विशेष—1. आर्यावर्त की विस्तृत भौगोलिक सीमाओं का निर्देश किया गया है।

2. आसमुद्रात् में प्रयुक्त आङ् उपसर्ग 'मर्यादा' अर्थ में प्रयुक्त हुआ है अभिविधि अर्थ में नहीं। कुल्लूक भट्ट ने भी इसी बात की पुष्टि की है।

"मर्यादायामयमाङ् नाभिविधौ।"

3. कुल्लूक भट्ट ने समुद्र के मध्य स्थित द्वीपों को आर्यावर्त कहने से निषेध किया है। (तेन समुद्रमध्य द्वीपानां नार्यवर्तता। कुल्लूक भट्ट)।

4. आर्यावर्तः = आर्याः अत्र आवर्तन्ते पुनः पुनः उद्भवन्ति, इति।

5. विदुः = √ विद् + झि (लट् लकार, प्रथम पुरुष, बहुवचन) (जानते हैं)।

मन्वर्थमुक्तावली—आ समुद्रात्त्विति॥ आ पूर्वसमुद्रात् आ पश्चिमसमुद्राद्धिमवद्विन्ध्ययोश्च यन्मध्यं तमार्यावर्तदेशं पण्डिता जानन्ति। मर्यादायामयमाङ् नाभिविधौ। तेन समुद्रमध्यद्वीपानां नार्यावर्तता। आर्या अत्रावर्तन्ते पुनःपुनरुद्भवन्तीत्यार्यावर्तः ॥ 22 ॥

तत्पश्चात् यज्ञ के योग्य प्रदेशों का उल्लेख करते हैं—

कृष्णसारस्तु चरति मृगो यत्र स्वभावतः।
स ज्ञेयो यज्ञियो देशो म्लेच्छदेशस्त्वतः परः ॥ 23 ॥

अन्वय—तु कृष्णसारः मृगः यत्र स्वभावतः चरति, सः देशः यज्ञियः ज्ञेयः, अतः परः तु म्लेच्छदेशः (वर्तते) ॥ 23 ॥

अनुवाद—किन्तु कृष्णसार नामक मृग जहाँ इच्छानुसार विचरण करता है। वह प्रदेश यज्ञ के योग्य जानना चाहिए। इससे भिन्न भू प्रदेश तो म्लेच्छ ही हैं।

'चन्द्रिका'—जिस प्रदेश में कृष्णसार मृग अपनी इच्छा के अनुसार निर्भीक रूप

से स्वतन्त्रतापूर्वक विचरण करता है, वहीं भूभाग यज्ञ के योग्य होता है। अर्थात् जिस प्रदेश में कृष्णसार मृग का वध नहीं किया जाता वही यज्ञ के योग्य प्रदेश होता है। उस प्रदेश में किया गया यज्ञ फल देने वाला होता है, किन्तु जहाँ कृष्णसार मृग का वध किया जाता है, वह म्लेच्छ प्रदेश है। अत: यज्ञ की दृष्टि से त्याज्य है।

विशेष—1. कृष्णसार: = चितकबरा काला मृग। कालिदास ने भी अभिज्ञानशाकुन्तलम् में तपोवन के प्रसंग में इसका उल्लेख किया है—

"कृष्णसारे ददच्चक्षु: त्वयि चाधिज्यकार्मुके (1/6)।"

2. स्वभावत: = स्वभाव + तसिल्, स्वभाव से, स्वेच्छया।

3. यज्ञिय: = यज्ञ + घ, यज्ञाय हित:, यज्ञ के लिए उपयुक्त।

4. ज्ञेय: = √ ज्ञा + यत्, जानना चाहिए।

5. म्लेच्छ देश यहाँ यज्ञ की दृष्टि से अपवित्र प्रदेशों के लिए प्रयुक्त हुआ है।

मन्वर्थमुक्तावली—कृष्णसारस्त्विति॥ कृष्णसारो मृगो यत्र स्वभावतो वसति न तु बलादानीत: स यज्ञार्हो देशो ज्ञातव्य:। अन्यो म्लेच्छदेशो न यज्ञार्ह इत्यर्थ: ॥ 23 ॥

इसके बाद द्विजों के निवास योग्य प्रदेशों का कथन करते हुए कहते हैं—

एतान्द्विजातयो देशान्संश्रयेरन्प्रयत्नत:।
शूद्रस्तु यस्मिन्कस्मिन्वा निवसेद्वृत्तिकर्शित: ॥ 24 ॥

अन्वय—द्विजातय: प्रयत्नत: एतान् देशान् संश्रयेरन्। वृत्तिकर्षित: शूद्र: तु यस्मिन् कस्मिन् वा देशे निवसेत् ॥ 24 ॥

अनुवाद—द्विज (ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य) प्रयत्नपूर्वक इन प्रदेशों (ब्रह्मावर्त, ब्रह्मर्षि देश, मध्यदेश और आर्यावर्त) में निवास करें। आजीविका से पीडित होकर शूद्र तो जिस किसी भी देश में निवास कर सकता है।

'चन्द्रिका'—अभी जिन ब्रह्मावर्त, ब्रह्मर्षि देश, मध्य देश और आर्यावर्त प्रदेशों का उल्लेख किया गया है, इन प्रदेशों में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य इन द्विजों को निवास करने का भरसक प्रयास करना चाहिए, क्योंकि ये धर्मप्रधान प्रदेश हैं, ऋषियों की भूमियाँ हैं। इसके विपरीत चतुर्थ वर्ण शूद्र जो संस्कार न किए जाने के कारण द्विज की श्रेणी में नहीं आते हैं। उन्हें तो जहाँ भी आजीविका की व्यवस्था हो, वहीं रहना चाहिए। अर्थात् शूद्र के लिए प्रदेश विशेष के निवास की अनिवार्यता नहीं है।

विशेष—1. द्विजातय: = शब्द ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य तीनों वर्णों के लिए प्रयुक्त हुआ है, क्योंकि इन तीनों वर्णों के ही संस्कार का विधान किया गया है। सम्पूर्ण मनुस्मृति में द्विज इनके लिए ही प्रयुक्त हुआ है।

2. संश्रयेरन् = सम् + √ श्रि + झ (आत्मनेपदी, विधिलिङ्ग लकार, प्रथम पुरुष बहुवचन)।

3. प्रयत्नतः = प्र + √ यत् + ल्युट् + तसिल् = प्रयत्नपूर्वक।

4. वृत्तिकार्शितः = वृत्तिना कार्शितः (तृतीया तत्पुरुष)।

मन्वर्थमुक्तावली—एतानिति॥ अन्यदेशोद्भवा अपि द्विजातयो यज्ञार्थत्वाददृष्टार्थत्वाच्चैतान्देशान्प्रयत्नादाश्रयेरन्। शूद्रस्तु वृत्तिपीडितो वृत्त्यर्थमन्यदेशमप्याश्रयेत्॥ 24॥

धर्म-मूल का कथन करने के पश्चात् वर्ण-धर्म का ऋषियों को उपदेश देते हुए कहते हैं—

एषा धर्मस्य वो योनिः समासेन प्रकीर्तिता।
संभवश्चास्य सर्वस्य वर्णधर्मान्निबोधत॥ 25॥

अन्वय—एषा धर्मस्य योनिः अस्य सर्वस्य सम्भवः वः समासेन प्रकीर्तिता च वर्णधर्मान् निबोधत॥ 25॥

अनुवाद—यह धर्म का मूलाधार और इस सम्पूर्ण विश्व की उत्पत्ति मेरे द्वारा आपसे संक्षेप में कही गई और अब आप सब मुझसे वर्णों के धर्मों को सुनो।

'चन्द्रिका'—आचार्य मनु के आदेशानुसार भृगु ऋषि महर्षियों से कहते हैं—कि अब तक हमने आप लोगों को धर्म के मूलाधार अथवा कारण स्वरूप वेद, स्मृति, सदाचरण और आत्मसन्तुष्टि एवं इस सम्पूर्ण संसार की उत्पत्ति का विस्तार से कथन किया। अब हम आप से सभी वर्णों के धर्मों का कथन करेंगे, हमसे ध्यानपूर्वक इन्हें समझिए।

विशेष—1. यहाँ प्रयुक्त वर्णधर्म से अभिप्राय ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चारों वर्णों के आश्रम-धर्म, गुण-धर्म, नैमित्तिधर्म आदि से लेना चाहिए। जिनका भविष्य पुराण में विस्तार से उल्लेख किया गया है। कुल्लूक भट्ट ने इसको टीका में उद्धृत किया है।

2. धर्म की योनि से अभिप्राय धर्म के मूलाधार से है।

3. सृष्टि उत्पत्ति का कथन मनुस्मृति के प्रथम अध्याय में किया गया है।

मन्वर्थमुक्तावली—एषा धर्मस्येति॥ एषा युष्माकं धर्मस्य योनिः संक्षेपेणोक्ता। योनिर्ज्ञेप्तिकारणं 'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्' इत्यादिनोक्तमित्यर्थः। गोविन्दराजस्त्विह धर्मशब्दोऽपूर्वाख्यात्मकधर्मे वर्तत इति विद्वद्भिः सेवित इत्यत्र तत्कारणेऽष्टकादौ वा पूर्वाख्यस्य धर्मस्य योनिरिति व्याख्यातवान्। संभवश्चोत्पत्तिर्जगत इत्युक्ता। इदानीं वर्णधर्माञ्छृणुत। वर्णधर्मशब्दश्च वर्णधर्माश्रमधर्मवर्णाश्रमधर्मगुणधर्मनैमित्तिकधर्माणामुकलक्षकः। ते च भविष्यपुराणोक्ताः—'वर्णधर्मः स्मृतस्त्वेक आश्रमाणामतः परम्। वर्णाश्रमस्तृतीयस्तु गौणो नैमित्तिकस्तथा॥ वर्णत्वमेकाश्रित्य यो धर्मः संप्रवर्तते। वर्णधर्मः स उक्तस्तु यथोपनयनं नृप॥ यस्त्वाश्रमं समाश्रित्य अधिकारः प्रवर्तते। स खल्वाश्रमधर्मस्तु भिक्षादण्डादिको यथा॥ वर्णत्वमाश्रमत्वं च योऽधिकृत्य प्रवर्तते। स वर्णाश्रमधर्मस्तु मौञ्जीया मेखला यथा॥ यो गुणेन प्रवर्तेत गुणधर्मः स उच्यते। यथा मूर्धाभिषिक्तस्य प्रजानां परिपालनम्॥ निमित्तमेकमाश्रित्य यो धर्मः संप्रवर्तते। नैमित्तिकः स विज्ञेयः प्रायश्चित्तविधिर्यथा॥ 25॥'

वेदानुकूल संस्कारों के फल का कथन करते हैं—

वैदिकैः कर्मभिः पुण्यैर्निषेकादिर्द्विजन्मनाम्।
कार्यः शरीरसंस्कारः पावनः प्रेत्य चेह च॥ 26॥

अन्वय—पुण्यैः वैदिकैः कर्मभिः द्विजन्मनाम् निषेकादिः शरीरसंस्कारः कार्यः, इह प्रेत्य च पावनः॥ 26॥

अनुवाद—पवित्र वेदानुकूल कर्मों के द्वारा द्विजातियों के गर्भाधान आदि शरीर संस्कार करने चाहिएँ। इससे व्यक्ति इस लोक और मरकर परलोक में भी पवित्र होता है।

'चन्द्रिका'—ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य इन द्विज वर्णों के गर्भाधानादि शास्त्रों में कहे गए सोलह संस्कार पवित्र वैदिक मन्त्रों के प्रयोग के साथ अवश्य करने चाहिएँ, क्योंकि इन संस्कारों के करने से व्यक्ति के पातकों का क्षय हो जाता है तथा वह इस लोक एवं मरने के पश्चात् परलोक में भी पवित्र बना रहता है, क्योंकि संस्कार पातकों का क्षय करने वाले होते हैं।

विशेष—1. द्विज वर्ण के लिए संस्कारों का विधान किया गया है। द्विज वर्णों के अन्तर्गत शूद्र की गणना नहीं की जाती है। आचार्य मनु के अनुसार शूद्र को संस्कारों की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि वह पातक से प्रभावित नहीं होता है—

न शूद्रे पातकं किञ्चन्न च संस्कारमर्हति (10/126)

2. निषेकादि में निषेक से अभिप्राय गर्भाधान संस्कार से है तथा आदि शब्द शेष पन्द्रह संस्कारों के लिए प्रयुक्त हुआ है।

3. शरीर संस्कारः = शरीरस्य संस्कारः, सम् + √ कृ + घञ्।

4. प्रेत्य = प्र + √ इण् + ल्यप्, मरकर।

मन्वर्थमुक्तावली—वैदिकैरिति॥ वेदमूलत्वाद्वैदिकैः पुण्यैः शुभैर्मन्त्रयोगादिकर्मभिः द्विजातीनां गर्भाधानादिशरीरसंस्कारः कर्तव्यः। पावनः पापक्षयहेतुः। प्रेत्य परलोके संस्कृतस्य यागादिफलसम्बन्धात्, इह लोके च वेदाध्ययनाद्यधिकारात्॥ 26॥

गर्भाधानादि संस्कारों के उद्देश्य का कथन करते हैं—

गार्भैर्होमैर्जातकर्मचौडमौञ्जीनिबन्धनैः।
बैजिकं गार्भिकं चैनो द्विजानामपमृज्यते॥ 27॥

अन्वय—गार्भैः, होमैः, जातकर्म-चौड-मौञ्जीनिबन्धनैः द्विजानाम् गार्भिकम् बैजिकम् च एनः अपमृज्यते॥ 27॥

अनुवाद—गर्भ के समय किए जाने वाले संस्कारों से, यज्ञ कर्मों से, जातकर्म संस्कार से, चूडाकरण संस्कार से मौञ्जीबन्धन (उपनयन) संस्कारों के द्वारा द्विजवर्णों के गर्भ विषयक तथा बीज विषयक दोष मिट जाते हैं।

'चन्द्रिका'—गर्भ धारण से लेकर जन्म से पूर्व किए जाने वाले संस्कारों के द्वारा, संस्कारों के अवसर कर किए जाने वाले यज्ञों द्वारा, जातकर्म संस्कार, मुण्डन संस्कार एवं उपनयन संस्कारों द्वारा द्विज वर्ण ब्राह्मण, क्षत्रिय, और वैश्यों के सभी माता के गर्भ में निवास के कारण उत्पन्न होने वाले गार्भिक दोष एवं निषिद्ध मैथुन आदि करने के कारण एवं पैतृक परम्परया प्राप्त होने वाला वीर्य के दोष के कारण उत्पन्न बैजिक दोष दोनों ही समाप्त हो जाते हैं।

विशेष—1. द्विजों के गर्भ एवं वीर्य सम्बन्धी दोषों को दूर करने के लिए ही धर्मशास्त्रीय साहित्य में संस्कारों का विधान किया गया है।

2. गार्भैः — "ये गर्भशुद्ध्यर्थं क्रियन्ते ते गार्भाः, तैः।" जो संस्कार गर्भ की शुद्धि के लिए किए जाते हैं।

3. कुल्लूक भट्ट ने यहाँ प्रयुक्त होम को उपलक्षण माना है—**होम ग्रहणमुपलक्षणम्।**

4. गर्भाधानानि संस्कारों में होम का विधान नहीं है। अतः वे अहोम रूप हैं।

5. बैजिक और गार्भिक दोषों का विनाश उपनयन तक किए जाने वाले संस्कारों के द्वारा होता है। अतः यहाँ उनकी उपयोगिता पर प्रकाश पड़ता है।

6. याज्ञवल्क्य ने भी संस्कारों द्वारा दोषों के दूर होने का कथन किया है—

एवमेनः शमं याति बीजगर्भसमुद्भवम् (आचार अध्याय/13)

7. एनः यहाँ 'दोषः' अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। टीकाकारों ने इसका 'पाप' अर्थ किया है।

मन्वर्थमुक्तावली—कुतः पापसंभवो येनैषां पापक्षयहेतुत्वमत आह—गार्भैरिति॥ ये गर्भशुद्धये क्रियन्ते ते गार्भाः। होमग्रहणमुपलक्षणम्। गर्भाधानादेरहोमरूपत्वात्। जातस्य यत्कर्म मन्त्रवत्सर्पिःप्राशनादिरूपं तज्जातकर्म। चौडं चूडाकरणकर्म। मौञ्जीनिबन्धनमुपनयनम्। एतैर्बैजिकं प्रतिषिद्धमैथुनसंकल्पादिना पैतृकरेतोदोषाद्यद्यत्पापं गार्भिकं चाशुचिमातृगर्भवासजं तद्द्विजातीनामपमृज्यते॥ 27॥

इस धर्मशास्त्र के अनन्तः प्रयोजन का कथन करते हैं—

स्वाध्यायेन व्रतैर्होमैस्त्रैविद्येनेज्यया सुतैः।
महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः॥ 28॥

अन्वय—इयम् तनुः स्वाध्यायेन, व्रतैः, होमैः, त्रैविद्येन, इज्यया, सुतैः, महायज्ञैः, यज्ञैः च ब्राह्मी क्रियते॥ 28।

अनुवाद—यह शरीर स्वाध्याय से, व्रतों से, हवनों से, त्रैविद्य नामक व्रत से, दान द्वारा, पुत्रों द्वारा, महायज्ञों और यज्ञों द्वारा मोक्ष के योग्य बनाया जाता है।

'चन्द्रिका'—ब्राह्मण अपने शरीर को मोक्ष के योग्य किन साधनों से बनाता है उसका कथन करते हुए कहते हैं, वेद शास्त्रों के निरन्तर अध्ययन से, निषिद्ध कर्मों को

न करने के व्रतों का पालन करके, अग्नि में मन्त्रोच्चारणपूर्वक द्रव्य का परित्याग करते हुए हवन करके, गुरु के पास वेदार्थज्ञान पर्यन्त ब्रह्मचर्यपूर्वक निरन्तर दीर्घकाल तक निवास करके (त्रैविद्य), ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए देवताओं, ऋषियों एवं पितरों को तर्पण प्रदान करते हुए, (इज्या), सन्तान की उत्पत्ति से, महायज्ञों का अनुष्ठान करके, सामान्य यज्ञों का आयोजन करके विद्वान्, मोक्ष-कामी व्यक्ति अपने शरीर को मोक्ष के योग्य बनाता है।

विशेष—1. प्रस्तुत श्लोक में प्रयुक्त शब्दों का विशेष अर्थों में प्रयोग हुआ है। वस्तुतः यहाँ धर्मशास्त्रीय दृष्टि से पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग हुआ है।

2. स्वाध्याय यहाँ सामान्य अध्ययन अर्थ में नहीं, अपितु 'वेदाध्ययन' के लिए प्रयुक्त हुआ है। कूल्लूक भट्ट ने यही अर्थ किया है।

3. व्रत से अभिप्राय मदिरा, मांसादि, निषिद्ध कर्मों को त्यागने के नियम से है—**व्रतै र्मधुमांसवर्जनादि नियमैः (कूल्लूक)**।

4. मेधातिथि ने इसे ब्रह्मचारी द्वारा वेद की शाखा विशेष के अध्ययन हेतु किया गया व्रत माना है—"**सावित्रादिभि र्ब्रह्मचारिकर्तृकैः।**"

5. मार्कण्डेय स्मृति में मन्त्रोच्चारणपूर्वक अग्नि में द्रव्य का परित्याग ही होम माना है—

स्वाहा शब्देन होमः स्यात् अत्र पानं स्मृतं किल।
यथा कथंचिद् द्रव्यस्य त्यागो होम इतीरितः बुधैः॥

6. **त्रैविद्येन** = तिसृणां विद्यानां समाहारः त्रैविद्यम्, तेन त्रैविद्येन (द्विगु समास) अथवा तिस्रो विद्या यस्येति त्रैविद्यः तेन त्रैविद्येन—तीन विद्याओं का ज्ञाता।

7. कुल्लूक भट्ट ने इसे विशिष्ट व्रत माना है जो ब्रह्मचारी द्वारा वेदार्थज्ञान पर्यन्त दीर्घावधि तक गुरु के समीप रह कर पालन किया जाता है। मनु भी इस विषय में कहते हैं—

षट्त्रिंशदाब्दिकं चर्यंगुरौ त्रैवेदिकं व्रतम्।
तदार्धिकं पादिकं वा ग्रहणान्तिकमेव वा॥ (3/1)

8. मेधातिथि इस व्रत में तीनों वेदों के अर्थज्ञान को प्रमुख मानते हैं—

"त्रयाणां वेदानामध्ययनेनेत्यर्थः॥"

9. आचार्य याज्ञवल्क्य ने लौकिक, वैदिक एवं आध्यात्मिक तीनों को त्रैविद्य के रूप में स्वीकार किया है—

चत्वारो वेदधर्मज्ञाः पर्षत्त्रैविद्यमेव वा।
सा ब्रूते यं सः धर्मः स्यादेको वाऽध्यात्मवित्तमः॥ 1/9॥

10. आचार्य मनु ने ब्रह्मयज्ञ, पितृयज्ञ, देवयज्ञ, भूतयज्ञ तथा अतिथियज्ञ इन पाँच महायज्ञों का उल्लेख किया है—

अध्यापनं ब्रह्मयज्ञं, पितृयज्ञस्तु तर्पणम्।
होमो दैवो बलि भौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम्॥ 3/60॥

कात्यायन ने भी इन्हीं को महायज्ञ माना है।

11. मोक्ष की प्राप्ति सभी प्रकार के ऋणों से मुक्त होने पर ही सम्भव है और इन यज्ञों का प्रयोजन भी विविध प्रकार के ऋणों से मुक्ति है। इसीलिए मोक्ष के लिए पञ्च महायज्ञों को अनिवार्य माना गया है।

मन्वर्थमुक्तावली—स्वाध्यायेनेति॥ वेदाध्ययनेन। व्रतैर्मधुमांसवर्जनादिनियमैः। होमैः सावित्रचरुहोमादिभिः सायंप्रातर्होमैश्च। त्रैविद्याख्येन च। व्रतेष्वप्राधान्यादस्य पृथगुपन्यासः। इज्यया ब्रह्मचर्यावस्थायां देवर्षिपितृतर्पणरूपया, गृहस्थावस्थायां पुत्रोत्पादनेन। महायज्ञैः पञ्चभिर्ब्रह्मयज्ञादिभिः। यज्ञैर्ज्योतिष्टोमादिभिः। ब्राह्मी ब्रह्मप्राप्तियोग्येयं तनुः तन्ववच्छिन्न आत्मा क्रियते। कर्मसहकृतब्रह्मज्ञानेन मोक्षावाप्तेः॥ 28॥

तत्पश्चात् द्विज के किए जाने वाले संस्कारों का उल्लेख करते हुए जातकर्म संस्कार को कहते हैं—

प्राङ्नाभिवर्धनात्पुंसो जातकर्म विधीयते।
मन्त्रवत्प्राशनं चास्य हिरण्यमधुसर्पिषाम्॥ 29॥

अन्वय—नाभिवर्धनात् प्राक् पुंसः जातकर्म विधीयते च अस्य हिरण्यमधुसर्पिषाम् मन्त्रवत् प्राशनम् (कारयेत्)॥ 29॥

अनुवाद—नालच्छेदन से पहले पुरुष का जातकर्म संस्कार किया जाता है और इसे सोने की सलाई से शहद और घी लगाकर वेदमन्त्रोच्चारणपूर्वक चटाया जाता है।

व्याख्या—पुरुष सन्तान के जन्म के पश्चात् उसकी नाल काटने से पहले नवजात शिशु के जातकर्म संस्कार का विधान किया गया है। इस अवसर पर शिशु का पिता स्वर्ण निर्मित शलाका पर घृतमिश्रित शहद लगाकर वेदमन्त्रोच्चारण सहित बालक की जिह्वा पर 'ओ३म्' शब्द का उल्लेख करते हुए उसे शहद और घी चटाता है अर्थात् आस्वादन (प्राशन) कराता है।

विशेष—1. जातकर्म संस्कार बालक की नाल काटने से पूर्व किया जाता है।

2. यद्यपि यह संस्कार पिता द्वारा किए जाने का प्रावधान है, किन्तु आपत्काल में शिशु के दादा, ताऊ, चाचा आदि द्वारा भी किया जा सकता है।

3. श्लोक में प्रयुक्त 'पुंसः' शब्द का प्रयोग स्त्री सन्तान एवं नपुंसक सन्तति का निषेध करने के लिए हुआ है। मेधातिथि इस विषय में लिखते हैं—

पुंस इति स्त्रीनपुंसकव्यावृत्त्यर्थम्।'

4. कुल्लूक भट्ट ने पुंसः का अर्थ पुरुषस्य किया है।

5. श्लोक में प्रयुक्त वर्धन से अभिप्राय कर्तन से है, अमंगल सूचक होने से उसका प्रयोग न करके वृद्ध्यर्थक वर्धनात् का प्रयोग किया गया है।

मन्वर्थमुक्तावली—प्रागिति॥ नाभिच्छेदनात्प्राक् पुरुषस्य जातकर्माख्यः संस्कारः क्रियते। तदा चास्य स्वगृह्योक्तमन्त्रैः स्वर्णमधुघृतानां प्रशासनम्॥ 29॥

जातकर्म संस्कार के बाद नामकरण संस्कार का कथन करते हैं—

नामधेयं दशम्यां तु द्वादश्यां वास्य कारयेत्।
पुण्ये तिथौ मुहूर्ते वा नक्षत्रे वा गुणान्विते॥ 30॥

अन्वय—अस्य नामधेयम् तु दशम्याम् द्वादश्याम् वा पुण्ये तिथौ मुहूर्ते वा गुणान्विते नक्षत्रे वा कारयेत्॥ 30॥

अनुवाद—इस (बालक) का नामकरण संस्कार तो दसवें अथवा बारहवें वर्ष या पुण्य तिथि, मुहूर्त गुणवान् नक्षत्र में ही कराना चाहिए।

व्याख्या—नवजात पुरुष सन्तति के नामकरण संस्कार के विषय में ग्रन्थकार कहते हैं कि— इस संस्कार को जन्म से दसवें या बारहवें वर्ष करना चाहिए। साथ ही इसे करने से पूर्व पुण्यतिथि, शुभमुहूर्त तथा गुणवान् नक्षत्र का ज्योतिष शास्त्र की दृष्टि से अवश्य विचार कर लेना चाहिए, क्योंकि गुणवान् नक्षत्र का प्रभाव एवं गुण अवश्य ही सन्तति में समाहित होते हैं।

विशेष—1. ज्योतिष-शास्त्र के प्रति ग्रन्थकार की आस्था की प्रतीति हो रही है।

2. नामकरण संस्कार 10वें अथवा 12वें वर्ष में करने का प्रावधान किया गया है।

3. कारयेत् = √ कृ + णिच् + तिप् (विधिलिङ्ग, प्रथम पुरुष, एकचवन) करावे। यदि पिता न हो अथवा असमर्थ हो तो किसी अन्य के द्वारा यह संस्कार कराना चाहिए। कुल्लूक भट्ट ने इसका अर्थ 'स्वयं असमर्थ होने पर अन्य से कराने के लिए' किया है। (स्वयमसम्भवे कारयेत्)।

4. उत्तरार्द्ध में प्रयुक्त वा शब्द का प्रयोग 'निश्चय' अर्थ की अभिव्यक्ति के लिए हुआ है। (वा शब्दो अवधारणे - कुल्लूक)।

5. धर्मशास्त्रों में किसी भी क्रिया में तिथि, मुहूर्त एवं नक्षत्रादि का अत्यधिक महत्त्व स्वीकार किया गया है।

मन्वर्थमुक्तावली—नामधेयमिति। जातकर्मेति पूर्वश्लोके जन्मनः प्रस्तुतत्वाज्जन्मापेक्षयैव दशमे द्वादशे वाहनि अस्य शिशोर्नामधेयं स्वयमसंभवे कारयेत्। अथवा 'आशौचे तु व्यतिक्रान्ते नामकर्म विधीयते' इति शङ्खवचनाद्दशमेऽहन्यतीते एकादशाह इति व्याख्येयम्। तत्राप्यकरणे प्रशस्ते तिथौ प्रशस्त एव मुहूर्ते नक्षत्रे च गुणवत्येव ज्योतिषावगते कर्तव्यम्। वाशब्दोऽवधारणे॥ 30॥

नामकरण संस्कार कराते समय विविध वर्णों के नाम किस प्रकार के रखने चाहिए इसका कथन करते हुए कहते हैं—

मङ्गल्यं ब्राह्मणस्य स्यात्क्षत्रियस्य बलान्वितम्।
वैश्यस्य धनसंयुक्तं शूद्रस्य तु जुगुप्सितम्॥ 31॥

अन्वय—ब्राह्मणस्य मङ्गल्यम्, क्षत्रियस्य बलान्वितम्, वैश्यस्य धनसंयुक्तम् तु शूद्रस्य (नाम) जुगुप्सितम् (स्यात्) ॥ 31 ॥

अनुवाद—ब्राह्मण का (नाम) माङ्गलिक, क्षत्रिय का बल से युक्त, वैश्य का धन से युक्त, किन्तु शूद्र का नाम घृणायुक्त रखना चाहिए।

'चन्द्रिका'—चार वर्ण हैं—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। इनमें से यदि ब्राह्मण वर्ण के बालक का नामकरण संस्कार करना है तो उसका नाम कल्याणकारी अर्थात् मांगलिक रखना चाहिए। इसके अतिरिक्त क्षत्रिय शिशु का नाम बल-पराक्रमबोधक रखना चाहिए। जैसे भीम, सुयोधन, भीष्म आदि। वैश्यपुत्र का नाम धनयुक्त अर्थात् धन-ऐश्वर्यबोधक शब्दों से युक्त रखना चाहिए। जैसे—करोडीमल, वसुमान्, धनेश आदि। किन्तु इसके विपरीत शूद्र की सन्तान का नाम निन्दनीय जैसे—सुदास, अकिंचन आदि रखना चाहिए।

विशेष—1. विभिन्न वर्णों के नामकरण में उनके वर्ण की प्रतीति कराना मुख्य प्रयोजन प्रतीत होता है।

2. समाज के महत्त्वपूर्ण वर्ग शूद्र वर्ण के प्रति मनु की उपेक्षा वृत्ति की अभिव्यक्ति हो रही है।

3. मंगल्यम् के स्थान पर माङ्गल्यम् पाठ भी मिलता है। मेधातिथि ने इसका अर्थ—**'मङ्गलं धर्मः तत्साधनं मङ्गल्यम्।'** 'धर्म का साधन' किया है।

4. जुगुप्सितम् = √ गुप् + सन् + क्त + नपु. (घृणा से युक्त)।

मन्वर्थमुक्तावली—मङ्गल्यमिति ॥ ब्राह्मणादीनां यथाक्रमं मङ्गलबलधननिन्दावाचकानि शुभबलवसुदीनादीनि नामानि कर्तव्यानि ॥ 31 ॥

इसी विषय में अग्रिम श्लोक का कथन करते हैं—

शर्मवद् ब्राह्मणस्य स्याद्राज्ञो रक्षासमन्वितम्।
वैश्यस्य पुष्टिसंयुक्तं शूद्रस्य प्रेष्यसंयुतम् ॥ 32 ॥

अन्वय—ब्राह्मणस्य (नाम) शर्मवत्, राज्ञः रक्षासमन्वितम्, वैश्यस्य पुष्टिसंयुक्तम्, शूद्रस्य प्रेष्यसंयुतम् स्यात् ॥ 32 ॥

अनुवाद—ब्राह्मण का (नाम) शर्म पद से युक्त, क्षत्रिय का रक्षा-युक्त वैश्य का ऐश्वर्य (पुष्टि) पद से युक्त तथा शूद्र का दासता सूचक शब्द से युक्त होना चाहिए।

'चन्द्रिका'—पूर्व श्लोक के समान ही इसकी भी व्याखी समझनी चाहिए।

विशेष—1. वस्तुतः आचार्य मनु वर्णगत कार्यों के आधार पर ही नामकरण के भी पक्षधर हैं। जैसे ब्राह्मण का नाम विष्णु शर्मा, क्षत्रिय का महीपाल, वैश्य का वसुगुप्त या धनपाल, शूद्र का देवदास, धर्मधास आदि।

2. मेधातिथि ने शर्म का अर्थ शरण, आश्रय और सुख किया है—

'शर्म शरणमाश्रयः सुखञ्च।''

3. पुष्टिना संयुक्तम् = पुष्टिसंयुक्तम् (तृतीया तत्पुरुष) √ पुष् + क्तिन्। सम् + √ युज् + क्त।

4. प्रेष्य = प्र + √ इष् + ण्यत्।

मन्वर्थमुक्तावली—इदानीमुपपदनियमार्थमाह—शर्मवद्ब्राह्मणस्येति॥ एषां यथाक्रमं शर्मरक्षापुष्टिप्रैष्यवाचकानि कर्तव्यानि शर्मवर्मभूतिदासादीनि उपपदानि कार्याणि। उदाहरणानि तु शुभशर्मा, बलवर्मा, वसुभूतिः, दीनदासः इति। तथा च यमः—'शर्मदेवश्च विप्रस्य वर्मत्राता च भूभुजः। भूतिदत्तश्च वैश्यस्य दासः शूद्रस्य कारयेत्।' विष्णुपुराणेऽप्युक्तम्—'शर्मवद्ब्राह्मणस्योक्तं वर्मेति क्षत्रसंयुतम्। गुप्तदासात्मकं नाम प्रशस्तं वैश्यशूद्रयोः॥ 32॥'

स्त्रियों के नाम किस प्रकार के रखने चाहिएं, इसको प्रस्तुत करते हैं—

स्त्रीणां सुखोद्यमक्रूरं विस्पष्टार्थं मनोहरम्।
मङ्गल्यं दीर्घवर्णान्तमाशीर्वादाभिधानवत्॥ 33॥

अन्वय—स्त्रीणाम् (नाम) सुखोद्यम्, अक्रूरम्, विस्पष्टार्थम्, मनोहरम् मङ्गल्यम् दीर्घवर्णान्तम्, आशीर्वादाभिधानवत् (भवितव्यम्)॥ 33॥

अनुवाद—स्त्रियों का (नाम) सुखपूर्वक उच्चारण करने योग्य, कोमल वर्णों से युक्त, स्पष्ट अर्थ सम्पन्न, मन को अच्छा लगने वाला, मंगल भाव से युक्त, अन्त में दीर्घ वर्ण से युक्त (तथा) आशीर्वाद का वाचक होना चाहिए।

'चन्द्रिका'—किसी कन्या का नामकरण करते समय उसके नाम में कुछ बातों का विशेष ध्यान रखना चाहिए। उसका नाम बच्चे, बड़ों सभी के द्वारा सरलता से उच्चारण किया जा सके। शर्मिष्ठा आदि नाम सरलतापूर्वक नहीं बोले जा सकते हैं। अतः ऐसे नाम कन्याओं के नहीं रखने चाहिए। इसी प्रकार उनके नाम में मृदु वर्णों का प्रयोग किया जाना चाहिए, टवर्ग का कन्या के नाम में पूर्णतया निषेध है। नाम की सार्थकता एवं स्पष्टता भी अनिवार्य है। साथ ही वह नाम सुनकर मन को अच्छा लगे। इसके अतिरिक्त उससे मांगलिक अर्थ की अभिव्यक्ति भी हो तथा अन्त में दीर्घ स्वर का प्रयोग हुआ हो जैसे—सुखदा, सौभाग्यप्रदा इत्यादि। इस प्रकार उस कन्या के नाम से मानो आशीर्वाद की प्राप्ति हो रही हो।

विशेष—1. यद्यपि स्त्रियों के संस्कारों का आचार्य मनु ने वेदमन्त्रोच्चारण के साथ निषेध किया है, किन्तु नाम तो सभी को रखना ही होता है। इस दृष्टि से नाम के प्रति कुछ सावधानियों का यहाँ उल्लेख किया है।

2. अनर्गल, निरर्थक नाम का ग्रन्थकार ने निषेध किया है।

3. आधुनिक समय में 'मनुस्मृति' का अनेक अर्थों में हमारे जीवन में कोई योगदान नहीं है। नामकरण भी उनमें से एक है।

4. कुछ विद्वानों ने मङ्गल्य और आशीर्वाद दोनों को एक ही अर्थ में प्रयुक्त माना

है। उनके अनुसार इनमें एक का प्रयोग छन्द:पूर्ति के लिए हुआ है। जो उचित नहीं है, दोनों शब्द स्पष्टता भिन्नार्थक है।

5. अक्रूरम् — न क्रूरम् इति = कठोर भाव से रहित अर्थात् कोमलभाव युक्त।

मन्वर्थमुक्तावली—स्त्रीणामिति॥ सुखोच्चार्यमक्रूरार्थवाचि व्यक्ताभिधेयं मनःप्रीतिजननं मङ्गलवाचि दीर्घस्वरान्तं आशीर्वाचकेनाभिधानेन शब्देनोपेतं स्त्रीणां नाम कर्तव्यम्। यथा यशोदादेवीति॥ 33॥

नामकरण संस्कार के अनन्तर निष्क्रमण संस्कार का कथन करते हैं—

चतुर्थे मासि कर्तव्यं शिशोर्निष्क्रमणं गृहात्।
षष्ठेऽन्नप्राशनं मासि यद्वेष्टं मङ्गलं कुले॥ 34॥

अन्वय—चतुर्थे मासि शिशोः गृहात् निष्क्रमणम् कर्तव्यम्। षष्ठे मासि अन्नप्राशनम्, वा यत् कुले मङ्गलम् इष्टम् (कर्तव्यम्)॥ 34॥

अनुवाद—(जन्म से) चतुर्थ मास में शिशु का घर से बाहर निकालने सम्बन्धी (निष्क्रमण) संस्कार करना चाहिए (तथा) छठे महीने अन्नप्राशन संस्कार अथवा जब कुल में मंगलकारी हो एवं करना अभिप्रेत हो (तभी करने चाहिएँ)।

'चन्द्रिका'—शिशु का जन्म से चौथे महीने निष्क्रमण संस्कार करना चाहिए। इस संस्कार के अनुसार उसे घर से बाहर शुद्ध वायु में भ्रमण कराना तथा सूर्यदर्शन कराना चाहिए। तदनन्तर छठे महीने उसका अन्नप्राशन संस्कार किया जाता है। इस अवसर पर वह प्रथम बार अन्न ग्रहण करता है। इससे पूर्व उसका जीवन माता के दूध पर आश्रित होता है। अन्नप्राशन में बालक को खीरादि खाने के लिए दी जाती है।

दोनों संस्कारों की अवधि का उल्लेख करने के पश्चात् ग्रन्थकार इस विषय में उदारता प्रदर्शित करते हुए कहते हैं कि यह चौथा और छठा महीना इन दोनों संस्कारों के लिए अनिवार्य नहीं है, अपितु मांगलिक तिथि, नक्षत्र एवं सुविधा आदि की दृष्टि से जब परिवार जनों को अभिप्रेत हो तो थोड़ा आगे पीछे भी ये संस्कार किए जा सकते हैं।

विशेष—1. मेधातिथि ने श्लोक में प्रयुक्त शिशु शब्द से शूद्र के भी इन संस्कारों के कथन को स्वीकार किया है—**'शिशुग्रहणं शूद्रस्यापि प्राप्त्यर्थम्।'** जबकि शूद्र के संस्कारों का तो मनु ने सर्वत्र निषेध किया है।

2. कुल्लूक भट्ट ने निष्क्रमण का अर्थ शिशु को घर से बाहर लाकर सूर्य दिखाना किया है।

3. ये दोनों संस्कार वर्तमान समय में भी प्रायः किए जाते हैं।

मन्वर्थमुक्तावली—चतुर्थे मासीति॥ चतुर्थे मासे बालस्य जन्मगृहान्निष्क्रमणमादित्यदर्शनार्थं कार्यम्। अन्नप्राशनं च षष्ठे मासे। अथवा कुलधर्मत्वेन यन्मङ्गलमिष्टं तत्कर्तव्यं

तेनोक्तकालादन्यकालेऽपि निष्क्रमणम्। तथाच यमः—'ततस्तृतीये कर्तव्यं मासि सूर्यस्य दर्शनम्।' सकलसंस्कारशेष (विषय) श्चायम्। तेन नाम्नां शर्मादिकमप्युपपदं कुलाचारेण कर्तव्यम्॥ 34॥

तदनन्तर चूड़ाकर्म संस्कार का उल्लेख करते हैं—

चूडाकर्म द्विजातीनां सर्वेषामेव धर्मतः।
प्रथमेऽब्दे तृतीये वा कर्तव्यं श्रुतिचोदनात्॥ 35॥

अन्वय—सर्वेषाम् एव द्विजातीनाम् चूडाकर्म (संस्कारः) प्रथमे वा तृतीये अब्दे श्रुतिचोदनात् धर्मतः कर्तव्यम्॥ 35॥

अनुवाद—सभी द्विज वर्णों का चूडाकर्म (संस्कार) पहले अथवा तीसरे वर्ष वेदोक्त विधिपूर्वक धर्म के अनुसार करने चाहिएँ।

'चन्द्रिका'—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य इन तीन द्विज वर्णों में परिगणित शिशुओं का चूड़ाकर्म संस्कार वैदिक मन्त्रों का प्रयोग करते हुए धर्म द्वारा प्रदर्शित विधि विधान का अनुसरण करते हुए जन्म से प्रथम वर्ष में अथवा तीसरे वर्ष में करना चाहिए।

विशेष—1. चूड़ाकर्म से यहाँ अभिप्राय मुण्डन संस्कार से है। मेधातिथि के अनुसार—**"चूडा शिखा तदर्थं कर्म चूडाकर्म"** शिखा के लिए किया जाने वाला कर्म।

2. ग्रन्थकार ने इस संस्कार को करने वाले की सुविधानुसार पहले या तीसरे वर्ष में करने का विकल्प प्रस्तुत किया है।

3. आश्वलायन गृह्यसूत्र में इस संस्कार को जन्म से तृतीय वर्ष अथवा कुल-धर्म के अनुसार करने के लिए कहा गया है—

"तृतीये वर्षे चौलं यथा कुल धर्मं वा।" (1/17)

4. आचार्य मनु ने सभी संस्कारों में श्रुति की प्रधानता को स्वीकार किया है। यहाँ भी इसे "श्रुति चोदनात्" शब्द के द्वारा प्रकट किया गया है।

5. धर्मतः = धर्म + तसिल् (धर्मानुसार)।

6. अब्दे = वर्ष में। कर्तव्यम् = $\sqrt{}$ कृ + तव्यत्।

मन्वर्थमुक्तावली—चूडाकर्मेति॥ चूडाकरणं प्रथमे वर्षे तृतीये वा द्विजातीनां धर्मतो धर्मार्थं कार्यम्। श्रुतिचोदनात्। 'यत्र बाणाः संपतन्ति कुमारा विशिखा इव' इति मन्त्रलिङ्गात्कुल-धर्मानुसारेणायं व्यवस्थितविकल्पः। अत एवाश्वलायनगृह्यम्—'तृतीये वर्षे चौलं यथाकुलधर्मं वा॥ 35॥'

तत्पश्चात् ग्रन्थकार उपनयन संस्कार के विषय में निर्देश करते हैं—

गर्भाष्टमेऽब्दे कुर्वीत ब्राह्मणस्योपनायनम्।
गर्भादेकादशे राज्ञो गर्भात्तु द्वादशे विशः॥ 36॥

अन्वय—ब्राह्मणस्य उपनायनम् (संस्कारः) गर्भाष्टमे (अब्दे) राज्ञः गर्भात् एकादशे, तु विशः गर्भात् द्वादशे अब्दे कुर्वीत॥ 36॥

अनुवाद—ब्राह्मण (बालक) का उपनयन संस्कार गर्भधारण से आठवें (वर्ष) में, क्षत्रिय का गर्भ से ग्यारहवें वर्ष में, किन्तु वैश्य का गर्भ से बारहवें वर्ष में करना चाहिए।

'चन्द्रिका'—ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य इन द्विजातियों के बालकों के उपनयन संस्कार की आयु का उल्लेख करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि ब्राह्मण वर्ण के बालक का उपनयन संस्कार उसकी माता के गर्भ धारण से आठवें वर्ष की आयु में करना चाहिए, जबकि क्षत्रिय बालक का यही संस्कार गर्भधारण से ग्यारहवें एवं वैश्य के बालक का बारहवें वर्ष में किया जाना चाहिए।

विशेष—1. तीनों वर्णों की उपनयन संस्कार के आयुनिर्धारण में मनुस्मृतिकार ने गर्भधारण की अवधि को भी सम्मिलित किया है।

2. उपनयन को ही यहाँ उपनायन द्वारा कहा गया है। 'अन्वेषामपि दृश्यते' (अष्टाध्यायी 6/3/137) सूत्र से दीर्घ रूप बना।

3. कुर्वीत = √ कृ + त (विधिलिङ्ग लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन, आत्मनेपदी)।

4. उपनयन संस्कार के विषय में याज्ञवल्क्य कहते हैं—

गर्भाष्टमेऽष्टमे वाब्दे ब्राह्मणस्योपनायनम्।
राज्ञमेकादशे सैके विशामेके यथाकुलम्॥

मन्वर्थमुक्तावली—गर्भाष्टम इति॥ गर्भवर्षादष्टमे वर्षे ब्राह्मणस्योपनायनं कर्तव्यम्। उपनयनमेवोपनायनम्। 'अन्येषामपि दृश्यते' इति दीर्घः। गर्भैकादशे क्षत्रियस्य। गर्भद्वादशे वैश्यस्य॥ 36॥

अधिक प्रभावशाली ब्रह्मतेज आदि की कामना करने वाले की आयु उपनयन संस्कार के लिए भिन्न होती है। अतः उसका कथन करते हैं—

ब्रह्मवर्चसकामस्य कार्यं विप्रस्य पञ्चमे।
राज्ञो बलार्थिनः षष्ठे वैश्यस्येहार्थिनोऽष्टमे॥ 37॥

अन्वय—ब्रह्मवर्चसकामस्य विप्रस्य पञ्चमे, बलार्थिनः राज्ञः षष्ठे, इहार्थिनः वैश्यस्य अष्टमे (उपनयनम्) कार्यम्॥ 37॥

अनुवाद—उत्कृष्ट ब्रह्मतेज की कामना रखने वाले ब्राह्मण का पाँचवे में, बल की इच्छा रखने वाले क्षत्रिय का छठे में, (तथा) लोक में धन की इच्छा रखने वाले वैश्य का आठवें वर्ष में (उपनयन संस्कार) करना चाहिए।

'चन्द्रिका'—सामान्य रूप से उपनयन संस्कार की आयु का उल्लेख करने के पश्चात् अपनी सन्तति में विशेष गुणों का नियोजन करने का कामना से प्रत्येक वर्ण की सन्तान के लिए उपनयन संस्कार की आयु का कथन करते हैं—यदि ब्राह्मण वर्ण का व्यक्ति

अपनी सन्तति के लिए कामना करें कि उसका पुत्र वेदों का उत्कृष्ट विद्वान्, ज्ञान विज्ञान की प्राप्ति में निपुण एवं ब्रह्मतेज से सम्पन्न हो तो उसे उस बालक का उपनयन संस्कार पाँच वर्ष की आयु में करना चाहिए।

इसी प्रकार यदि क्षत्रिय वर्ण का व्यक्ति अपने पुत्र के लिए विशेष बल एवं पराक्रम की कामना करे तो उस बालक का उपनयन संस्कार गर्भ से छठे वर्ष में कराना चाहिए तथा भौतिक समृद्धि, धन, ऐश्वर्य की कामना से युक्त वैश्य को अपनी सन्तान का उपनयन आठवें वर्ष की आयु में कराना चाहिए।

विशेष—1. कुल्लूक भट्ट के अनुसार—यद्यपि बालकों के लिए ब्रह्मतेज, बल अथवा धनादि की कामना सम्भव नहीं है। अतः यहाँ कामना से अभिप्राय पिता द्वारा की गई इच्छा से है।

2. उपनयन संस्कार की आयु कम करने का उद्देश्य सम्भवतः अध्ययन का प्रारम्भ शीघ्र करने अधिक परिश्रम से अधिक योग्यता प्राप्त करने से है।

3. बलार्थिनः = बलस्य अर्थी = बलार्थी, तस्य बलार्थिनः (षष्ठी तत्पुरुष)।

मन्वर्थमुक्तावली—ब्रह्मवर्चसकामस्येति॥ वेदाध्ययनतदर्थज्ञानादिप्रकर्षकृतं तेजो ब्रह्मवर्चसं तत्कामस्य ब्राह्मणस्य गर्भपञ्चमे वर्षे उपनयनं कार्यम्। क्षत्रियस्य हस्त्यश्वादिराज्यबलार्थिनो गर्भषष्ठे। वैश्यस्य बहुकृष्यादिचेष्टार्थिनो गर्भाष्टमे गर्भवर्षाणामेव प्रकृतत्वात्। यद्यपि बालस्य कामना न सम्भवति तथापि तत्पितुरेव तद्गतफलकामना तस्मिन्नुपचर्यते॥ 37॥

तत्पश्चात् उपनयन संस्कार की अन्तिम समयावधि का कथन करते हैं—

आषोडशाद्ब्राह्मणस्य सावित्री नातिवर्तते।
आद्वाविंशात्क्षत्रबन्धोराचतुर्विंशतेर्विशः॥ 38॥

अन्वय—ब्राह्मणस्य आ-षोडषात्, क्षत्रबन्धोः आ-द्वाविंशात्, विशः आ-चतुर्विंशतेः सावित्री न अतिवर्तते॥ 38॥

अनुवाद—ब्राह्मण की सोलह वर्ष तक, क्षत्रिय के पुत्र की बाईस वर्ष तक वैश्य की चौबीस वर्ष तक सावित्री का अतिक्रमण नहीं होता है।

'चन्द्रिका'—यदि ब्राह्मण बालक का उपनयन संस्कार किसी भी कारण अथवा परिस्थितिवश सोलह वर्ष तक नहीं हो पाता है। इसी प्रकार क्षत्रिय कुल में उत्पन्न बालक का बाईस वर्ष नहीं हो पाता है। इसके अतिरिक्त वैश्यकुल में उत्पन्न शिशु का यह संस्कार यदि चौबीस वर्ष की अवस्था तक नहीं होता है, तो इन तीनों वर्णों के सावित्रीकाल अर्थात् उपनयन के समय का अतिक्रमण नहीं होता है, किन्तु इस अवस्था के व्यतीत हो जाने पर आचार्य मनु के अनुसार व्यक्ति 'व्रात्य' हो जाता है। अतः विभिन्न वर्णों के लिए ये अवस्थाएँ उपनयन संस्कार के लिए अन्तिम हैं।

विशेष—1. द्विज वर्णों के लिए उपनयन की अन्तिम आयु का क्रमशः (6, 22, 24 वर्ष) उल्लेख किया गया है।

2. आचार्य मनु उपनयन संस्कार की आयु के सम्बन्ध में अत्यन्त कठोरता का रुख अपनाते हैं।

3. उपनयनम् = उप + $\sqrt{}$ नी + ल्युट् (गुरोः उप समीपं नीयते येन कर्मणा, तत्)।

4. आ उपसर्ग का प्रयोग 'मर्यादा' अर्थ में न होकर 'अभिविधि' के अर्थ में किया गया है। अर्थात् इन वर्षों से पूर्व की आयु में ही संस्कार कराया जा सकता है।

मन्वर्थमुक्तावली—आषोडशादिति॥ अभिविधावाङ्। ब्राह्मणक्षत्रियविशामुक्ताष्टमैकादशद्वादशवर्षद्वैगुण्यस्य विवक्षितत्वात् षोडशवर्षपर्यन्तं ब्राह्मणस्य सावित्र्यर्थे वचनमुपनयनं नातिक्रान्तकालं भवति। क्षत्रियस्य द्वाविंशतिवर्षपर्यन्तम्। वैश्यस्य चतुर्विंशतिवर्षपर्यन्तम्। अत्र मर्यादायामाङ्। केचिव्द्याख्यापयन्ति यमवचनदर्शनात्। तथा च यमः—'पतिता यस्य सावित्री दश वर्षाणि पञ्च च। ब्राह्मणस्य विशेषेण तथा राजन्यवैश्ययोः॥ प्रायश्चित्तं भवेदेषां प्रोवाच वदतां वरः। विवस्वतः सुतः श्रीमान्यमो धर्मार्थतत्त्ववित्॥ सशिखं वपनं कृत्वा व्रतं कुर्यात्समाहितः। हविष्यं भोजयेदन्नं ब्राह्मणान्सप्त पञ्च वा॥ 38॥'

उपनयन संस्कार के लिए निर्धारित आयु के व्यतीत होने के परिणाम का उल्लेख करते हैं—

अत ऊर्ध्वं त्रयोऽप्येते यथाकालमसंस्कृताः।
सावित्रीपतिता व्रात्या भवन्त्यार्यविगर्हिताः॥ 39॥

अन्वय—अतः ऊर्ध्वम् एते त्रयः अपि यथाकालम् असंस्कृताः सावित्रीपतिताः आर्यविगर्हिताः व्रात्याः भवन्ति॥ 39॥

अनुवाद—इस आयु से अधिक होने पर ये तीनों वर्ण ही यथासमय संस्कार न होने से सावित्री से पतित एवं आर्यों द्वारा निन्दित होकर व्रात्य हो जाते हैं।

'चन्द्रिका'—ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य वर्णों के बालकों के उपनयन संस्कार कराने की अन्तिम आयु सीमा ग्रन्थकार ने क्रमशः 16, 22 और 24 वर्ष बतायी। यदि किन्हीं कारणों से इस आयु तक इनका उपनयन संस्कार नहीं कराया जाता है तो वे उपनयन से हीन होकर व्रात्य कहलाते हैं तथा आर्य लोग इनकी निन्दा करते हैं।

विशेष—1. यहाँ 'सावित्री' शब्द का प्रयोग उपनयन के अर्थ में हुआ है।

2. 'व्रात्य' यह पारिभाषिक शब्द है, जो उपनयन की आयु निकल जाने वाले द्विज वर्णों के बालकों के लिए प्रयुक्त होता है।

3. व्रात्यों के साथ (यज्ञादि कराना, पढ़ाना) एवं यौन (विवाह) सम्बन्धों का समाज में निषेध किया गया है।

4. मनु के अनुसार जो व्यक्ति व्रात्यों के यहाँ यज्ञ कराता है, उसे तीन कृच्छ के द्वारा ही शुद्धि की प्राप्ति होती है—

व्रात्यानां याजनं कृत्वा परेषामन्त्यकर्म च।
अभिचारमहीनं च त्रिभिः कृच्छ्रैर्व्यपोहति॥ (11/197)

मन्वर्थमुक्तावली—अत ऊर्ध्वमिति ॥ एते ब्राह्मणादयो यथाकालं यो यस्यानुकल्पिकोऽप्युपनयनकाल उक्तः षोडशवर्षादिपर्यन्तं तत्रासंस्कृतास्तदूर्ध्वं सावित्रीपतिता उपनयनहीनाः शिष्टगर्हिता व्रात्यसंज्ञा भवन्ति। संज्ञाप्रयोजनं च 'व्रात्यानां याजनं कृत्वा' इत्यादिना व्यवहारसिद्धिः ॥ 39 ॥

तत्पश्चात् व्रात्यों के साथ व्यवहार-विषयक विधान करते हुए कहते हैं—

नैतैरपूतैर्विधिवदापद्यपि हि कर्हिचित्।
ब्राह्मान्यौनांश्च संबन्धानाचरेद्ब्राह्मणः सह ॥ 40 ॥

अन्वय—ब्राह्मणः आपदि अपि अपूतैः एतैः सह विधिवत् ब्राह्मान् यौनान् च सम्बन्धान् न आचरेत् ॥ 40 ॥

अनुवाद—ब्राह्मण को आपत्तिकाल में भी अपवित्र इन (व्रात्यों) के साथ विधिवत् अध्ययन, अध्यापन एवं यज्ञ सम्बन्धी (ब्राह्म) तथा विवाहादि (यौन) सम्बन्धों को स्थापित नहीं करना चाहिए।

'चन्द्रिका'—जिन वर्णों के बालकों की सावित्री का अतिक्रमण हो जाता है, आचार्य मनु उनकी व्रात्य संज्ञा करते हुए कहते हैं कि ब्राह्मण को कभी भी किसी भी परिस्थिति में इन व्रात्यों के साथ ब्राह्म एवं यौन सम्बन्धों को स्थापित नहीं करना चाहिए अर्थात् इन्हें कभी पढ़ाना नहीं चाहिए और न ही इनके यहाँ यज्ञ-यागादि का आयोजन कराने में सहयोग करना चाहिए। साथ ही इन व्रात्यों के साथ आपत्तिकाल में भी विवाह आदि सम्बन्धों को भी स्थापित नहीं करना चाहिए।

विशेष—1. 'व्रात्यों' के साथ आचार्य मनु ब्राह्मण के लिए ब्राह्म एवं यौन सम्बन्धों का कठोरतापूर्वक निषेध करते हैं।

2. उपननय संस्कार के सम्बन्ध में द्विज वर्णों को सचेत करने के भाव की भी अभिव्यञ्जना हो रही है।

3. उपनयन संस्कार के अभाव में व्रात्यों को अपवित्र कहकर एक प्रकार से उन्हें बहिष्कृत करने की भी अभिव्यक्ति हो रही है।

4. 'सहयुक्तेऽप्रधाने' सूत्र से अपूतैः एतैः में तृतीया विभक्ति का प्रयोग हुआ है।

5. अपूतैः = न पूतैः, इति (नञ् समास) अपवित्रों के साथ (सह)।

6. विधिवत् = विधि + वतुप्, विधिपूर्वक।

7. आचरेत् = आ + √ चर् + विधिलिङ्ग लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

मन्वर्थमुक्तावली—नैतैरिति ॥ एतैरपूतैर्व्रात्यैर्यथाविधिप्रायश्चित्तमकृतवद्भिः सह आपत्कालेऽपि कदाचिदध्यापनकन्यादानादीन्संबन्धान्ब्राह्मणो नानुतिष्ठेत् ॥ 40 ॥

तत्पश्चात् विविध वर्ण के ब्रह्मचारियों के लिए धारण करने योग्य वस्त्रों का कथन करते हैं—

कार्ष्णरौरवबास्तानि चर्माणि ब्रह्मचारिण:।
वसीरन्नानुपूर्व्येण शाणक्षौमाविकानि च॥ 41॥

अन्वय—ब्रह्मचारिण: आनुपूर्व्येण कार्ष्णरौरववास्तानि चर्माणि शाणक्षौमाविकानि च वसीरन्॥ 41॥

अनुवाद—(ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यवर्ण के) ब्रह्मचारी क्रमश: कृष्णमृग, रुरुमृग तथा बकरे के चर्म से निर्मित वस्त्र एवं शण, रेशम और ऊन से निर्मित अधोवस्त्र धारण करें।

'चन्द्रिका'—भिन्न-भिन्न वर्णों के ब्रह्मचारियों के लिए वस्त्रों के धारण करने का विधान करते हुए भृगु ऋषि कहते हैं कि ब्राह्मण वर्ण का ब्रह्मचारी काले मृग की खाल अपने शरीर पर तथा अधोवस्त्र शण से निर्मित धारण करे। इसी प्रकार क्षत्रिय वर्ण का ब्रह्मचारी रुरु मृग की खाल ऊपर तथा रेशम से बना अधोवस्त्र धारण करे। इसके अतिरिक्त वैश्य वर्ण को शरीर के ऊपर बकरे की खाल तथा अधोवस्त्र ऊन से निर्मित धारण करना चाहिए।

विशेष—1. ऐसा प्रतीत होता है कि विविध वर्ण के ब्रह्मचारियों के लिए वेषभूषा के विषय में नियम बनाने का उद्देश्य तत्तत् वर्ण के ब्रह्मचारी का दूर से ही पहचानना रहा होगा।

2. रुरु मृग विशेष प्रकार का होता है जिसके शरीर पर धब्बे होते हैं।

3. ब्राह्मण ब्रह्मचारी के लिए सन-निर्मित अधोवस्त्र का प्रावधान सम्भवत: शरीर को अधिकाधिक तपस्या के लिए तैयार करना प्रतीत होता है।

4. कार्ष्णरौरववास्तानि — कृष्णस्य इदं कार्ष्णम्, रुरो: इदं रौरवम्, वस्तस्य इदं वास्तम् (बकरा), कार्ष्णं च रौरवं च, वास्तं च तानि (द्वन्द्व समास)।

5. शाणक्षौमाविकानि — शाणं च क्षोमं च आविकं च तानि (द्वन्द्व समास)।

6. शाण — सनी के एक पौधे को लम्बे समय तक पानी में भिगोने के बाद उसके रेशे निकाल कर बनाया जाता है। इसकी रस्सी, टाट आदि बनाई जाती है।

7. अवि — भेड़ को कहते हैं, क्योंकि ऊन भेड़ के बालों द्वारा बनाई जाती है। अत: अवे: इदं आविकम् — भेड़ के बालों से निर्मित।

8. श्लोक में प्रयुक्त 'आनुपूर्व्य' का अभिप्राय है कि जिस क्रम से द्विज वर्णों का कथन किया गया, उसी क्रम से उनके लिए परिधान का प्रावधान किया जा रहा है।

9. ब्रह्मचारियों के वस्त्रों से तत्कालीन ब्रह्मचर्य जीवन के कष्ट एवं त्यागपूर्ण होने की भी प्रतीति हो रही है।

मन्वर्थमुक्तावली—कार्ष्णरौरवबास्तानीति॥ कार्ष्ण इति विशेषानभिधानेऽपि मृगविशेषो रुरुसाहचर्यात् 'हारिणमैणेयं वा कार्ष्णं वा ब्राह्मणस्य' इत्यापस्तम्बवचनाच्च कृष्णमृगो गृह्यते। कृष्णमृगरुरुच्छागचर्माणि ब्रह्मचारिण उत्तरीयाणि वसीरन्। 'चर्माण्युत्तरीयाणि' इति गृह्यवचनात्। तथा शणक्षुमामेषलोमभवान्यधोवसनानि ब्राह्मणादय: क्रमेण परिदधीरन्॥ 41॥

पुनः विविध वर्णों के ब्रह्मचारियों के लिए मेखला किस प्रकार की होनी चाहि
इसका कथन करते हुए कहते हैं—

मौञ्जी त्रिवृत्समा श्लक्ष्णा कार्या विप्रस्य मेखला।
क्षत्रियस्य तु मौर्वी ज्या वैश्यस्य शणतान्तवी॥ 42॥

अन्वय—विप्रस्य मौञ्जी त्रिवृत्-समा श्लक्ष्णा, तु क्षत्रियस्य मौर्वी ज्या, वैश्यस्
शणतान्तवी मेखला कार्या॥ 42॥

अनुवाद—ब्राह्मण की (मेखला) मूँज से बनी हुई, समान तीन लड़ों वाली, चिकनी
किन्तु क्षत्रिय की (मेखला) धनुष्य की प्रत्यञ्चा की तथा वैश्य की मेखला शण के तन्तुः
की बनानी चाहिए।

'चन्द्रिका'—ब्राह्मण ब्रह्मचारी की मेखला मूँज नामक विशेष प्रकार की घास
निर्मित होनी चाहिए। उसका निर्माण एक जैसे तीन लड़ों द्वारा किया जाना चाहिए, सा
ही वह खुरदुरी न होकर चिकनी होनी चाहिए। इसी प्रकार क्षत्रिय ब्रह्मचारी की मेख
का निर्माण धनुष की डोरी के द्वारा किया जाना चाहिए। इसके अतिरिक्त वैश्य ब्रह्मचा
जिस मेखला को धारण करे वह शण के तन्तुओं द्वारा निर्मित होनी चाहिए।

विशेष—1. विविध वर्णों की शारीरिक प्रकृति के अनुसार ही उनकी मेखला व
प्रावधान किया गया है, क्योंकि ब्रह्मचर्य आश्रम ही उनके भावी जीवन की पृष्ठभूमि व
निर्माता है।

2. रस्सी का निर्माण दो लड़ों से भी किया जा सकता है, किन्तु ब्राह्मण की मेख
में तीन लड़ों की अनिवार्यता प्रदर्शित की है। सम्भवतः यह उसके तीन ऋणों का स्मर
दिलाने के लिए है।

3. मूँज तपस्या, त्याग एवं पवित्रता का प्रतीक है। सम्भवतः इसी कारण ब्राह्म
ब्रह्मचारी की मेखला का मूँज निर्मित होना कहा गया है। मौञ्जी-मूँज द्वारा निर्मित।

4. क्षत्रिय का जीवन धनुष रूप शस्त्र से सम्बद्ध होने के कारण उसकी मेख
का धनुष की डोरी द्वारा बनाने का प्रावधान किया है।

5. त्रिवृत्, समा तथा श्लक्ष्णा ये तीनों विशेषण क्षत्रिय और वैश्य की मेखला
भी लगाने चाहिए।

मन्वर्थमुक्तावली—मौञ्जीति॥ मुञ्जमयी त्रिगुणा समगुणत्रयनिर्मिता सुखस्पर्शा ब्राह्म
णस्य मेखला कर्तव्या। क्षत्रियस्य मूर्वामयी ज्या धनुर्गुणरूपा मेखला। अतो ज्यात्वविनाशापत्ते
स्त्रिवृत्त्वं नास्तीति मेधातिथिगोविन्दराजौ। वैश्यस्य शणसूत्रमयी। अत्र त्रैगुण्यमनुवर्तत एव
'त्रिगुणाः प्रदक्षिणा मेखलाः' इति सामान्येन प्रचेतसा त्रैगुण्याभिधानात्॥ 42॥

विविध वर्णों की मेखला की निर्माण सामग्री के कथन के पश्चात् तत्तत् वस्तु के
उपलब्ध न होने की स्थिति में विकल्प का कथन करते हैं—

मुञ्जालाभे तु कर्तव्याः कुशाश्मन्तकबल्वजैः।
त्रिवृता ग्रन्थिनैकेन त्रिभिः पञ्चभिरेव वा॥ 43॥

अन्वय—तु मुञ्जा - अलाभे कुश - अश्मन्तक - बल्वजैः त्रिवृता, एकेन त्रिभिः वा पञ्चभिः ग्रन्थिना, कर्तव्याः॥ 43॥

अनुवाद—किन्तु मुञ्ज आदि के उपलब्ध न होने पर (क्रमशः) कुश, अश्मन्तक तथा बल्वज के द्वारा तीन लड़ों से निर्मित तथा (कुल परम्परा के अनुसार) एक, तीन अथवा पाँच गाँठ वाली बनानी चाहिए।

'चन्द्रिका'—यदि स्थान या परिस्थितिवश मेखला बनाने के लिए मूँज आदि प्राप्त न हो तो वैकल्पिक रूप में ब्राह्मण वर्ण के ब्रह्मचारी की मेखला कुशा के द्वारा, क्षत्रिय वर्ण के ब्रह्मचारी की अश्मन्तक से तथा वैश्य वर्ण के ब्रह्मचारी की बल्वज के तिनकों को गूँथ कर तीन लड़ों की बनानी चाहिए। साथ ही प्रवरों की संख्या एवं कुल की परम्परा के अनुसार मेखला में एक, तीन अथवा पाँच गाँठों का प्रयोग भी करना चाहिए।

विशेष—1. मेखला में गाँठों का प्रयोग वैज्ञानिक दृष्टि से एक्यूप्रेशर पद्धति से होने वाले लाभों की ओर संकेत कर रहा है। इसके अतिरिक्त इनके कारण ब्रह्मणचारी का आलस्य रहित होना भी अभिव्यञ्जित हो रहा है।

2. कुशा - अश्मन्तक एवं बल्वज ये तीनों वन में उपलब्ध होने वाली पवित्र घास हैं, जिनका पवित्र कार्यों में प्रयोग किया जाता है।

3. गाँठों की विषम संख्या विशेष प्रयोजनवश प्रतीत होती है।

4. कर्तव्याः में कुछ विद्वानों ने एकवचन पाठ भी स्वीकार किया है।

मन्वर्थमुक्तावली—मुञ्जालाभेत्विति॥ कर्तव्या इति बहुवचननिर्देशाद्ब्राह्मचारित्रयस्य प्रकृतत्वान्मुख्यालाभे त्रिष्वप्यपेक्षायाः समत्वात्कौशादीनां च तिसृणां विधानात् मुञ्जाद्यलाभ इति बोद्धव्यम्। कर्तव्या इति बहुवचनमुपपन्नतरम्। भिन्नजातिसंबन्धितयेति ब्रुवाणस्य मेधातिथेरपि बहुवचनपाठः संमतः। मुञ्जाद्यलाभे ब्राह्मणादीनां त्रयाणां यथाक्रमं कुशादिभिस्तृणविशेषैर्मेखलाः कार्याः। त्रिगुणेनैकग्रन्थिना युक्तास्त्रिभिर्वा पञ्चभिर्वा। अत्रच वाशब्दनिर्देशाद्ग्रन्थीनां न विप्रादिभिः क्रमेण संबन्धः किंतु सर्वत्र यथाकुलाचारं विकल्पः। ग्रन्थिभेदश्चायं मुख्यामुख्यापेक्षासंभवाद्ग्रहीतव्यः॥ 43॥

मेखला के विषय में निर्देश करने के पश्चात् यज्ञोपवीत के सम्बन्ध में कथन करते हैं—

कार्पासमुपवीतं स्याद्विप्रस्योर्ध्ववृतं त्रिवृत्।
शणसूत्रमयं राज्ञो वैश्यस्याविकसौत्रिकम्॥ 44॥

अन्वय—कार्पासम् विप्रस्य शणसूत्रमयम् राज्ञः, आविकसौत्रिकम् वैश्यस्य ऊर्ध्ववृतम् त्रिवृत् उपवीतम् स्यात्॥ 44॥

अनुवाद—कपास द्वारा निर्मित ब्राह्मण का, शण के तन्तुओं द्वारा बना हुआ क्षत्रिय का तथा ऊन से बना हुआ वैश्य (ब्रह्मचारी) का यज्ञोपवीत ऊपर की ओर बँटा हुआ, तीन लडों से युक्त होना चाहिए।

'चन्द्रिका'—द्विज वर्णों के यज्ञोपवीत किसके द्वारा बनाए जाएँ इसका कथन करते हैं—'ब्राह्मण ब्रह्मचारी का यज्ञोपवीत कपास के सूत के द्वारा बनाना चाहिए, जबकि क्षत्रिय ब्रह्मचारी का शण के धागों से निर्मित होना चाहिए, किन्तु वैश्य ब्रह्मचारी का यज्ञोपवीत भेड़ के बालों द्वारा निर्मित धागों अर्थात् ऊन से बनाया जाना चाहिए। इन तीनों यज्ञोपवीतों में दो बातों का विशेष रूप से कथन करते हुए कहते हैं कि ये सभी ऊपर की ओर बँटे हुए तथा तीन सूत्रों से युक्त बनाने चाहिएँ।

विशेष—1. जिस प्रकार रस्सी का निर्माण करते हैं ठीक उसी प्रकार कपास आदि लेकर सर्वप्रथम उसका एक धागा बनाकर, उन्हें तीन की संख्या में लेकर ऊपर की ओर से दायीं तरफ तथा नीचे की ओर से बाईं तरफ बंटते हुए जनेऊ का एक सूत्र तैयार करने के बाद इस प्रकार के तीन धागों को मिलाकर एक यज्ञोपवीत तैयार करने का कथन किया गया है।

2. ऊर्ध्ववृतं एवं त्रिवृत् इन दोनों विशेषणों का प्रयोग ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य के यज्ञोपवीतों के साथ किया जाएगा।

3. यही बात अन्यत्र इस प्रकार कही गई है—

"ऊर्ध्वं तु त्रिवृतं कार्यं तन्तुत्रयमधोवृतम्"—छन्दोगपरिशिष्ट।

4. "यज्ञोपवीतं कुर्वीत सूत्रेण नवतन्तुकम् — स्मृति चन्द्रिका भाग 1-पृ. 31।

5. कार्पासम् — कर्पासस्य इदं कार्पासम्। कर्पास + अण् → कर्पासविरचितम्।

6. आविकसौत्रिकम् = आविकः मेषः तस्य सौत्रिकैः केशैः तैः निर्मितम्।

मन्वर्थमुक्तावली—कार्पासमिति॥ यदीयविन्यासविशेषस्योपवीतसंज्ञां वक्ष्यति तद्धर्मि-ब्राह्मणस्य कार्पासम्, क्षत्रियस्य शणसूत्रमयम्, वैश्यस्य मेषलोमनिर्मितम्। त्रिवृदिति त्रिगुणं कृत्वा ऊर्ध्ववृतं दक्षिणावर्तितम्। एतच्च सर्वत्र संबध्यते। यद्यपि गुणत्रयमेवोर्ध्ववृतं मनुनोक्तं तथापि तन्त्रिगुणीकृत्य त्रिगुणं कार्यम्। तदुक्तं छन्दोगपरिशिष्टे—'ऊर्ध्वं तु त्रिवृतं कार्यं तन्तुत्रयमधोवृतम्। त्रिवृतं चोपवीतं स्यात्तस्यैको ग्रन्थिरिष्यते॥' देवलोऽप्याह—'यज्ञोपवीतं कुर्वीत सूत्राणि नव तन्तवः॥ 44॥'

मेखला एवं यज्ञोपवीत का कथन करने के पश्चात् द्विज वर्णों के ब्रह्मचारियों द्वारा धारण किये जाने वाले दण्ड की प्रकृति का कथन करते हैं—

ब्राह्मणो बैल्वपालाशौ क्षत्रियो वाटखादिरौ।
पैलवौदुम्बरौ वैश्यो दण्डानर्हन्ति धर्मतः॥ 45॥

अन्वय—धर्मतः ब्राह्मणः बैल्वपालाशौ, क्षत्रियो वाटखादिरौ, वैश्यः पैलवोदुम्बरौ दण्डान् (धारयितुम्) अर्हन्ति॥ 45॥

अनुवाद—धर्म के अनुसार ब्राह्मण बेल अथवा पलाश (वृक्ष की लकड़ी से) निर्मित, क्षत्रिय वट अथवा खैर की लकड़ी के और वैश्य पीलू अथवा गूलर के (वृक्ष के) दण्ड को धारण करने में समर्थ हैं।

'चन्द्रिका'—ब्राह्मण वर्ण के ब्रह्मचारी को बेल या पलाश के वृक्ष की लकड़ी द्वारा निर्मित डण्डा धारण करना चाहिए। इसी प्रकार क्षत्रिय वर्ण के ब्रह्मचारी को वट वृक्ष अथवा खैर के वृक्ष की लकड़ी से बना हुआ डण्डा धारण करना चाहिए एवं वैश्य वर्ण का ब्रह्मचारी पीलू या गूलर में से किसी एक वृक्ष के दण्ड को धारण करे, यही धर्मशास्त्रों के अनुसार धर्म है।

विशेष—1. श्लोक में प्रयुक्त बैल्व पालाशौ, वाटखादिरौ, पैलवौदुम्बरौ में द्वन्द्व समास होने से 'समुच्चय' अर्थ की कल्पना उचित प्रतीत नहीं होती, क्योंकि दो दण्ड एक साथ धारण करना व्यावहारिक नहीं है। इसके अतिरिक्त अग्रिम श्लोक में दण्ड शब्द का एकवचन में ही प्रयोग भी हुआ है—**"केशान्तिको ब्राह्मणस्य दण्डः।"**

2. आचार्य वसिष्ठ ने इसे एकवचन में वैकल्पिक अर्थ में प्रयुक्त माना है—**"बैल्वः पलाशो वा दण्डः।"**

3. आचार्य कुल्लूक भट्ट ने भी यहाँ विकल्प को स्वीकार किया है—

"ब्राह्मणादयो विकल्पेन द्वौ द्वौ दण्डौ वक्ष्यमाण कार्ये कर्तुमर्हन्ति।"

4. धर्मतः — धर्म + तसिल् (धर्मानुसार)।

5. विभिन्न वर्ण के ब्रह्मचारियों को अलग-अलग प्रकार के दण्ड धारण कराने का उद्देश्य उनकी दूर से ही पहचान करना प्रतीत होता है।

मन्वर्थमुक्तावली—ब्राह्मण इति॥ यद्यपि द्वन्द्वनिर्देशेन समुच्चयावगमाद्धारणमपि समुच्चितस्यैव प्राप्तं तथापि 'केशान्तिको ब्राह्मणस्य दण्डः कार्यः' इति। तथा 'प्रतिगृह्येप्सितं दण्डम्' इति विधावेकत्वस्य विवक्षितत्वात् 'बैल्वः पालाशो वा दण्डः' इति वासिष्ठे विकल्पदर्शनादेकस्यैव दण्डस्य धारणविकल्पितयोरेवैकब्राह्मणसंबन्धात्समुच्चयो द्वन्द्वेनानूद्यते। ब्राह्मणादयो विकल्पेन द्वौ द्वौ दण्डौ वक्ष्यमाणकार्ये कर्तुमर्हन्ति॥ 45॥

ब्रह्मचारी द्वारा धारण किए गए दण्ड की लकड़ी की प्रकृति का निर्देश करने के बाद दण्ड के प्रमाण का उल्लेख करते हैं—

केशान्तिको ब्राह्मणस्य दण्डः कार्यः प्रमाणतः।
ललाटसंमितो राज्ञः स्यात्तु नासान्तिको विशः॥ 46॥

अन्वय—ब्राह्मणस्य दण्डः केशान्तिकः, राज्ञः (दण्डः) ललाटसम्मितः विशः तु नासान्तिकः, प्रमाणतः स्यात्॥ 46॥

अनुवाद—ब्राह्मण (ब्रह्मचारी) का दण्ड केशों तक, क्षत्रिय का (दण्ड) मस्तक तक तथा वैश्य का नासिका तक लम्बा होना चाहिए।

'चन्द्रिका'—ब्राह्मण ब्रह्मचारी के दण्ड की लम्बाई उसके सिर के बालों तक तथा क्षत्रिय ब्रह्मचारी के दण्ड को उसके मस्तक पर्यन्त लम्बा होना चाहिए तथा इसी प्रकार वैश्य वर्ण के ब्रह्मचारी के दण्ड की लम्बाई उसकी नासिका तक होनी चाहिए। न तो इससे अधिक और न ही इससे कम, यही शास्त्रीय प्रमाण है।

विशेष—1. व्यक्ति के कद के अनुसार दण्ड का क्रमशः बालों, मस्तक एवं नासिका तक होना, अधिक व्यावहारिक प्रतीत होता है।

2. ऐसा प्रतीत होता है कि आचार्य मनु के समय में ब्रह्मचारियों की वेषभूषा आदि का कठोरता से पालन किया जाता था।

3. 'तु' का प्रयोग यहाँ 'समुच्चय' अर्थ की अभिव्यक्ति के लिए भी स्वीकार किया जा सकता है।

4. ललाट सम्मितः — सम् + मान् + क्त (मस्तक तक (ललाट) नापा हुआ)।

5. नासा + अन्तिकः — अन्तः सामीप्यमस्यास्तीति – अन्त + ठन् (नासिका तक पहुँचा हुआ।

मन्वर्थमुक्तावली—केशान्तिक इति॥ केशललाटनासिकापर्यन्तपरिमाणक्रमेण ब्राह्मणादीनां दण्डाः कर्तव्याः॥ 46॥

दण्ड के प्रमाण का उल्लेख करने के बाद उनके स्वरूप का कथन करते हैं—

ऋजवस्ते तु सर्वे स्युरव्रणाः सौम्यदर्शनाः।
अनुद्वेगकरा नृणां सत्वचोऽनग्निदूषिताः॥ 47॥

अन्वय—तु ते सर्वे (दण्डाः) ऋजवः, अव्रणाः, सौम्यदर्शनाः नृणाम् अनुद्वेगकराः, सत्वचः अनग्निदूषिताः स्युः॥ 47॥

अनुवाद—किन्तु वे सभी (दण्ड) सीधे, छिद्ररहित, देखने में सुन्दर, मनुष्यों को उद्वेग उत्पन्न न करने वाले, छाल से युक्त (एवं) अग्नि से जले हुए नहीं होने चाहिएँ।

'चन्द्रिका'—विविध वर्ण के ब्रह्मचारी जिस भी निर्दिष्ट दण्ड को धारण करें उनकी विशेषताओं का कथन करते हुए आचार्य मनु कहते हैं कि वे टेढ़े-मेढ़े न होकर एकदम सीधे होने चाहिएँ। उनमें किसी प्रकार का कोई छेद नहीं होना चाहिए। वे देखने में सुन्दर होने चाहिए तथा उनका आकार प्रकार इस प्रकार का होना चाहिए कि उन्हें देखकर लोगों का मन उद्विग्न न हो। साथ ही उसके ऊपर स्थित छाल को हटाना नहीं चाहिए तथा उन्हें कहीं से भी अग्नि से जला हुआ नहीं होना चाहिए।

विशेष—1. दण्ड का त्वचा सहित होना वर्तमान 'एक्यूप्रेशर' पद्धति की दृष्टि से स्वास्थ्यप्रद प्रतीत होता है।

2. छिद्ररहित कहकर किसी भी प्रकार के कीड़े के उसमें प्रवेश से होने वाली हानि का निराकरण किया गया है।

3. जली हुई लकड़ी को धारण करना अपशकुन भी माना जाता है।

4. अनुद्वेगकराः — न उद्वेगकराः, इति (नञ् समास) उद्वेग उत्पन्न करने वाले।

5. अनग्निदूषिताः — अग्निना दूषितः अग्निदूषितः, ते अग्निदूषिताः, न अग्निदूषिताः, इति (नञ् समास) अग्निदोष से रहित।

मन्वर्थमुक्तावली—ऋजव इति॥ ते दण्डाः अव्रणा अक्षताः शोभनदर्शनाः सवल्कला अग्निदाहरहिता भवेयुः ॥ 47 ॥

नच तैः प्राणिजातमुद्वेजनीयमित्याह—

भिक्षाटन के लिए प्रस्थान हेतु निर्धारित समय एवं स्थिति का कथन करते हुए कहते हैं—

प्रतिगृह्येप्सितं दण्डमुपस्थाय च भास्करम्।
प्रदक्षिणं परीत्याग्निं चरेद्भैक्षं यथाविधि ॥ 48 ॥

अन्वय—ईप्सितम् दण्डम् प्रतिगृह्य, भास्करम् च उपस्थाय, अग्निम् प्रदक्षिणम् परीत्य, यथाविधि भैक्षम् चरेत् ॥ 48 ॥

अनुवाद—(अपने) अभीष्ट दण्ड को लेकर तथा सूर्य के सामने खड़े होकर, अग्नि के चारों ओर प्रदक्षिणा करके शास्त्रों में बताई गई विधि से भिक्षा प्राप्त करने के लिए विचरण करना चाहिए।

'चन्द्रिका'—ब्राह्मण आदि वर्णों के ब्रह्मचारी जब भिक्षाटन के लिए गुरुकुल से प्रस्थान करें तो उन-उनके लिए बताए गए निर्धारित दण्ड को उन्हें अवश्य धारण करना चाहिए तथा चलने से पूर्व सूर्य के सामने खड़े होकर उसे नमन करना चाहिए, तत्पश्चात् यज्ञाग्नि के चारों ओर प्रदक्षिणा करके ही शास्त्रीय नियमों का पालन करते हुए भिक्षाटन करना चाहिए।

विशेष—1. भिक्षाटन से पूर्व अग्नि की प्रदक्षिणा और सूर्य-नमन का प्रावधान किया गया है। अग्नि से अभिप्राय 'यज्ञाग्नि' से है।

2. भिक्षाटन के लिए जाते समय निर्धारित दण्ड-ग्रहण करने का निर्देश ब्रह्मचारी के वर्ण की पहचान तथा आत्मरक्षा की भावना प्रतीत होती है।

3. प्रतिगृह्य — प्रति + √ ग्रह् + ल्यप् (लेकर)।

4. ईप्सितम् — √ आप् + सन् + क्त (अभीप्सित, अभीष्ट) दण्ड का विशेषण।

5. परीत्य — परि + √ इण् + ल्यप् (तुक आगम)।

6. उपस्थाय — उप + √ स्था + ल्यप् (समक्ष स्थित होकर)।

मन्वर्थमुक्तावली—प्रतिगृह्येप्सितमिति॥ उक्तलक्षणं प्राप्तुमिष्टं दण्डं गृहीत्वा आदित्याभिमुखं स्थित्वाग्निं प्रदक्षिणीकृत्य यथाविधि भैक्षं याचेत् ॥ 48 ॥

इसके पश्चात् विभिन्न वर्णों द्वारा भिक्षाटन के समय किये जाने वाले सम्बोधन का उल्लेख करते हुए कहते हैं—

भवत्पूर्वं चरेद्भैक्षमुपनीतो द्विजोत्तमः।
भवन्मध्यं तु राजन्यो वैश्यस्तु भवदुत्तरम्॥ 49॥

अन्वय—उपनीतः द्विजोत्तमः 'भवत्' पूर्वम्, राजन्यः 'भवत्' मध्यम् तु वैश्यः 'भवत्' उत्तरम् (उक्त्वा) भैक्षम् चरेत्॥ 49॥

अनुवाद—उपनयन संस्कार किया हुआ श्रेष्ठ ब्राह्मण (ब्रह्मचारी) 'भवत्' शब्द का पहले, क्षत्रिय (ब्रह्मचारी) भवत् शब्द का मध्य में, किन्तु वैश्य (ब्रह्मचारी) 'भवत्' का अन्त में (उच्चारण करके) भिक्षा माँगने का आचरण करे।

'चन्द्रिका'—जिस ब्राह्मण ब्रह्मचारी का उपनयन संस्कार किया जा चुका है, वह भिक्षा माँगने के समय 'भवत्' शब्द का वाक्य के आरम्भ में प्रयोग करके इस प्रकार उच्चारण करे—'भवति भिक्षां देहि।' इसी प्रकार क्षत्रिय ब्रह्मचारी को 'भवत्' शब्द का वाक्य के मध्य में उच्चारण करके भिक्षा मांगनी चाहिए—'भिक्षां भवति देहि', किन्तु इसके विपरीत वैश्य ब्रह्मचारी भिक्षाटन के समय 'भवत्' शब्द को अन्त में उच्चारण करे—'भिक्षां देहि भवति।' इन तीनों वर्ण के बालकों का भिक्षाटन के लिए जाने से पूर्व उपनयन संस्कार किया जाना अनिवार्य है।

विशेष—1. विभिन्न वर्ण के ब्रह्मचारियों के लिए भिक्षाटन के समय विभिन्न प्रकार के उच्चारण का उद्देश्य उनकी अलग-अलग पहचान कराना प्रतीत होता है, जिससे सम्बोधन के प्रकार को सुनकर गृहिणी यह जान ले कि किस वर्ण का ब्रह्मचारी द्वार पर स्थित है।

2. उपनीतः — उप + √ नी + क्त (उपनयन किया गया) ऐसा प्रतीत होता है कि उपनयन संस्कार से पूर्व ब्रह्मचारी गुरुकुल से बाहर भिक्षा मांगने के लिए नहीं जाता था।

3. द्विजोत्तमः — द्विजेषु उत्तमः (सप्तमी तत्पुरुष) ब्राह्मणों में श्रेष्ठ।

मन्वर्थमुक्तावली—भवदिति॥ ब्राह्मणो भवति भिक्षां देहीति भवच्छब्दपूर्वं भिक्षा याचन्वाक्यमुच्चारयेत्। क्षत्रियो भिक्षां भवति देहीति भवन्मध्यम्। वैश्यो भिक्षां देहि भवतीति भवदुत्तरम्॥ 49॥

उपनयन संस्कार के समय ब्रह्मचारी को सर्वप्रथम किससे भिक्षा की याचना करनी चाहिए, इसका कथन करते हैं—

मातरं वा स्वसारं वा मातुर्वा भगिनीं निजाम्।
भिक्षेत भिक्षां प्रथमं या चैनं नावमानयेत्॥ 50॥

अन्वय—प्रथमम् निजाम् मातरम्, स्वसारम् वा मातुः भगिनीम् वा भिक्षाम् भिक्षेत या च एनम् न अवमानयेत्॥ 50॥

अनुवाद—सर्वप्रथम अपनी माता से अथवा बहन से या माता की बहन से भिक्षा की याचना करे और जो इसका तिरस्कार न करे।

'चन्द्रिका'—उपनयन संस्कार के समय जब ब्रह्मचारी बालक भिक्षा मांगे तो सर्वप्रथम उसे अपनी माँ से अथवा अपनी बड़ी बहन से या फिर अपनी माँ की बहन अर्थात् मौसी से ही मांगनी चाहिए। उसके बाद ही अन्य लोगों के पास भिक्षा के लिए जाना चाहिए। साथ ही इन सभी को भिक्षा के लिए अपने आप आए ब्रह्मचारी बालक का तिरस्कार नहीं करना चाहिए, अपितु स्नेहपूर्वक कुछ न कुछ उसे भिक्षा में अवश्य प्रदान करना चाहिए।

विशेष—1. श्लोक में प्रयुक्त 'निजाम्' पद का प्रयोग माता, बहन तथा माता की बहन तीनों के साथ किया जाएगा।

2. उपनीत ब्रह्मचारी बालक का भिक्षा माँगते समय अनादर नहीं करना चाहिए।

मन्वर्थमुक्तावली—मातरं वेति॥ उपनयनाङ्गभूतां भिक्षां प्रथमं मातरं भगिनीं वा मातुर्वा भगिनीं सहोदरां याचेत्। या चैनं ब्रह्मचारिणं प्रत्याख्यानेन नावमन्येत। पूर्वासंभव उत्तरा-परिग्रहः॥ 50॥

तत्पश्चात् भिक्षा में प्राप्त अन्न को खाने के प्रकार का उल्लेख करते हैं—

समाहृत्य तु तद्भैक्षं यावदन्नममायया।
निवेद्य गुरवेऽश्नीयादाचम्य प्राङ्मुखः शुचिः॥ 51॥

अन्वय—तु तत् भैक्षम् यावत् अन्नम् समाहृत्य अमायया गुरवे निवेद्य आचम्य शुचिः प्राङ्मुखः अश्नीयात्॥ 51॥

अनुवाद—किन्तु उस भिक्षा में जितना भी अन्न हो, उसे लाकर शुद्ध मन से गुरु को निवेदन करके, आचमन करके पवित्र हुए, (ब्रह्मचारी को) पूर्व दिशा की ओर मुख करके (स्वयं भी) भोजन ग्रहण करना चाहिए।

'चन्द्रिका'—भिक्षाटन में ब्रह्मचारी को जो भी जितना भी अन्न प्राप्त हो उसे पूर्णतया निश्छलभाव से सर्वप्रथम अपने गुरु की सेवा में निवेदन करना चाहिए। तत्पश्चात् जो भी गुरु उसे प्रदान करे। पुनः उसे आचमन करने के बाद पवित्र होकर, पूर्व दिशा की ओर मुख करके बैठकर शान्तिपूर्वक भोजन करना चाहिए।

विशेष—1. निश्छलभाव से अभिप्राय भिक्षा के अन्न में से गुरु की दृष्टि बचाकर न खाने से है।

2. भोजन करने से पूर्व आचमन करना एवं पूर्व दिशा की ओर मुख करके बैठने का विधान किया गया है।

3. समाहृत्य — सम् + आ + √ हृ + ल्यप् (इकट्ठा करके लाकर)।

4. अमायया — न माया (छलछद्म) अमाया (नञ् समास) तया, निष्कपटभाव से।

5. आचम्य = आ + √ चम् (चमु भक्षणे) + ल्यप् (आचमन करके)।

6. निवेद्य — नि + √ विद् + ल्यप् (निवेदन करके)।

मन्वर्थमुक्तावली—समाहृत्येति॥ तद्भैक्षं बहुभ्य आहृत्य यावदन्नं तृप्तिमात्रोचितं गुरवे निवेद्य निवेदनं कृत्वा अमायया न कदन्नेन सदन्नं प्रच्छाद्यैवमेतद्गुरुर्ग्रहीष्यतीत्यादिमायाव्यतिरेकेण तदनुज्ञात आचमनं कृत्वा शुचिः सन् भुञ्जीत प्राङ्मुखः॥ 51॥

इदानीं काम्यभोजनमाह—

पुनः विभिन्न दिशाओं की ओर मुख करके भोजन करने से प्राप्त होने वाले फल का कथन करते हैं—

आयुष्यं प्राङ्मुखो भुङ्क्ते यशस्यं दक्षिणामुखः।
श्रियं प्रत्यङ्मुखो भुङ्क्ते ऋतं भुङ्क्ते ह्युदङ्मुखः॥ 52॥

अन्वय—आयुष्यम् प्राङ्मुखः भुङ्क्ते, यशस्यम् दक्षिणामुखः (भुङ्क्ते) श्रियम् प्रत्यङ्मुखः भुङ्क्ते, ऋतम् उदङ्मुखः भुङ्क्ते॥ 52॥

अनुवाद—आयु को चाहने वाला पूर्व की ओर मुख करके भोजन करता है। यश चाहने वाला दक्षिण की ओर मुख करके (खाता है)। लक्ष्मी को चाहने वाला पश्चिम की ओर मुख करके भोजन करता है तथा सत्य के फल का इच्छुक ब्रह्मचारी उत्तर की ओर मुख करके खाना खाता है।

'चन्द्रिका'—आचार्य मनु के अनुसार यदि द्विज ब्रह्मचारी आयु की कामना करता है तो उसे पूर्व की ओर मुख करके भोजन करना चाहिए। इसी प्रकार यश की कामना करने वाले को दक्षिण की ओर मुँह करके खाना खाना चाहिए। यदि व्यक्ति लक्ष्मी की प्राप्ति की इच्छा करता है तो उसे पश्चिम की ओर मुख करके भोजन करना चाहिए। साथ ही सत्य के फल को प्राप्त करने की कामना वाला ब्रह्मचारी उत्तर की ओर मुख करके खाना खाए।

विशेष—1. पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण दिशाओं की ओर मुख करके भोजन करने से व्यक्ति को क्रमशः आयु, लक्ष्मी, सत्य और यश की प्राप्ति होती है। ऐसा आचार्य मनु ने माना है।

मन्वर्थमुक्तावली—आयुष्यमिति॥ आयुषे हितमन्नं प्राङ्मुखो भुङ्क्ते। आयुःकामः प्राङ्मुखो भुङ्क्त इत्यर्थः। यशसे हितं दक्षिणामुखः। श्रियमिच्छन्प्रत्यङ्मुखः। ऋतं सत्यं तत्फलमिच्छन्नुदङ्मुखो भुञ्जीत॥ 52॥

ग्रन्थकार भोजन करने के बाद भी आचमन का विधान करते हैं—

उपस्पृश्य द्विजो नित्यमन्नमद्यात्समाहितः।
भुक्त्वा चोपस्पृशेत्सम्यगद्भिः खानि च संस्पृशेत्॥ 53॥

अन्वय—द्विजः नित्यम् उपस्पृश्य समाहितः अन्नम् अद्यात्, भुक्त्वा च अद्भिः सम्यक् उपस्पृशेत्, खानि च संस्पृशेत्॥ 53॥

अनुवाद—द्विज (वर्ण का ब्रह्मचारी) हमेशा आचमन करके एकाग्रचित्त होकर अन्न का भक्षण करे और खाकर जल द्वारा (पुनः) भलीप्रकार आचमन करे एवं इन्द्रियों का स्पर्श करे।

'चन्द्रिका'—ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य वर्ण के ब्रह्मचारी को हमेशा ही भोजन के आरम्भ में आचमन करके पूर्णरूप से एकाग्रचित्त होकर भोजन करना चाहिए, साथ ही खाना खाने के बाद ठीक प्रकार शास्त्रोक्त रीति से पुनः आचमन करके अपनी आँख, कान, नाकादि इन्द्रियों का भी स्पर्श करना चाहिए।

विशेष—1. द्विज से अभिप्राय यहाँ ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य वर्ण के ब्रह्मचारियों से है। शूद्र वर्ण के लिए यह विधान नहीं किया गया है।

2. भोजन के पूर्व एवं बाद में आचमन का प्रावधान स्वास्थ की दृष्टि से आयुर्वेद सम्मत भी है।

3. भोजन करते समय चित्त का स्थिर, एकाग्र होना अत्यावश्यक है, तभी वह गुणकारी होता है।

4. उपस्पृश्य — उप + √ स्पृश् + ल्यप् (आचमन करके)।

5. समाहितः — सम् + आ + √ धा + क्त (एकाग्रचित्त हुआ)।

6. भुक्त्वा — √ भुज् + क्त्वा (खाकर)।

7. उपस्पृशेत् — उप + √ स्पृश् + विधिलिङ लकार, प्रथमपुरुष, एकवचन (स्पर्श करे)।

8. श्लोक में प्रयुक्त 'नित्य' का अभिप्राय 'जीवन में हमेशा' अर्थात् गृहस्थाश्रम आदि में भी इस नियम का पालन करना चाहिए, ऐसा लगाया जा सकता है।

9. शास्त्रों में भी हाथ पैर धोकर भोजन से पहले आचमन का विधान किया गया है—

"प्रक्षाल्य हस्तौ पादौ च त्रिः पिबेदम्बु वीक्षितम्"

मन्वर्थमुक्तावली—उपस्पृश्येति॥ 'निवेद्य गुरवेऽश्नीयादाचम्य' इति यद्यपि भोजनात्प्रागाचमनं विहितं तथाप्यद्भिः खानि च संस्पृशेदिति गुणविधानार्थोऽनुवादः। नित्यं ब्रह्मचर्यानन्तरमपि द्विज आचम्यान्नं भुञ्जीत। समाहितोऽनन्यमनाः भुक्त्वा चाचामेदिति। सम्यग्यथाशास्त्रम्। तेन 'प्रक्षाल्य हस्तौ पादौ च त्रिः पिबेदम्बु वीक्षितम्' इत्यादि दक्षाद्युक्तमपि संगृह्णाति। जलेन खानीन्द्रियाणि षट् छिद्राणि च स्पृशेत्। तानि च शिरःस्थानि घ्राणचक्षुःश्रोत्रादीनि ग्रहीतव्यानि। 'खानि चोपस्पृशेच्छीर्षण्यानि' इति गोतमवचनात्। उपस्पर्शनं कृत्वा खानि संस्पृशेदिति पृथग्विधानान्निरभ्भक्षणमात्रमाचमनम्, खस्पर्शनादिकमितिकर्तव्यतेति दर्शितम्॥ 53॥

भोजन करते समय मनःस्थिति एवं अन्य प्रतिक्रियाओं के विषय में उल्लेख करते हुए कहते हैं—

पूजयेदशनं नित्यमद्याच्चैतदकुत्सयन्।
दृष्ट्वा हृष्येत्प्रसीदेच्च प्रतिनन्देच्च सर्वशः ॥ 54 ॥

अन्वय—नित्यम् अशनम् पूजयेत् च अकुत्सयन् एतत् अद्यात्, च दृष्ट्वा हृष्येत्, च प्रसीदेत् सर्वशः प्रतिनन्देत् ॥ 54 ॥

अनुवाद—हमेशा भोजन की पूजा करनी चाहिए और बुराई किये बिना इसे खाना चाहिए एवं देखकर आनन्दित और प्रसन्न होना चाहिए तथा सभी प्रकार से (इसका) अभिनन्दन करना चाहिए।

'चन्द्रिका'—भोजन करने से पहले व्यक्ति को जो भी भोजन प्राप्त हुआ है, उसकी पूजा करनी चाहिए तथा किसी भी प्रकार का भोजन क्यों न हो उसकी प्रशंसा करते हुए ही उसे खाना चाहिए। जैसे कितना स्वादिष्ट भोजन है, इत्यादि। कभी भी भोजन की निन्दा नहीं करनी चाहिए। भोजन को देखकर आनन्द का अनुभव करते हुए प्रसन्नता अभिव्यक्त करनी चाहिए। इस प्रकार प्राप्त हुए भोजन का सभी प्रकार से अभिनन्दन अर्थात् स्वागत करना चाहिए।

विशेष—1. श्रद्धा के साथ मनोयोग से प्रसन्नतापूर्वक खाया गया भोजन ही हमें बल एवं बुद्धि प्रदान करता है।

2. प्राप्त भोजन की कभी भी निन्दा नहीं करनी चाहिए।

3. यह श्लोक सभी वर्णों के व्यक्तियों पर लागू होता है।

4. अकुत्सयन् = न कुत्सयन् इति (नञ् समास) निन्दा न करते हुए।

5. पुराण में भी कहा गया है कि—**"अन्नं दृष्ट्वा प्रणम्यादौ प्राञ्जलिः कथयेत्ततः।"**

मन्वर्थमुक्तावली—पूजयेदशनमिति॥ सर्वदा अन्नं पूजयेत्प्राणार्थत्वेन ध्यायेत्। तदुक्त-मादिपुराणे–'अन्नं विष्णुः स्वयं प्राह' इत्यनुवृत्तौ 'प्राणार्थं मां सदा ध्यायेत्स मां संपूजयेत्सदा। अनिन्दंश्चैतदद्यात्तु दृष्ट्वा हृष्येत्प्रसीदेच्च॥' इति। हेत्वन्तरमपि खेदमन्नदर्शने त्यजेत्। प्रतिनन्देत्। नित्यमस्माकमेतदस्त्वित्यभिधाय वन्दनं प्रतिनन्दनम्। तदुक्तमादिपुराणे—'अन्नं दृष्ट्वा प्रण-म्यादौ प्राञ्जलिः कथयेत्ततः। अस्माकं नित्यमस्त्वेतदिति भक्त्या स्तुवन्नमेत्॥' सर्वशः सर्वमन्नम् ॥ 54 ॥

भोज्य—अन्न की पूजा करने से होने वाले लाभ एवं पूजा न करने पर होने वाली हानि का कथन करते हैं—

पूजितं ह्यशनं नित्यं बलमूर्जं च यच्छति।
अपूजितं तु तद्भुक्तमुभयं नाशयेदिदम् ॥ 55 ॥

अन्वय—पूजितम् अशनम् नित्यम् हि बलम् च ऊर्जम् यच्छति, तु तत् अपूजितम् भुक्तम् इदम् उभयम् नाशयेत् ॥ 55 ॥

अनुवाद—पूजित अन्न सदैव ही बल और ऊर्जा प्रदान करता है, किन्तु वही निरादर करके खाया हुआ इन दोनों (बल और ऊर्जा) को नष्ट कर देता है।

'चन्द्रिका'—यदि खाने से पहले व्यक्ति भोजन की पूजा करता है तो वही अन्न व्यक्ति को बल एवं ऊर्जा प्रदान करता है, इसके विपरीत निरादरपूर्वक खाया गया अन्न व्यक्ति के इन दोनों अर्थात् बल और ऊर्जा को विनष्ट कर देता है।

विशेष—1. आदर-भावना से खाया गया अन्न ही लाभ प्रदान करता है, तिरस्कार-पूर्वक खाया गया नहीं।

2. भारतीय संस्कृति के अनुसार अन्न को भी देवता माना गया है।

3. अपूजितम् – न पूजितम् इति (नञ् समास) √ पूज् + क्त = पूजितम्।

मन्वर्थमुक्तावली—पूजितमिति॥ यस्मात्पूजितमन्नं सामर्थ्यं वीर्यं च ददाति। अपूजितं पुनरतेदुभयं नाशयति। तस्मात्सर्वदाऽन्नं पूजयेदिति पूर्वेणैकवाक्यतापन्नमिदं फलश्रवणम्। संध्यावन्दनादावुपात्तदुरितक्षयवन्नित्यं कामनाविषयत्वेनापि नित्यश्रुतिरविहितानित्यश्रुति- विरोधात्। फलश्रवणं स्तुत्यर्थमिति तु मेधातिथिगोविन्दराजौ॥ 55॥

भोजन विषयक अन्य नियमों का कथन करते हुए, किसी के द्वारा खाया हुआ जूठा अन्न खाने का निषेध करते हुए कहते हैं—

नोच्छिष्टं कस्यचिद्दद्यान्नाद्याच्चैव तथान्तरा।
न चैवात्यशनं कुर्यान्न चोच्छिष्टः क्वचिद्व्रजेत्॥ 56॥

अन्वय—कस्यचित् उच्छिष्टम् न दद्यात् तथा अन्तरा एव न अद्यात् च न एव अति-अशनम् कुर्यात् च न उच्छिष्टः क्वचित् व्रजेत्॥ 56॥

अनुवाद—किसी को जूठा (भोजन) नहीं देना चाहिए तथा (प्रातः और सायं के) बीच खाना भी नहीं चाहिए और न ही अत्यधिक भोजन करना चाहिए एवं जूठे मुँह कहीं जाना भी नहीं चाहिए।

'चन्द्रिका'—कभी भी किसी को अपना जूठा भोजन खाने के लिए प्रदान नहीं करना चाहिए। केवल प्रातः और सायं दो समय ही भोजन करना चाहिए, बीच में अर्थात् दोपहर में भोजन नहीं खाना चाहिए। साथ ही अत्यधिक मात्रा में भी भोजन नहीं करना चाहिए। अधिक खाना स्वास्थ्य एवं अन्न का अपव्यय दोनों दृष्टियों से उचित नहीं है। इसके अतिरिक्त भोजन करने के बाद जूठे मुँह घर से बाहर नहीं जाना चाहिए अर्थात् कुल्ला आदि करके ही बाहर जाना चाहिए।

विशेष—1. प्रस्तुत श्लोक चिकित्सा-विज्ञान की दृष्टि से अत्यधिक महत्त्व रखता है, क्योंकि जूठा खाने और अधिक खाने से बीमार होने की सम्भावना रहती है, जिसका यहाँ ग्रन्थकार ने निषेध किया है।

2. प्रातः एवं सायंकालीन भोजन भी स्वास्थ्य की दृष्टि से उत्तम है।

3. भोजन के बाद दाँतों में फंसे अन्न कणों को निकालने के लिए कुल्ला आदि करना अत्यावश्यक है। इससे दाँत स्वस्थ एवं मसूडे मजबूत रहते हैं।

4. कुछ व्याख्याकारों ने द्वितीय चरण का अर्थ 'न ही किसी को जूठा अन्न खाने के लिए देना चाहिए' भी किया है।

5. उच्छिष्टः = उत् + √ शिष् + क्त नपु. (जूठा किया हुआ)।

मन्वर्थमुक्तावली—नोच्छिष्टमिति॥ भुक्तावशेषं कस्यचिन्न दद्यात्। चतुर्थ्यां प्राप्ताय संबन्धमात्रविवक्षया षष्ठी। अनेनैव सामान्यनिषेधेन शूद्रस्याप्युच्छिष्टदाननिषेधे सिद्धे 'नोच्छिष्ट न हविष्कृतम्' इति शूद्रगोचरनिषेधश्चातुर्थः स्नातकव्रतत्वार्थः। दिवासायंभोजनयोश्च मध्ये न भुञ्जीत। वारद्वयेऽप्यतिभोजनं न कुर्यान्नातिसौहित्यमाचरेदिति चातुर्थं स्नातकव्रतार्थम् उच्छिष्टः सन् क्वचिन्न गच्छेत्॥ 56॥

अतिभोजने दोषमाह—

तत्पश्चात् अत्यधिक भोजन के दोषों का कथन करते हैं—

अनारोग्यमनायुष्यमस्वर्ग्यं चातिभोजनम्।
अपुण्यं लोकविद्विष्टं तस्मात्तत्परिवर्जयेत्॥ 57॥

अन्वय—अतिभोजनम् अनारोग्यम्, अनायुष्यम्, अस्वर्ग्यम्, अपुण्यम् च लोक विद्विष्ट (भवति) तस्मात् तत् परिवर्जयेत्॥ 57॥

अनुवाद—अत्यधिक भोजन (खाना), आरोग्य का विनाशक, आयु को कम करने वाला, स्वर्ग-प्राप्ति में बाधक, पुण्यों का नाश करने वाला और समाज में निन्दा करने वाला (होता है) इसलिए उसे (अतिभोजन को) छोड़ देना चाहिए।

'चन्द्रिका'—अत्यधिक भोजन खाने से व्यक्ति निरोगी नहीं रहता, इससे व्यक्ति की आयु कम होती है तथा अपनी सामर्थ्य से अधिक खाने से व्यक्ति को स्वर्ग-प्राप्ति में भी बाधा आती हैं, क्योंकि वह आलस्याधिक्य के कारण नियमित तप का आचरण नहीं कर पाता है तथा अधिक भोजन करने से व्यक्ति के पुण्यों का भी नाश होता है क्योंकि ऐसा व्यक्ति एक प्रकार से अन्यों के हिस्से का अन्न ही भक्षण करता है। इसके अतिरिक्त अधिक खाने वाले व्यक्ति की समाज में सर्वत्र निन्दा होती है, कोई भी उसे अपने घर पर भोजन के लिए आमन्त्रित करना पसन्द नहीं करता है। इसलिए इन सब कारणों से अधिक भोजन खाने की प्रवृत्ति अथवा स्वभाव का त्याग कर देना चाहिए।

विशेष—1. व्यक्ति को केवल उतने अन्न का ही भक्षण करना चाहिए जितने की उसके शरीर को आवश्यकता हो। यह उसके स्वयं के लिए तथा समाज दोनों के लिए हितकारी होता है।

2. अनारोग्यम्, न आरोग्यम् इति। अनायुष्यम् – न आयुष्यम् इति। अस्वर्ग्यम् – न स्वर्ग्यम्, इति। अपुण्यम् – न पुण्यम् इति। इन सभी में नञ् समास का प्रयोग 'अप्राशस्त्य' अर्थ में हुआ है।

3. लोकविद्विष्टम् – लोकैः विद्विष्टम् (लोगों के द्वारा निन्दित) वि + √ द्विष् + क्त।

4. परिवर्जयेत् – परि + √ वृज् (वृजी, वर्जने) + विधिलिंग लकार प्रथम पुरुष, एकवचन। छोड़ देना चाहिए।

मन्वर्थमुक्तावली—अनारोग्यमिति॥ अरोगो रोगाभावस्तस्मै हितमारोम्यं आयुषे हितमायुष्यम्। यस्मादतिभोजनमनारोग्यमनायुष्यं च भवति अजीर्णजनकत्वेन रोगमरणहेतुत्वात्। अस्वर्ग्यं च स्वर्गहेतुयागादिविरोधित्वात्। अपुण्यमितरपुण्यप्रतिपक्षत्वात्। लोकविद्विष्टं बहुभोजितया लोकैर्निन्दनात्। तस्मात्तन्न कुर्यात्॥ 57॥

पुनः ब्राह्मण द्वारा किए जाने वाले आचमन के विषय में निर्देश करते हैं—

ब्राह्मेण विप्रस्तीर्थेन नित्यकालमुपस्पृशेत्।
कायत्रैदशिकाभ्यां वा न पित्र्येण कदाचन॥ 58॥

अन्वय—विप्रः नित्यकालम् ब्राह्मेण तीर्थेन कायत्रैदशिकाभ्याम् वा उपस्पृशेत्। कदाचन पित्र्येण न (उपस्पृशेत्)॥ 58॥

अनुवाद—ब्राह्मण को हमेशा ब्राह्मतीर्थ से अथवा प्राजापत्य या देवतीर्थ से आचमन करना चाहिए। (उसे) कभी भी पित्र्यतीर्थ से (आचमन) नहीं करना चाहिए।

'चन्द्रिका'—आचमन के सम्बन्ध में ब्राह्मण के लिए विशेष निर्देश करते हुए कहते हैं कि उसे अपने जीवन में हमेशा ब्राह्मतीर्थ से आचमन करना चाहिए। इसके अतिरिक्त वह हाथ में स्थित प्राजापत्य एवं देवतीर्थ से भी आचमन कर सकता है, किन्तु उसे किसी भी स्थिति में पितृतीर्थ से आचमन नहीं करना चाहिए।

विशेष—1. ब्राह्मतीर्थ, प्राजापत्य तीर्थ, देवतीर्थ तथा पितृतीर्थ इनकी हाथ में स्थिति को ग्रन्थकार ने अग्रिम श्लोक—**अंगुष्ठमूलस्य**·······इत्यादि के अन्तर्गत स्पष्ट किया है।

2. ब्राह्मण के लिए विशेष रूप से पितृतीर्थ से आचमन का कठोरतापूर्वक निषेध किया गया है। अंगूठे और तर्जनी अंगुली के मध्य का स्थान पितृतीर्थ कहलाता है।

3. 'विप्र' शब्द का प्रयोग यहाँ विशेष रूप से ब्राह्मण वर्ण के लिए किया गया है।

4. काय-त्रैदशिकाभ्याम्–क प्रजापति को कहते हैं, उससे अष्टाध्यायी 4/3/120 में निर्दिष्ट ''तस्येदम्'' सूत्र से अण् प्रत्यय करके इकार और अन्तादेश होकर बना–काय। त्रैदशिक देवता का नाम है।

5. कायश्च त्रैदशिकश्च ताभ्याम् (द्वन्द्व समास) तृतीया वि., द्विवचन। यहाँ 'समुच्चय' की अपेक्षा 'विकल्प' अर्थ लेना होगा।

6. भोजन से पूर्व और पश्चात् आचमन का निर्देश आचार्य मनु द्वारा किया जा चुका है (2/53)। पुनः यहाँ विशेषतः ब्राह्मण के लिए आचमन की विधि का कथन किया गया है।

मन्वर्थमुक्तावली—ब्राह्मेणेति॥ ब्राह्मादिसंज्ञेयं शास्त्रे संव्यवहारार्थां स्तुत्यर्था च। नतु मुख्यं ब्रह्मदेवताकत्वं संभवति। अयागरूपत्वात्। तीर्थशब्दोऽपि पावनगुणयोगात्। ब्राह्मेण तीर्थेन सर्वदा विप्रादिराचामेत्। कः प्रजापतिस्तदीयः, 'तस्येदम्' इत्यण् इकारश्चान्तादेशः। त्रैदशिको देवस्ताभ्यां वा। पित्र्येण तु तीर्थेन न कदाचिदाचामेत्। अप्रसिद्धत्वात्॥ 58॥

ब्राह्मादितीर्थान्याह—

तदनन्तर ब्राह्मादि तीर्थों की हाथ में स्थिति का उल्लेख करते हैं—

अङ्गुष्ठमूलस्य तले ब्राह्मं तीर्थं प्रचक्षते।
कायमङ्गुलिमूलेऽग्रे दैवं पित्र्यं तयोरधः॥ 59॥

अन्वय—अंगुष्ठमूलस्य तले ब्राह्मम् तीर्थम्, अङ्गुलिमूले कायम्, अग्रे दैवम्, तयोः अधः पित्र्यम् प्रचक्षते॥ 59॥

अनुवाद—अंगूठे के मूल के नीचे ब्राह्मतीर्थ, (कनिष्ठिका) अंगुलि के नीचे कायतीर्थ, अग्रभाग में देवतीर्थ तथा उन दोनों (अंगूठे और तर्जनी) के नीचे पित्र्य (तीर्थ) कहा जाता है।

'चन्द्रिका'—हाथ में अंगूठे के मूल से नीचे का स्थान ब्राह्मतीर्थ कहा जाता है तथा कनिष्ठिका अंगुलि के नीचे का हिस्सा कायतीर्थ माना जाता है एवं अंगुलियों के अग्रभाग को देवतीर्थ कहते हैं। इसके अतिरिक्त हाथ के अंगूठे और तर्जनी अंगुली के बीच में थोड़ा नीचे का स्थान पितृतीर्थ के नाम से जाना जाता है।

विशेष—1. आचार्य याज्ञवल्क्य ने इन तीर्थों का इस प्रकार उल्लेख किया है—

कनिष्ठादेशिन्यङ्गुष्ठमूलान्यग्रं करस्य च।
प्रजापति-पितृ-ब्रह्म-देव-तीर्थान्यनुक्रमात्॥ 2/19॥

2. यद्यपि श्लोक में कायतीर्थ के सम्बन्ध में केवल अंगुलि शब्द का प्रयोग किया गया है तथापि धर्मशास्त्र के अन्य ग्रन्थों के आधार पर इसका अभिप्राय कनिष्ठिका अंगुली लेना चाहिए।

मन्वर्थमुक्तावली—अङ्गुष्ठमूलस्येति॥ अङ्गुष्ठमूलस्याधोभागे ब्राह्मं, कनिष्ठाङ्गुलिमूले कायं, अङ्गुलीनामग्रे दैवं, अङ्गुष्ठप्रदेशिन्योर्मध्ये पित्र्यं तीर्थं मन्वादय आहुः। यद्यपि कायमङ्गुलिमूले, तयोरध इत्यत्र चाङ्गुलिमात्रं श्रुतं तथापि स्मृत्यन्तराद्विशेषपरिग्रहः। तथाच याज्ञवल्क्यः—'कनिष्ठादेशिन्यङ्गुष्ठमूलान्यग्रं करस्य च। प्रजापतिपितृब्रह्मदेवतीर्थान्यनुक्रमात्॥ 59॥'

सामान्येनोपदिष्टस्याचमनस्यानुष्ठानक्रममाह—

तीर्थकथन के पश्चात् ग्रन्थकार आचमन के समय की जाने वाली अन्य क्रियाओं के सम्बन्ध में कहते हैं—

त्रिराचामेदपः पूर्वं द्विः प्रमृज्यात्ततो मुखम्।
खानि चैव स्पृशेदद्भिरात्मानं शिर एव च॥ 60॥

अन्वय—पूर्वम् अपः त्रिः आचामेत्, ततः द्विः मुखम् प्रमृज्यात् एव च अद्भिः खानि च आत्मने: शिरः एव स्पृशेत्॥ 60॥

अनुवाद—पहले जल से तीन बार आचमन करे। उसके बाद दो बार मुख को धोना भी चाहिए तथा जलों से इन्द्रियों हृदय एवं शिर का भी स्पर्श करना चाहिए।

'चन्द्रिका'—आचमन विधि का विस्तार से कथन करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि व्यक्ति को सर्वप्रथम जल से तीन बार आचमन करना चाहिए एवं साथ ही दो बार मुख का प्रक्षालन भी करना चाहिए। तत्पश्चात् हाथ में जल लेकर उससे नाक, कान, आँख आदि इन्द्रियों का स्पर्श करते हुए, आत्मा अर्थात् हृदय एवं सिर का भी स्पर्श करना चाहिए, तभी उसके शरीर की पूर्णशुद्धि होती है तथा आचमन क्रिया सम्पन्न होती है।

विशेष—1. आचमन को तीन बार करने के लिए कहा गया है तथा इसी क्रम में इन्द्रियों, हृदय तथा सिर की भी जलों से स्पर्श करने की अनिवार्यता प्रतिपादित की है।

2. अद्भिः = अप् + तृतीया विभक्ति, बहुवचन, (जलों द्वारा) अप् शब्द नित्य बहुवचनान्त होता है।

3. श्लोक में प्रयुक्त आत्मनः से अभिप्राय आत्मा अर्थात् हृदय से लेना चाहिए।

4. त्रिः = तीन बार, द्विः = दो बार।

5. प्रमृज्यात् = प्र + √ मृज् (मृज शौचालंकारयोः) + विधिलिङ्ग लकार, प्र. पु. ए.व. (प्रक्षालन करना चाहिए)।

6. इस सम्बन्ध में आचार्य गौतम का कथन है—"**खानि चोपस्पृशेच्छीर्षण्यानि।**"

7. आचार्य बृहस्पति कहते हैं—"**हृद्यन्तज्योति पुरुषः।**"

मन्वर्थमुक्तावली—त्रिराचामेदिति॥ पूर्वं ब्राह्मादितीर्थेन जलगण्डूषत्रयं पिबेत्। अनन्तरं संवृत्यौष्ठाधरौ वारद्वयमङ्गुलष्ठमूलेन संमृज्यात्। 'संवृत्याङ्गुष्ठमूलेन द्विः प्रमृज्यात्ततो मुखम्' इति दक्षेण विशेषाभिधानात्। खानि चेन्द्रियाणि जलेन स्पृशेत्। मुखस्य सन्निधानान्मुखखान्येव। गोतमोऽप्याह—'खानि चोपस्पृशेच्छीर्षण्यानि हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः' इत्युपनिषत्सु हृदयदेशत्वेनात्मनः श्रवणादात्मानं हृदयं शिरश्चाद्भिरेव स्पृशेत्॥ 60॥

पुनः आचमन करते हुए मुख की दिशा और जल की प्रकृति का कथन करते हैं—

अनुष्णाभिरफेनाभिरद्भिस्तीर्थेन धर्मवित्।
शौचेप्सुः सर्वदाचामेदेकान्ते प्रागुदङ्मुखः॥ 61॥

अन्वय—शौचेप्सुः धर्मवित् एकान्ते प्राग्-उदङ्मुखः (भूत्वा) (निर्दिष्टेन) तीर्थेन अनुष्णाभिः अफेनाभिः अद्भिः सर्वदा आचामेत्॥ 61॥

अनुवाद—पवित्रता को चाहने वाले, धर्मज्ञ (व्यक्ति को) एकान्त में पूर्व अथवा उत्तर की ओर मुख करके (निर्दिष्ट) तीर्थ से शीतल (और) फेनरहित जलों से (ही) हमेशा आचमन करना चाहिए।

'चन्द्रिका'—जो व्यक्ति धर्म के मर्म को जानता है तथा उसके अनुसार आचरण करना चाहता है एवं अपने शरीर की शुद्धि करने का इच्छुक है। उसे हमेशा पूर्व अथवा उत्तर दिशा की ओर मुख करके जिस-जिस तीर्थ से आचमन का निर्देश दिया गया है, उस-उस तीर्थ के द्वारा ही ठण्डा और झागादि से रहित पूर्णतया शुद्ध जलों से ही एकान्त में आचमन करना चाहिए।

विशेष—1. आचमन का प्रमुख उद्देश्य शरीर की शुद्धि है।

2. धर्मशास्त्रों का अध्ययन करके उनके अनुसार आचरण करने वाले व्यक्ति के प्रति ही यह कथन किया गया है।

3. आचमन के समय जल का शीतल होना तथा फेनरहित होना आवश्यक है, किन्तु आपत्काल में रुग्णावस्था आदि में उष्ण जल का भी विधान शास्त्रों में मिलता है—**तप्ताभिः कारणात्** (आपस्तम्ब)।

4. आचमन के लिए एकान्त स्थान का भी निर्देश किया गया है।

5. प्रस्तुत श्लोक में पश्चिम अथवा दक्षिण दिशा की ओर मुख करके आचमन करने के निषेध की व्यञ्जना से प्रतीति हो रही है।

6. **आचामेत्** – आ + √ चम् (चमु अदने) + विधिलिङ्ग लकार, प्र. पु. ए.व. (आचमन करे)।

7. आचमन के समय उचित तीर्थ का प्रयोग अत्यावश्यक है, इसी कारण पुनः तीर्थ शब्द का कथन किया है।

8. इन नियमों का हमेशा पालन किया जाना चाहिए, इसके लिए 'सर्वदा' शब्द का प्रयोग किया है।

मन्वर्थमुक्तावली—अनुष्णाभिरिति॥ अनुष्णीकृताभिः फेनवर्जिताभिर्ब्राह्मादितीर्थेन शौचमिच्छन्नेकान्ते जनैरनाकीर्णे शुचिदेश इत्यर्थः। प्राङ्मुख उदङ्मुखो वा सर्वदाचामेत्। आपस्तम्बेन तप्ताभिश्च कारणादित्यभिधानाद्व्याध्यदिकारणव्यतिरेकेण नाचामेत्। व्याध्यादौ तु उष्णीकृताभिरप्याचमने दोषाभावः। तीर्थव्यतिरेकेणाचमने शौचाभाव इति दर्शयितुमुक्तस्यापि तीर्थस्य पुनर्वचनम्॥ 61॥

आचमनजलपरिमाणमाह—

तत्पश्चात् आचमन के समय ली जाने वाली जल की मात्रा का कथन करते हैं—

हृद्गाभिः पूयते विप्रः कण्ठगाभिस्तु भूमिपः।
वैश्योऽद्भिः प्राशिताभिस्तु शूद्रः स्पृष्टाभिरन्ततः॥ 62॥

अन्वय—विप्रः हृदगाभिः, तु भूमिपः कण्ठगाभिः, वैश्यः तु प्राशिताभिः, शूद्रः अन्ततः स्पष्टाभिः आद्भिः पूयते॥ 62॥

अनुवाद—ब्राह्मण हृदय तक पहुँचे हुए, किन्तु क्षत्रिय कण्ठ तक गए हुए, वैश्य तो मुख तक गए हुए, (जबकि) शूद्र अन्त तक स्पर्श किए गए जलों के द्वारा (ही) शुद्ध होता है।

'चन्द्रिका'—ब्राह्मण वर्ण के व्यक्ति को आचमन करते समय इतना जल पीना चाहिए कि वह उसके हृदय का स्पर्श करे, किन्तु क्षत्रिय वर्ण का व्यक्ति आचमन में इतना जल ग्रहण करे, जिससे वह उसके कण्ठ तक पहुँच जाए। इसके विपरीत वैश्य वर्ण का व्यक्ति जल की मात्रा आचमन करते समय केवल इतनी ग्रहण करे कि वह उसके मुख तक ही सीमित रहे। जबकि शूद्र वर्ण के व्यक्ति को तो केवल मुख के अन्तिम भाग अर्थात् ओष्ठ को स्पर्श करने योग्य जल का ही ग्रहण करना चाहिए। इस प्रकार करने से ही व्यक्ति शुद्ध होता है।

विशेष—1. विभिन्न वर्णों के लिए आचमन में जल की भिन्न मात्रा के पीछे सम्भवतः आचार्य मनु की दृष्टि शरीर की प्रकृति की भिन्नता के प्रति रही हो, तथापि इसका अन्य कोई औचित्य प्रतीत नहीं होता।

2. अन्ततः — अन्त + तसिल् (तृतीया विभक्ति के अर्थ में) ओष्ठ पर्यन्त टीकाकारों ने इसका अर्थ मुख का अन्तिम भाग अर्थात् ओष्ठ किया है, क्योंकि जल की मात्रा का कथन हृदय, कण्ठ और मुख से किया है।

3. भूमिपः — भूमिम् पाति, इति (राजा अर्थात् क्षत्रिय वर्ण का व्यक्ति)।

4. प्राशिताभिः — प्र + √ अश् (अश भोजने) + क्त, ताभिः (तृ. वि., बहु. व.) मुखों तक।

5. आचार्य मनु ने आचमन का प्रावधान चारों वर्णों के लिए किया है।

मन्वर्थमुक्तावली—हृद्गाभिरिति॥ ब्राह्मणो हृदयगामिनीभिः, क्षत्रियः कण्ठगामिनीभिः, वैश्योऽन्तरास्यप्रविष्टाभिः कण्ठमप्राप्ताभिरपि, शूद्रो जिह्वौष्ठान्तेनापि स्पृष्टाभिरद्भिः पूतो भवति। अन्तत इति तृतीयार्थे तसिः॥ 62॥

आचमनाङ्गतामुपवीतस्य दर्शयितुमुपवीतलक्षणं ततः प्रसङ्गेन प्राचीनावीतीत्यादिलक्षण-माह—

इसके बाद यज्ञोपवीत को धारण करने की स्थिति एवं उनके विशिष्ट नामों के सम्बन्ध में कहते हैं—

उद्धृते दक्षिणे पाणावुपवीत्युच्यते द्विजः।
सव्ये प्राचीनआवीती निवीती कण्ठसज्जने॥ 63॥

अन्वय—दक्षिणे पाणौ उद्धृते द्विजः उपवीती, सव्ये प्राचीनआवीती, कण्ठसज्जने (च) निवीती इति उच्यते॥ 63॥

अनुवाद—दाहिने हाथ को उठाकर ग्रहण करने पर द्विज (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) बायें (हाथ को उठाकर ग्रहण करने पर) प्राचीन-आवीती, (तथा) कण्ठ में लटकाने पर 'निवीती' कहलाता है।

'चन्द्रिका'—यज्ञोपवीत को शरीर में धारण करने की तीन स्थितियाँ हैं—प्रथम दाहिने हाथ के नीचे बाएँ कन्धे पर डालकर, द्वितीय बाएँ हाथ के नीचे तथा दाहिने कन्धे पर डालकर, तृतीय—गले में माला की तरह लपेटकर। इन तीनों स्थितियों को ग्रन्थकार ने क्रमशः उपवीती प्राचीन आवीती और निवीती नाम दिए हैं।

ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य इन तीनों वर्णों को द्विज कहा गया है तथा इनमें से किसी भी वर्ण का व्यक्ति यदि यज्ञोपवीत को दाहिने कन्धे के ऊपर डालकर रखता है, तो ऐसे व्यक्ति को प्राचीन-आवीती कहा जायेगा। ठीक इसी प्रकार बाएँ कन्धे पर डालने पर उसे उपवीती और गले में माला की तरह लपेटने पर "निवीती" ने नाम से कहेंगे।

विशेष—1. उपवीती, प्राचीन-आवीती और निवीती ये तीनों वस्तुतः धर्मशास्त्र में पारिभाषिक शब्द हैं, जिनका सम्बन्ध यज्ञोपवीत धारण करने की क्रमशः तीन स्थितियों से हैं।

2. तीनों ही वर्ण के व्यक्ति यज्ञोपवीत को इन तीन स्थितियों में धारण कर सकते हैं। इसी कारण श्लोक में 'द्विज' शब्द का प्रयोग किया है।

मन्वर्थमुक्तावली—उद्धृते इति॥ दक्षिणे पाणावुद्धृते वामस्कन्धस्थिते दक्षिणस्कन्धावलम्बे यज्ञसूत्रे वस्त्रे वोपवीती द्विजः कथ्यते। वामपाणावुद्धृते दक्षिणस्कन्धस्थिते वामस्कन्धावलम्बे प्राचीनावीती भण्यते। सव्ये प्राचीनआवीतीति छन्दोऽनुरोधादुक्तम्। तथाच गोभिलः—'दक्षिणं बाहुमुद्धृत्य शिरोऽवधाय सव्येऽसे प्रतिष्ठापयति दक्षिण स्कन्धमवलम्बनं भवत्येवं यज्ञोपवीती भवति। सव्यं बाहुमुद्धृत्य शिरोऽवधाय दक्षिणेऽसे प्रतिष्ठापयति। सव्यं कक्षमवलम्बनं भवत्येवं प्राचीनावीती भवति। निवीती कण्ठसज्जन इति शिरोवधाय दक्षिणपाण्यादावप्यनुद्धृते कण्ठादेव सज्जनत्रज्जुप्रालम्बे यज्ञसूत्रे वस्त्रे च निवीती भवति॥ 63॥

ब्रह्मचारी द्वारा धारण की गई सामग्री तथा आवश्यक वस्तुओं के सम्बन्ध में निर्देश करते हुए कहते हैं—

मेखलामजिनं दण्डमुपवीतं कमण्डलुम्।
अप्सु प्रास्य विनष्टानि गृह्णीतान्यानि मन्त्रवत्॥ 64॥

अन्वय—विनिष्टानि मेखलाम्, अजिनम्, दण्डम्, उपवीतम्, कमण्डलुम् अप्सु प्रास्य, अन्यानि मन्त्रवत् गृह्णीत॥ 64॥

अनुवाद—विनष्ट हुए मेखला, मृगचर्म, दण्ड, यज्ञोपवीत, कमण्डलु, जल में फेंककर दूसरे मन्त्रपूर्वक ग्रहण करने चाहिएँ।

'चन्द्रिका'—किसी भी द्विज (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) वर्ण के ब्रह्मचारी द्वारा धारण किए गए मेखला, मृगचर्म, पलाश आदि के वृक्ष की लकड़ी से निर्मित दण्ड, यज्ञोपवीत तथा कमण्डलु इनमें से कोई भी यदि टूट जाए या अनुपयोगी हो जाए तो उसे कभी भी इधर-उधर नहीं डालना चाहिए, अपितु जल में ही डालना चाहिए। तत्पश्चात् मन्त्रोच्चारण-पूर्वक नया धारण करना चाहिए।

विशेष—1. मेखला आदि सभी पवित्र वस्तुएँ हैं तथा इनका अपवित्र स्थानों पर फेंकना उचित नहीं है। अत: जल में डालने का विधान किया गया है।

2. यज्ञोपवीत आदि किसी भी वस्तु को नया धारण करते हुए मन्त्रोच्चरण की अनिवार्यता प्रतिपादित की गई है।

3. प्रास्य — प्र + √ अस् (असु क्षेपणे) + ल्यप् (फेंककर, डालकर, बहाकर)।

4. गृह्णीत — √ ग्रह् (विधिलिंग लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन, आत्मनेपद) ग्रहण करना चाहिए।

5. मन्त्रवत् — मन्त्र + वतुप् (मन्त्रपूर्वक)।

मन्वर्थमुक्तावली—मेखलामिति॥ मेखलादीनि विनष्टानि भिन्नानि छिन्नानि च जले प्रक्षिप्यान्यानि स्वस्वगृह्योक्तमन्त्रैर्गृह्णीयात्॥ 64॥

इसके पश्चात् केशान्त संस्कार की आयु का कथन करते हैं—

केशान्तः षोडशे वर्षे ब्राह्मणस्य विधीयते।
राजन्यबन्धोर्द्वाविंशे वैश्यस्य द्व्यधिके ततः॥ 65॥

अन्वय—ब्राह्मणस्य केशान्तः षोडशे वर्षे, राजन्यबन्धो; द्वाविंशे, ततः द्व्यधिके वैश्यस्य विधीयते॥ 65॥

अनुवाद—ब्राह्मण का केशान्त संस्कार सोलहवें वर्ष में, क्षत्रिय का बाईसवें (वर्ष) में, उससे दो वर्ष अधिक (चौबीसवें वर्ष) में वैश्य का केशान्त संस्कार किया जाता है।

'चन्द्रिका'—गुरुकुल में विद्या अध्ययन के समय ब्रह्मचर्यावस्था में केशकर्तन नहीं किये जाते हैं। अत: इस अवस्था में रखे गए केशों को काटने का मन्त्रोच्चारणपूर्वक विधान किया है, जिसे केशान्त संस्कार कहते हैं। इस अवसर पर—दाढ़ी, मूँछ, काँख आदि के केशों को काटा जाता है। इस संस्कार के लिए विभिन्न वर्ण के ब्रह्मचारियों के लिए निर्धारित आयु का कथन करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि—

ब्राह्मण ब्रह्मचारी का केशान्त संस्कार सोलह वर्ष की आयु में किया जाना चाहिए। क्षत्रिय ब्रह्मचारी का यह बाईसवें वर्ष में करना चाहिए तथा वैश्य वर्ण के ब्रह्मचारी का यह संस्कार क्षत्रिय से दो वर्ष अधिक अर्थात् चौबीस वर्ष की आयु में किया जाता है।

विशेष—1. केशान्त संस्कार में कुछ विद्वानों ने केवल दाढ़ी बनवाने को ही स्वीकार किया है—**'श्मश्रुकर्मरूपं केशान्तसंस्कारम्' (मणिप्रभा)**। किन्तु सर्वज्ञ सभी केशों का कर्तन स्वीकार करते हैं—**'सर्वान् केशात् वापयन्त।**

2. केशान्त संस्कार को ही 'गोदान कर्म' के नाम से भी जाना जाता है।

3. आयु की गणना में विद्वानों में मतभेद है। आचार्य कुल्लूक भट्ट—यह गणना गर्भ से लेकर करते हैं, किन्तु आचार्य नन्दन इसे जन्म के पश्चात् स्वीकार किया है, उनके अनुसार—**षोडशे जन्मने आरभ्य।**

4. इसके विपरीत आचार्य बौधायन यह आयु गर्भ से ही स्वीकार करते हैं—**'गर्भादि संख्या वर्षाणाम्।'** अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य वर्ण के ब्रह्मचारी का केशान्त संस्कार गर्भ से क्रमशः सोलहवें, बाइसवें तथा चौबीसवें वर्ष में किया जाना चाहिए।

5. विधीयते—वि + √ धा + कर्मवाच्य।

मन्वर्थमुक्तावली—केशान्त इति॥ केशान्ताख्यो गृह्योक्तसंस्कारो 'गर्भादिसंख्यावर्षाणाम्' इति बौधायनवचनाद्गर्भषोडशे वर्षे ब्राह्मणस्य, क्षत्रियस्य गर्भद्वाविंशे, वैश्यस्य ततो व्यधिके गर्भचतुर्विंशे कर्तव्यः॥ 65॥

स्त्रियों के मन्त्ररहित संस्कारों का निर्देश करते हुए कहते हैं—

अमन्त्रिका तु कार्येयं स्त्रीणामावृदशेषतः।
संस्कारार्थं शरीरस्य यथाकालं यथाक्रमम्॥ 66॥

अन्वय—स्त्रीणाम् इयम् अशेषतः आवृत् तु यथाकालम् यथाक्रमम् शरीरस्य संस्कारार्थम् अमन्त्रिका कार्या॥ 66॥

अनुवाद—स्त्रियों की ये सभी संस्कार आदि क्रियाएँ तो शास्त्रोक्त समय के अनुसार, शास्त्रोक्त क्रम से, शरीर के संस्कार के लिए वैदिक मन्त्रों के बिना करनी चाहिए।

'चन्द्रिका'—जो संस्कार द्विजवर्ण के ब्रह्मचारियों के बताए गए उनमें से शरीर को शुद्ध करने की दृष्टि शास्त्रों में कहे गये निर्धारित समय और क्रम से स्त्रियों के भी करने चाहिए, किन्तु इनके संस्कारों में वेदमन्त्रों का उच्चारण करना निषेध है। अर्थात् स्त्रियों की संस्कार विषयक सभी क्रियाएँ मन्त्रोच्चारण के बिना ही करनी चाहिएं।

विशेष—1. आवृत् — आ + √ वृत् + क्विप् (शुद्धीकरण विषयक संस्कार) स्त्री.।

2. अमन्त्रिका — न मन्त्रिका, इति (नञ् समास) मन्त्रों के बिना।

मन्वर्थमुक्तावली—अमन्त्रिकेति॥ इयमावृदयं जातकर्मादिक्रियाकलापः समग्र उक्तकालक्रमेण शरीरसंस्कारार्थं स्त्रीणाममन्त्रकः कार्यः॥ 66॥

अनेनोपनयनेऽपि प्राप्ते विशेषमाह—

स्त्रियों के संस्कार के सम्बन्ध में पुनः ग्रन्थकार कहते हैं—

वैवाहिको विधिः स्त्रीणां संस्कारो वैदिकः स्मृतः।
पतिसेवा गुरौ वासो गृहार्थोऽग्निपरिक्रिया॥ 67॥

अन्वय—स्त्रीणाम् वैवाहिकः विधिः वैदिकः संस्कारः, पतिसेवा गुरौवासः च गृहार्थः अग्नि परिक्रिया स्मृतः॥ 67॥

अनुवाद—स्त्रियों की विवाह सम्बन्धी विधि (ही) वैदिक संस्कार, पति की सेवा (ही) गुरुकुल में निवास तथा गृह कार्यों का सम्पादन (ही) यज्ञ का अनुष्ठान माना गया है।

'चन्द्रिका'—स्त्रियों के लिए वैदिक संस्कारों, गुरुकुल में निवास तथा यज्ञादि कार्यों की अनिवार्यता की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि उनका विवाह संस्कार ही वेदमन्त्रों से किया गया उपनयन संस्कार है। इसी प्रकार वह जो पति की सेवा करती है, वही वस्तुतः उसका गुरु के सान्निध्य में निवास है एवं वह जो प्रतिदिन घर के कार्यों को निष्ठापूर्वक एवं मनोयोग के साथ कुशलतापूर्वक सम्पादित करती है, वही वास्तव में उसके लिए अग्नि परिक्रिया अर्थात् यज्ञ का अनुष्ठान हैं।

विशेष—1. स्त्रियों के लिए प्रमुख कार्य पति की सेवा करना तथा नित्यप्रति गृह कार्यों का निष्ठापूर्वक सम्पादन करना कहा गया है।

2. वैवाहिकः — विवाह + ठञ् (विवाह सम्बन्धी)।

3. वैदिकः — वेद + ठक् (वेद विषयक)।

मन्वर्थमुक्तावली—वैवाहिक इति॥ विवाहविधिरेव स्त्रीणां वैदिकः संस्कार उपनयनाख्यो मन्वादिभिः स्मृतः। पतिसेवैव गुरुकुले वासो वेदाध्ययनरूपः। गृहकृत्यमेव सायंप्रातः समिद्धोमरूपोऽग्निपरिचर्या। तस्माद्विवाहदेरुपनयनस्थाने विधानादुपनयनादेर्निवृत्तिरिति॥ 67॥

यहाँ तक उपनयन संस्कार विषयक प्रकरण को पूर्ण करके कर्मयोग सम्बन्धी प्रकरण की शुरुआत करते हुए कहते हैं—

एष प्रोक्तो द्विजातीनामौपनायनिको विधिः।
उत्पत्तिव्यञ्जकः पुण्यः कर्मयोगं निबोधत॥ 68॥

अन्वय—एषः द्विजातीनाम् उत्पत्तिव्यञ्जकः पुण्यः औपनायनिकः विधिः प्रोक्तः (अधुना) कर्मयोगम् निबोधत॥ 68॥

अनुवाद—यह द्विजातियों की उत्पत्ति की व्यञ्जक, पवित्र उपनयन संस्कार की विधि का कथन किया गया, (अब) कर्म योग को जानो।

'चन्द्रिका'—उपनयन संस्कार द्विज वर्ण के व्यक्तियों—ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों के लिए वास्तव में दूसरा जन्म ही है। इस संस्कार के कारण ही इन तीनों वर्णों को द्विज कहा जाता है। शूद्र का उपनयन संस्कार न किए जाने के कारण उसे द्विज नहीं कहा जाता है। व्यक्ति वास्तव में जन्म से शूद्र होता है। संस्कारों के बाद ही पवित्र होकर एक प्रकार से दूसरा जन्म ग्रहण करता है। इस प्रकार यहाँ तक ग्रन्थकार ने पवित्र उपनयन संस्कार की विधि का विस्तार से कथन किया, इसके बाद इनके कर्तव्यों का कथन करते हुए भृगु, ऋषियों को सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि इनके कर्मानुष्ठान को आप सब लोग मुझसे समझो।

विशेष—1. उपनयन संस्कार किया जाना एक प्रकार से द्विज वर्ण का पुनर्जन्म का ही द्योतक है।

2. **औपनायनिकः** — उपनयन + ठक् (उपनयन विषयक)।
3. विधिः — वि + √ धा + कि (अनुष्ठान)।
4. प्रोक्तः — प्र + √ वच् + क्त (कहा गया)।
5. निबोधत — नि + √ बुध् + लोट् लकार, मध्यम पुरुष, बहुवचन (जानो)।

मन्वर्थमुक्तावली—एष इति॥ औपनायनिक इत्यनुशतिकादित्वादुभयपदवृद्धिः। अयं द्विजातीनामुपनयनसंबन्धी कर्मकलाप उक्तः उत्पत्तेर्द्वितीयजन्मनो व्यञ्जकः॥ 68॥

इदानीमुपनीतस्य येन कर्मणा योगस्तं शृणुतेत्याह—

उपनयन संस्कार के बाद शिष्य के प्रति गुरु के कर्तव्यों का कथन करते हुए कहते हैं—

उपनीय गुरुः शिष्यं शिक्षयेच्छौचमादितः।
आचारमग्निकार्यं च संध्योपासनमेव च॥ 69॥

अन्वय—गुरुः शिष्यम् उपनीय, आदितः शौचम् आचारम् च अग्निकार्यम् च सन्ध्योपासनम् एव शिक्षयेत्॥ 69॥

अनुवाद—गुरु शिष्य का उपनयन संस्कार करके, सबसे पहले (उसे) पवित्रता, आचार और यज्ञकार्य तथा सन्ध्योपासना की ही शिक्षा देवे।

'चन्द्रिका'—शिष्य का उपनयन संस्कार करने के बाद गुरु उसे सर्वप्रथम स्नान, आचमन आदि द्वारा पवित्र रहने की शिक्षा प्रदान करे तथा सदाचारपूर्वक किस प्रकार रहा जाता है, इसका मार्गदर्शन देवे। तत्पश्चात् यज्ञ करने के विधि-विधान से परिचित कराए एवं सन्ध्या-उपासना की शिक्षा भी प्रदान करे। यही गुरु का शिष्य के प्रति कर्तव्य है।

विशेष—1. जीवन में पवित्रता एवं श्रेष्ठ आचरण के महत्त्व को प्रतिपादित किया गया है। इसी कारण उसे प्राथमिकता प्रदान की गई है।

2. ब्रह्मचारी के जीवन में यज्ञ एवं संध्योपासना का अत्यन्त महत्त्व है। इसलिए इसकी शिक्षा प्रदान करना भी गुरु का प्रमुख कर्तव्य है तथा शिष्य को यह सब मनोयोग से श्रद्धापूर्वक सीखना चाहिए।

मन्वर्थमुक्तावली—उपनीय गुरुरिति॥ गुरुः शिष्यमुपनीय प्रथमम् 'एका लिङ्गे गुदे तिस्रः' इत्यादि वक्ष्यमाणं शौचं स्नानाचमनाद्याचारमग्नौ सायंप्रातः समिद्धोमानुष्ठानं समन्त्रकसंध्योपासनविधिं च शिक्षयेत्॥ 69॥

तत्पश्चात् अध्यापन योग्य शिष्य की विशेषताओं का उल्लेख करते हैं—

अध्येष्यमाणस्त्वाचान्तो यथाशास्त्रमुदङ्मुखः।
ब्रह्माञ्जलिकृतोऽध्याप्यो लघुवासा जितेन्द्रियः॥ 70॥

अन्वय—अध्येष्यमाणः यथाशास्त्रम् आचान्तः उदङ्मुखः ब्रह्माञ्जलिकृतः, लघुवासा, जितेन्द्रियः (शिष्यः) अध्याप्य॥ 70॥

अनुवाद—अध्ययन करने का इच्छुक, शास्त्रोक्त विधि के द्वारा आचमन किया हुआ, उत्तर दिशा की ओर मुख करके बैठा, ब्रह्माञ्जलि किए हुए, हल्के वस्त्र धारण करने वाला, इन्द्रियों को वश में किया हुआ (शिष्य ही) अध्यापन के योग्य है।

'चन्द्रिका'—प्रत्येक ब्रह्मचारी ज्ञान का अधिकारी नहीं होता। अतः गुरु उसे स्वीकार करने से पूर्व देख ले कि क्या वह अध्ययन की प्रबल आकांक्षा लिए हुए है। शास्त्रों में कही गई विधि से, आचमन आदि से परिचित है; ब्रह्माञ्जलि की विधि से परिचित है। इन्द्रियों को वश में किया हुआ है अथवा नहीं। अल्प एवं हल्के वस्त्रों को धारण करने वाला, उत्तर दिशा की ओर मुख करके बैठकर अध्ययन करने वाला शिष्य ही अध्यापन के योग्य होता है। अतः इन विशेषताओं को देखकर ही अध्यापन स्वीकार करना चाहिए।

विशेष—1. मनु ने उत्तर दिशा की ओर मुख करने का निर्देश दिया है, किन्तु गौतम ने पूर्व दिशा की ओर मुख करने का कथन किया है।

2. अध्ययन के लिए प्रबल उत्कण्ठा सबसे पहली योग्यता है। दूसरी विशेषता उसका जितेन्द्रियत्व होता है। शेष सभी बातें गुरु के सिखाए जाने पर ब्रह्मचारी करने में समर्थ है।

3. ब्रह्माञ्जलि के विषय में अग्रिम श्लोक ब्राह्मारम्भे······इत्यादि में विस्तार से कथन किया है। तदनुसार—"वेदाध्ययन के शुरू में और अन्त में गुरु के चरणों में प्रणाम करना तथा हाथ जोड़कर अध्ययन करना ही ब्रह्माञ्जलि कहलाता है।"

4. ब्रह्माञ्जलि शिष्य में विनम्रभाव प्रदर्शन के लिए स्वीकार की गई है।

5. हल्के और कम वस्त्र धारण करने से शरीरिक कष्ट सहन करने की अभिव्यञ्जना हो रही है।

6. अध्येष्यमाण: — अधि + √ इष् + शानच् (अध्ययन करने की इच्छा रखता हुआ)।

7. आचान्त — आ + √ चम् (चमु अदने) + क्त (आचमन किया हुआ)।

8. जितेन्द्रिय: — जितानि इन्द्रियाणि येन स: (बहुव्रीहि समास) जिसने इन्द्रियों को जीत लिया है।

मन्वर्थमुक्तावली—अध्येष्यमाण इति॥ अध्ययनं करिष्यमाण: शिष्यो यथाशास्त्रं कृताचमन उत्तराभिमुख: कृताञ्जलि: पवित्रवस्त्र: कृतेन्द्रियसंयमो गुरुणा अध्याप्य:। 'प्राङ्मुखो दक्षिणत: शिष्य उदङ्मुखो वा' इति गोतमवचनात्प्राङ्मुखस्याप्यध्ययनम्। ब्रह्माञ्जलिकृत इति 'वाहिताग्न्यादिषु' इत्यनेन कृतशब्दस्य परनिपात:॥ 70॥

पुन: ब्रह्माञ्जलि के सम्बन्ध में विस्तार से कहते हैं—

ब्रह्मारम्भेऽवसाने च पादौ ग्राह्यौ गुरो: सदा।
संहत्य हस्तावध्येयं स हि ब्रह्माञ्जलि: स्मृत:॥ 71॥

अन्वय—ब्रह्मारम्भे च अवसाने सदा गुरो: पादौ ग्राह्यौ, हस्तौ संहृत्य अध्येयम्, स: हि ब्रह्माञ्जलि: स्मृत:॥ 71॥

अनुवाद—वेदाध्ययन के आरम्भ में और अन्त में हमेशा गुरु के दोनों चरणों को छूना चाहिए (तथा) हाथ जोड़कर अध्ययन करना चाहिए, वही ब्रह्माञ्जलि कहलाती है।

'चन्द्रिका'—वेद का अध्ययन प्रारम्भ करने से पहले तथा अध्ययन समाप्ति के बाद शिष्य गुरु के दोनों पैरों को अपने दोनों हाथों से स्पर्श करे तथा अध्ययन करते समय अपने दोनों हाथ जोड़कर बैठे। इसी को धर्मशास्त्रीय ग्रन्थों में ब्रह्माञ्जलि कहा गया है।

विशेष—1. ब्रह्माञ्जलि की सम्पूर्ण प्रक्रिया में ब्रह्मचारी के विनम्रभाव एवं श्रद्धा की अभिव्यक्ति हो रही है। शास्त्रों में भी कहा है **'श्रद्धावान् लभते ज्ञानम्'**।

2. संहत्य — सम् + √ हृ + ल्यप् (जोड़कर)।

3. स्मृत: — √ स्मृ + क्त (कहा गया है)।

4. 'हि' का प्रयोग 'निश्चय' अर्थ की अभिव्यक्ति के लिए हुआ है।

5. 'ब्रह्म' शब्द का प्रयोग वेद के लिए हुआ है।

मन्वर्थमुक्तावली—ब्रह्मारम्भेऽवसाने चेति॥ वेदाध्ययनस्यारम्भे कर्तव्ये समापने च कृते गुरो: पादोपसंग्रहणं कर्तव्यम्। हस्तौ संहत्य संश्लिष्टौ कृत्वाध्येतव्यं स एव ब्रह्माञ्जलि: स्मृत इति पूर्वश्लोकोक्तब्रह्माञ्जलिशब्दार्थव्याकार:॥ 71॥

व्यत्यस्तपाणिना कार्यमुपसंग्रहणं गुरोः।
सव्येन सव्यः स्प्रष्टव्यो दक्षिणेन च दक्षिणः॥ 72॥

अन्वय—गुरोः उपसंग्रहणम् व्यत्यस्तपाणिना कार्यम् सव्येन सव्यः च दक्षिणेन दक्षिणः स्प्रष्टव्यः॥ 72॥

अनुवाद—गुरु का चरण वन्दन एक-दूसरे को काटते हुए हाथों से करना चाहिए (अर्थात्) बाएँ (हाथ) से बायाँ (पैर) दाहिने (हाथ) से दाहिना (पैर) स्पर्श करना चाहिए।

'चन्द्रिका'—गुरु का अभिवादन चरणस्पर्श के साथ किया जाता है, किन्तु वह भी सामान्य रूप से नहीं, अपितु 'व्यत्यस्तपाणि' होकर अर्थात् ब्रह्मचारी अपने बाएँ हाथ से गुरु का बायाँ तथा दाहिने हाथ से दायाँ चरण स्पर्श करे। इस स्थिति को ही 'व्यत्यस्तपाणि' कहा जाता है।

विशेष—1. गुरु के चरण-वन्दन के प्रकार का उल्लेख किया गया है।

2. उपसंग्रहणम् — उप + सम् + √ ग्रह् + ल्युट् (चरण स्पर्शपूर्वक अभिवादन)।

3. व्यत्यस्तपाणिना — व्यत्यस्तौ पाणौ यस्य सः, व्यत्यस्तपाणिः, तेन वि + अति + √ अस् + क्त — व्यत्यस्तः (हाथों को कैंची के आकार में करके)।

4. पैठिनसि आदि आचार्यों ने भी गुरुचरण वन्दन का इसी प्रकार कथन किया है। उत्तानाभ्यां हस्ताभ्यां दक्षिणेन दक्षिणं सव्यं सव्येन पादावभिवादयेत्। दक्षिणोपरिभावेन व्यत्यासो वायं शिष्टसमाचारात्।

5. कार्यम् — √ कृ + ण्यत् (ऋहलोर्ण्यत्) करना चाहिए।

6. स्प्रष्टव्यः — √ स्पृश् + तव्यत् + पु. (स्पर्श करना चाहिए)।

मन्वर्थमुक्तावली—व्यत्यस्तपाणिनेति॥ पादोपसंग्रहणं कार्यमित्यनन्तरमुक्तं तद्व्यत्यस्त-पाणिना कार्यमिति विधीयते। कीदृशो व्यत्यासः कार्य इत्यत आह—सव्येन पाणिना सव्यः पादो दक्षिणेन पाणिना दक्षिणः पादो गुरोः स्प्रष्टव्यः। उत्तानहस्ताभ्यां चेदं पादयोः स्पर्शनं कार्यम्। यदाह पैठीनसिः, 'उत्तानाभ्यां हस्ताभ्यां दक्षिणेन दक्षिणं सव्यं सव्येन पादावभिवादयेत्। दक्षिणोपरिभावेन व्यत्यासो वायं शिष्टसमाचारात्॥ 72॥'

इसके पश्चात् अध्यापन-विधि का कथन करते हैं—

अध्येष्यमाणं तु गुरुर्नित्यकालमतन्द्रितः।
अधीष्व भो इति ब्रूयाद्विरामोऽस्त्विति चारमेत्॥ 73॥

अन्वय—तु अतन्द्रितः गुरुः नित्यकालम् अध्येष्यमाणम् (शिष्यम्) 'भो! अधीष्व' इति, ब्रूयात् च 'विरामः अस्तु' इति आरमेत्॥ 73॥

अनुवाद—किन्तु आलस्यरहित गुरु को हमेशा अध्ययन की इच्छा वाले (शिष्य से) 'अरे! अध्ययन करो', ऐसा कहना चाहिए तथा 'विराम होवे' ऐसा कहकर रुक जाना चाहिए।

'चन्द्रिका'—अध्यापन कार्य में आलस्य न करने वाले गुरु को ज्ञान की आकांक्षा रखने वाले शिष्य के प्रति पाठ का आरम्भ करते समय—'अरे! अध्ययन करो', इस प्रकार कहना चाहिए तथा जब पाठ को समाप्त करना हो तो 'बस अब रुक जाओ' इस प्रकार सम्बोधित करके अध्यापन कार्य समाप्त कर देना चाहिए।

विशेष—1. ग्रन्थकार ने जहाँ शिष्य के लिए कुछ विशेषताओं का कथन किया था, वहीं प्रस्तुत श्लोक में गुरु के लिए भी अध्यापन कार्य में आलस्यरहित होने का निर्देश किया है।

2. अतन्द्रितः — न तन्द्रितः, इति (नञ् समास) आलस्यरहित हुआ।

3. आरमेत् — आ + √ रम् (रमु क्रीडायाम्) + विधिलिंग लकार, प्र. पु. ए.व. (निवृत्त हो जाना चाहिए)।

मन्वर्थमुक्तावली—अध्येष्यमाणमिति॥ अध्ययनं करिष्यमाणं शिष्यं सर्वदा अनलसो गुरुरधीष्व भो इति प्रथमं वदेत्। शेषे विरामोऽस्त्विभिधाय बिरमेन्निवर्तेत॥ 73॥

तत्पश्चात् वेदाध्ययन-विधि को कहते हैं—

ब्रह्मणः प्रणवं कुर्यादादावन्ते च सर्वदा।
स्रवत्यनोंकृतं पूर्वं पुरस्ताच्च विशीर्यति॥ 74॥

अन्वय—ब्रह्मणः आदौ च अन्ते सर्वदा प्रणवम् कुर्यात् अनोङ्कृतम् पूर्वम् स्रवति च पुरस्तात् विशीर्यति॥ 74॥

अनुवाद—वेदाध्ययन के प्रारम्भ में और अन्त में हमेशा 'ओ3म्' का उच्चारण करना चाहिए। ओंकर न करने पर पूर्व का पाठ नष्ट हो जाता है और आगे का याद नहीं होता है।

'चन्द्रिका'—वेद का अध्ययन करते समय हमेशा ही आरम्भ में 'ओ३म्' शब्द का उच्चारण करना चाहिए, बिना ओंकार शब्द का उच्चारण किये वेद का अध्ययन करने से, पहले अध्ययन किया वेद अर्थात् ज्ञान नष्ट हो जाता है तथा अध्ययन किये जाने पर भी आगे पाठ याद नहीं होता है।

विशेष—1. वेदाध्ययन करते समय आरम्भ और अन्त में 'ओंकार' के उच्चारण की अनिवार्यता एवं महत्ता प्रतिपादित की गई है।

2. 'ब्रह्म' से अभिप्राय यहाँ 'वेद' से है, यहाँ 'अध्ययन' अर्थ का आक्षेप करना होगा।

3. स्रवति — √ स्रु + (स्रु गतौ) + तिप् (लट्लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन), (बह जाता है, नष्ट हो जाता है)।

4. विशीर्यति — वि + √ शृ (शृ, हिंसायाम्) (लट् लकार, प्रथम पुरुष एकवचन) नष्ट हो जाता है।

मन्वर्थमुक्तावली—ब्रह्मण: प्रणवमिति॥ ब्रह्मणो वेदस्याध्ययनारम्भे अध्ययनसमाप्तौ चोंकारं कुर्यात्। यस्मात्पूर्वं यस्योंऽकारो न कृतस्तत्स्रवति शनै: शनैर्नश्यति। यस्य पुरस्तान्न कृतस्तद्विशीर्येति अवस्थितिमेव न लभते॥ 74॥

तदनन्तर 'ओंकार' के उच्चारण के अधिकारी का कथन करते हैं—

प्राक्कूलान्पर्युपासीन: पवित्रैश्चैव पावित:।
प्राणायामैस्त्रिभि: पूतस्तत ओंकारमर्हति॥ 75॥

अन्वय—प्राक्कूलान् पर्युपासीन: च पवित्रै: पावित:, त्रिभि: प्राणायामै: पूत:, तत: एव ओंकारम् अर्हति॥ 75॥

अनुवाद—पूर्व की ओर निकली हुई नोकों वाले (कुशासन) पर बैठा हुआ तथा पवित्र कुशाओं से पवित्र किया हुआ, तीन प्राणायामों से पवित्र होने के बाद ही (व्यक्ति) ओंकार (उच्चारण) का अधिकारी होता है।

'चन्द्रिका'—व्यक्ति किस स्थिति में वेदाध्ययन के लिए ओंकार उच्चारण करने की योग्यता धारण करता है, इसका कथन करते हुए कहते हैं—सर्वप्रथम उसे इस प्रकार के पवित्र कुशाओं द्वारा निर्मित आसन पर बैठना चाहिए, जिस आसन में कुशाओं की नोकें पूर्व दिशा की ओर निकली हुई हों तथा पवित्र कुशाओं को हाथ में लेकर अथवा हृदय से स्पर्श करके स्वयं भी पवित्र होना चाहिए। इसके अतिरिक्त तीन बार शास्त्रोक्त विधि से प्राणायाम करके अपने अन्त:करण को भी उसने पवित्र किया हो। इन तीनों प्रक्रियाओं के पश्चात् ही व्यक्ति को वेदाध्ययन करते समय आरम्भ और अन्त में 'ओंकार' का उच्चारण करना चाहिए।

विशेष—1. ओंकार उच्चारण की योग्यता प्राप्त करने के लिए तीन शर्तों का कथन किया गया है—(1) पूर्व की ओर निकली नोकों वाले कुशासन पर बैठना। (2) कुशा से हृदय को छूकर पवित्र करना (3) तीन बार प्राणायाम करना।

2. अर्हति — √ अर्ह (पूजायाम्) + तिप् (लट्लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन) योग्य होता है।

3. पूत: — √ पू (पूङ् पवने) + क्त (पवित्र हुआ)।

4. पावित: — √ पू + णिच् + क्त (पवित्र किया हुआ)।

5. पर्युपासीन: — परि + उप + √ आस् + शानच् (ईदास: (7/2/83) सूत्र से आन कोई न आदेश) ऊपर बैठा हुआ।

मन्वर्थमुक्तावली—प्राक्कूलानिति॥ प्राक्कूलान्प्रागग्रान्दर्भानध्यासीन: पवित्रै: कुशै: करद्वयस्थै: पवित्रीकृत: 'प्राणयामास्त्रय: पञ्चदशमात्रा:' इति गोतमस्मरणात्पञ्चदशमात्रैस्त्रिभि: प्राणायामै: प्रयत:। अकारादिलध्वक्षरकालश्च मात्रा। ततोऽध्ययनार्थमोंकारमर्हति॥ 75॥

इसके पश्चात् ओंकार की उत्पत्ति का उल्लेख करते हैं—

अकारं चाप्युकारं च मकारं च प्रजापतिः।
वेदत्रयान्निरदुहद्भूर्भुवःस्वरितीति च॥ 76॥

अन्वय—प्रजापतिः अकारम् च उकारम् च मकारम् च भूः, भुवः, स्वः च वेदत्रयात् निरदुहत्॥ 76॥

अनुवाद—प्रजापति ने अकार, उकार और मकार तथा भूः, भुवः स्वः (तीनों व्याहृतियों) को (ऋक्, यजुष् और साम) तीन वेदों से दुहा।

'चन्द्रिका'—स्वयं ब्रह्मा ने ऋग्वेद, यजुर्वेद तथा सामवेद इन तीनों वेदों से ओ३म् शब्द में स्थित अकार, उकार और मकार इन तीन वर्णों तथा भूः, भुवः, स्वः इन तीन व्याहृतियों का दोहन किया।

विशेष—1. आचार्य मनु ने ओंकार के तीनों वर्ण अ उ म् तथा तीनों व्याहृतियों की उत्पत्ति क्रमशः ऋग्वेद, यजुर्वेद एवं सामवेद से स्वीकार की है तथा यह पुनीत कार्य प्रजापति अर्थात् ब्रह्मा द्वारा सम्पादित किया गया।

2. निरदुहत् — निर् + √ दुह् + लङ् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन (दोहन किया)।

मन्वर्थमुक्तावली—अकारं चेति॥ 'एतदक्षरमेतां च' इति वक्ष्यति तस्यायं शेषः। अकारमुकारं मकारं च प्रणवावयवभूतं ब्रह्मा वेदत्रयादृग्यजुःसामलक्षणाद्भूर्भुवःस्वरिति व्याहृतित्रयं च क्रमेण निरदुहदुद्धृतवान्॥ 76॥

तत्पश्चात् सवित्री की उत्पत्ति के विषय में कहते हैं—

त्रिभ्य एव तु वेदेभ्यः पादं पादमदूदुहत्।
तदित्यृचोऽस्याः सावित्र्याः परमेष्ठी प्रजापतिः॥ 77॥

अन्वय—परमेष्ठी प्रजापतिः त्रिभ्यः वेदेभ्यः एव 'तत्' इति अस्याः सावित्र्याः ऋचः पादम् पादम् अदूदुहत्॥ 77॥

अनुवाद—परमेष्ठी प्रजापति ने तीन वेदों से ही 'तत्' इत्यादि इस सावित्री मन्त्र के प्रत्येक पद का दोहन किया था।

'चन्द्रिका'—परमोत्कृष्ट स्थान में निवास करने वाले ब्रह्मा ने ऋग्वेद, यजुर्वेद तथा सामवेद इन तीन वेदों से ही 'तत् सवितु वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात्' इत्यादि सावित्री रूप मन्त्र के प्रत्येक पाद का क्रमशः एक-एक वेद से दोहन किया था।

विशेष—1. प्रस्तुत श्लोक के अनुसार —तत् सवितुः इत्यादि सावित्री का प्रथम पाद ऋग्वेद से, 'भर्गो देवस्य' इत्यादि द्वितीय पाद यजुर्वेद से तथा 'धियो यो नः' इत्यादि तृतीय पाद सामवेद से स्वयं ब्रह्मा ने ही निकाला।

2. परमेष्ठी — परमे स्थाने तिष्ठति, इति (सर्वोत्कृष्ट स्थान पर निवास करने वाला)।

3. प्रजापतिः — प्रजानाम् पतिः (षष्ठी तत्पुरुष) (ब्रह्मा)।

4. पादम् पादम् — प्रति पादम् (प्रत्येक पाद को)।

मन्वर्थमुक्तावली—त्रिभ्य एवेति॥ तथा त्रिभ्य एव वेदेभ्य ऋग्यजुःसामभ्यः तदित्यृच इति प्रतीकेनानूदितायाः सावित्र्याः पादं पादमिति त्रीन्पादान्ब्रह्मा चकर्ष। परमे स्थाने तिष्ठतीति परमेष्ठी॥ 77॥ यतः एवमतः—

पुनः सावित्री जप की विधि का कथन करते हुए कहते हैं—

एतदक्षरमेतां च जपन्व्याहृतिपूर्विकाम्।
संध्ययोर्वेदविद्विप्रो वेदपुण्येन युज्यते॥ 78॥

अन्वय—वेदवित् विप्रः एतत् अक्षरम् व्याहृतिपूर्विकाम् एताम् (सावित्रीम्) सन्ध्ययोः जपन् वेदपुण्येन युज्यते॥ 78॥

अनुवाद—वेदों को जानने वाला ब्राह्मण इस (ओंकार) अक्षर एवं व्याहृतियों का पूर्व में प्रयोग करके, इस (सावित्री) को दोनों संध्याओं में जपता हुआ वेदपाठ के पुण्य से युक्त हो जाता है।

'चन्द्रिका'—वेदों के मर्म को जानने वाला वेदज्ञ ब्राह्मण यदि सावित्री से पहले तीनों व्याहृतियों का प्रयोग करके तथा उससे भी पूर्व ओंकार का नियोजन करके प्रातः और सायंकालीन संध्याओं में जप करता है। तो उसे वेदपाठ से उत्पन्न होने वाले पुण्य के समान पुण्य की प्राप्ति होती है। अर्थात्—सावित्री का इस प्रकार दोनों सन्ध्याओं में जप करना चाहिए—'ॐ भूर्भुवः स्वः, तत्सवितुर्वरेण्यं, भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात्।

विशेष—1. रात्रि का अन्धकार दूर हो रहा हो तथा प्रातःकालीन अरुण प्रकाश फैल रहा हो। वह समय प्रातःकालीन सन्ध्या का कहलाता है। इसी प्रकार सायंकाल में सूर्य के अस्त होने के साथ-साथ अन्धकार फैलना प्रारम्भ हो जाए तो यह समय सायंकालीन सन्ध्या कहलाएगा।

2. ओंकार एवं तीनों व्याहृतियों के साथ सावित्री के दोनों संध्याओं में जप को प्रशंसनीय एवं वेदपाठ के समान पुण्य देने वाला कहा है।

3. विप्र का प्रयोग यहाँ ब्राह्मण वर्ण के लिए किया गया है।

4. युज्यते— √ युज् (युजिर् योगे) + लट्लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन आ. (युक्त हो जाता है।)

मन्वर्थमुक्तावली—एतदक्षरमिति॥ एतदक्षरमोंकाररूपम्, एतां च त्रिपदां सावित्रीं व्याहृतित्रयपूर्विकां संध्याकाले जपन्वेदज्ञो विप्रादिर्वेदत्रयाध्ययनपुण्येन युक्तो भवति। अतः सन्ध्याकाले प्रणवव्याहृतित्रयोपेतां सावित्रीं जपेदिति विधिः कल्प्यते॥ 78॥

सावित्री जाप के फल का कथन करते हैं—

सहस्रकृत्वस्त्वभ्यस्य बहिरेतत्त्रिकं द्विजः।
महतोऽप्येनसो मासात्त्वचेवाहिर्विमुच्यते॥ 79॥

अन्वय—द्विजः एतत् त्रिकम् बहिः सहस्रकृत्वः अभ्यस्य महतः एनसः अपि मासात् अहिः इव विमुच्यते॥ 79॥

अनुवाद—द्विज इस त्रिक को (नगर से) बाहर एक हजार बार अभ्यास करके बड़े से बड़े पाप से भी एक माह में सर्प की कैंचुली के समान मुक्त हो जाता है।

'चन्द्रिका'—द्विज वर्ण में उत्पन्न व्यक्ति यदि ओंकार, तीनों व्याहृतियाँ तथा सावित्री इस त्रिक् का नगर से बाहर एकान्त में जाकर दोनों संध्याओं में एक मास तक एक-एक हजार जाप करता है, तो इसके परिणामस्वरूप वह बड़े-से बड़े पाप अर्थात् महापाप से भी ठीक उसी प्रकार सहज ही मुक्त हो जाता है, जिस प्रकार सर्प अपनी कैंचुली को सरलतापूर्वक छोड़कर बाहर आ जाता है।

विशेष—1. उपनयन संस्कार किए द्विज वर्ण के व्यक्ति को त्रिक् के जपने का अधिकार है। अतः पापों से मुक्ति हेतु इन्हें इसका जाप करना चाहिए।

2. यहाँ द्विज से अभिप्राय केवल ब्राह्मण से नहीं, अपितु ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य तीनों द्विज वर्ण से है।

3. त्रिक् का क्रम — ओंकार + तीन व्याहृतियाँ + सावित्री, यह होगा।

4. नगर से बाहर एकान्त में जप का अधिक महत्त्व होता है, क्योंकि उसमें चित्त की एकाग्रता बनी रहती है।

5. 'अहिः इव' में उपमालंकार का प्रयोग हुआ है।

6. प्रतिदिन प्रातः सायं एक-एक हजार जप करने से मास के अन्त तक 60,000 जप का विधान किया गया है।

7. विमुच्यते — वि + √ मुच् + लट्लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन आत्मने. (विमुक्त हो जाता है)।

मन्वर्थमुक्तावली—सहस्रकृत्व इति॥ संध्यायामन्यत्र काल एतत्प्रकृतं प्रणवव्याहृतित्रय-सावित्र्यात्मकं त्रिकं ग्रामाद्बहिर्नदीतीरारण्यादौ सहस्रावृत्तिं जपित्वा महतोऽपि पापात्सर्प इव कञ्चुकान्मुच्यते। तस्मात्पापक्षयार्थमिदं जपनीयमित्यप्रकरणेऽपि लाघवार्थमुक्तम्। अन्यत्रैतत्-त्रयोच्चारणमपि पुनः कर्तव्यं स्यात्॥ 79॥

इसके बाद द्विज वर्ण के लिए पुनः जप एवं सदाचार के पालन का निर्देश करते हुए कहते हैं—

एतयर्चा विसंयुक्तः काले च क्रियया स्वया।
ब्रह्मक्षत्रियविट्योनिर्गर्हणां याति साधुषु॥ 80॥

अन्वय—काले एतया ऋचा च स्वया क्रियया विसंयुक्तः, ब्रह्म-क्षत्रिय-विट् योनिः साधुषु गर्हणाम् याति॥ 80॥

अनुवाद—समय पर इस ऋचा (सावित्री) से और अपनी (नित्य) क्रिया से वियुक्त हुआ ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य वर्ण में उत्पन्न व्यक्ति सज्जनों में निन्दा को प्राप्त होता है।

'चन्द्रिका'—जो ब्राह्मण, क्षत्रिय अथवा वैश्यवर्ण में उत्पन्न व्यक्ति निर्दिष्ट समय संध्याकाल में ओंकार, तीनों व्याहृतियों के साथ सावित्री का प्रतिदिन जप नहीं करता है तथा सायं एवं प्रातःकालीन यज्ञादि सन्ध्यावन्दनादि दैनिक क्रियाओं को सम्पन्न नहीं करता है तो वह सज्जनों में निन्दा का पात्र बनता है। अर्थात् सज्जन उसकी निन्दा करते हैं।

विशेष—1. द्विज वर्ण के व्यक्तियों के लिए सावित्री जप तथा दैनिक संध्यावन्दन एवं यज्ञादि क्रियाओं की अनिवार्यता प्रतिपादित की है।

2. सामाजिक निन्दा के भय से ही सही, व्यक्ति को सावित्री जप एवं अपनी दैनिक क्रियाओं का सम्पादन करना चाहिए।

3. विसंयुक्तः — वि + सम् + √ युज् + क्त (वियुक्त हुआ)।

4. याति — √ इण् (गतौ) + लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन (प्राप्त होता है)।

मन्वर्थमुक्तावली—एतयर्चेति॥ संध्यायामन्यत्र समय ऋचैतया सावित्र्या विसंयुक्त-स्त्यक्तसावित्रीजपः स्वकीयया क्रियया सायंप्रातर्होमादिरूपया स्वकाले त्यक्तो ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्योऽपि सज्जनेषु निन्दां गच्छति। तस्मात्स्वकाले सावित्रीजपं स्वक्रियां च न त्यजेत्॥ 80॥

तत्पश्चात् ओंकारपूर्वक त्रिपदा सावित्री की प्रशंसा करते हुए कहते हैं—

ओंकारपूर्विकास्तिस्रो महाव्याहृतयोऽव्ययाः।
त्रिपदा चैव सावित्री विज्ञेयं ब्रह्मणो मुखम्॥ 81॥

अन्वय—ओंकारपूर्विकाः अव्ययाः तिस्रः महाव्याहृतयः च त्रिपदा सावित्री एव ब्रह्मणः मुखम् विज्ञेयम्॥ 81॥

अनुवाद—ओंकार है पूर्व में जिसके ऐसी, कभी नष्ट न होने वाली, तीनों महाव्याहृतियाँ और तीन पाद वाली सावित्री ही वेद का मुख जानना चाहिए।

'चन्द्रिका'—अकार, उकार और मकार का संयुक्त रूप 'ओम्' जिसके आरम्भ में स्थित है तथा कभी भी जिसका विनाश नहीं होता। इस प्रकार की विशेषता वाली भूः, भुवः, स्वः ये तीन महाव्याहृतियाँ एवं "तत् सवितुवरेण्यं, भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात्" यह तीन पाद वाली सावित्री विद्वानों द्वारा ये तीनों मिलकार वेद के

मुख के रूप में मानी गयी हैं। अतः इन्हें वेद का मुख जानना चाहिए। इसलिए इसे ब्रह्मप्राप्ति का द्वार मानना चाहिए, क्योंकि पापरहित व्यक्ति वेदाध्ययन, मन्त्र जाप आदि द्वारा ब्रह्मज्ञान के प्रकर्ष से मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

विशेष—1. ॐ भुर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं, भर्गो देवस्य, धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्। इस पूर्ण मन्त्र को वेद का मुख कहा गया है। अतः इसका पवित्रातिशय द्योतित होता है। अतः वेदाध्ययन इसी मन्त्र का उच्चारण करके प्रारम्भ करना चाहिए, यह अभिप्राय भी अभिव्यञ्जित हो रहा है।

2. विज्ञेयम्—वि + √ ज्ञा + यत् (अचोयत् 3/1/97 सूत्र से) जानना चाहिए।

3. अव्ययाः — न व्ययाः इति (नञ् समास) अविनाशी।

4. यह मन्त्र परमात्मा की प्राप्ति का द्वार है, यह अभिप्राय भी ग्रहण किया जा सकता है।

मन्वर्थमुक्तावली—ओंकारपूर्विका इति॥ ओंकारपूर्विकास्तिस्रो व्याहृतयो भूर्भुवःस्वरित्येता अक्षरब्रह्मावाप्तिफलत्वेनाव्ययाः त्रिपदाः च सावित्री ब्रह्मणो वेदस्य मुखमाद्यम्। तत्पूर्वकवेदाध्ययनारम्भात्। अथवा ब्रह्मणः परमात्मनः प्राप्तेर्द्वारमेतत्। अध्ययनजपादिना निष्पापस्य ब्रह्मज्ञानप्रकर्षेण मोक्षावाप्तेः॥ 81॥ अत एवाह—

इसके बाद ओंकार एवं व्याहृतियुक्त, त्रिपदा सावित्री के जप के फल का कथन करते हैं—

योऽधीतेऽहन्यहन्येतांस्त्रीणि वर्षाण्यतन्द्रितः।
स ब्रह्म परमभ्येति वायुभूतः खमूर्तिमान्॥ 82॥

अन्वय—अतन्द्रितः यः अहनि अहनि त्रीणि वर्षाणि एतान् अधीते, सः खमूर्तिमान् वायुभूतः परम् ब्रह्म अभ्येति॥ 82॥

अनुवाद—आलस्य रहित जो (व्यक्ति) प्रतिदिन तीन वर्ष पर्यन्त इनका (प्रणव, व्याहृति-युक्त, सावित्री) अध्ययन करता है, वह आकाश स्वरूप वायु के समान होकर परमब्रह्म को प्राप्त करता है।

'चन्द्रिका'—द्विज वर्ण का व्यक्ति यदि आलस्य का परित्याग करके प्रतिदिन सुबह शाम दोनों संध्याओं में तीन वर्षों तक ओंकार और व्याहृतियों सहित इस मन्त्र का निरन्तर जाप एवं चिन्तन करता है। इस मन्त्र के प्रभाव से वह वायु के समान हल्का एवं आकाश के समान अदृश्य एवं विशाल आकार वाला होकर परम पिता परमेश्वर जिसे सच्चिदानन्द स्वरूप ब्रह्म भी कहते हैं, को प्राप्त कर लेता है।

विशेष—1. अतन्द्रितः — न तन्द्रितः, इति (नञ् समास— अभाव अर्थ में) √ तन्द् + क्त (आलस्य रहित)।

2. वायु के समान इस प्रकार के व्यक्ति की सर्वत्र गति हो जाती है तथा शरीरपात के पश्चात् वह ब्रह्म स्वरूप ही हो जाता है।

3. कुल्लूक भट्ट ने भी यही अर्थ किया है—**खं ब्रह्म तदेवास्य मूर्तिरिति खमूर्तिमान् भवति शरीरस्यापि नाशाद् ब्रह्मैव भवति।"**

4. अभ्येति — अभि + √ इण् (गतौ) + लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन परस्मैपदी (प्राप्त हो जाता है)।

मन्वर्थमुक्तावली—योऽधीत इति॥ यः प्रत्यहमनलसः सन्सावित्रीं प्रणवव्याहृतियुक्तां वर्षत्रयमधीते स परं ब्रह्माभिमुखेन गच्छति। स वायुभूतो वायुरिव कामचारी जायते। खं ब्रह्म तदेवास्य मूर्तिरिति खमूर्तिमान् भवति शरीरस्यापि नाशाद्ब्रह्मैव संपद्यते॥ 82॥

पुनः सावित्री की श्रेष्ठता का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं—

एकाक्षरं परं ब्रह्म प्राणायामाः परं तपः।
सावित्र्यास्तु परं नास्ति मौनात्सत्यं विशिष्यते॥ 83॥

अन्वय—एकाक्षरम् परम् ब्रह्म (अस्ति) प्राणायामाः परं तपः (अस्ति) सावित्र्याः परम् तु न अस्ति, मौनात् सत्यम् विशिष्यते॥ 83॥

अनुवाद—एकाक्षर 'ओम्' परम ब्रह्म (है) प्राणायाम परमतप (है), सावित्री से बढ़कर तो कुछ भी नहीं है, मौन की अपेक्षा सत्य विशिष्ट है।

'चन्द्रिका'—एक अक्षर वाला 'ॐ' पद ही वस्तुतः परम ब्रह्म है, कुम्भक, रेचक आदि क्रियाओं द्वारा निरोध करते हुए, प्राणों पर नियन्त्रणपूर्वक प्राणायाम ही सबसे बड़ा तप माना गया है। सावित्री मन्त्र से बढ़कर मन्त्रों कोई भी श्रेष्ठ और प्रभावशाली मन्त्र नहीं है। चुप रहने की अपेक्षा सत्य बोलना अधिक श्रेयष्कर है।

विशेष—1. ॐ एकाक्षर, प्राणायाम, सावित्री एवं सत्य की महत्ता प्रतिपादित की गई है। अतः व्यक्ति को इन्हें अपने जीवन में आत्मसात् करना चाहिए।

2. यहाँ सावित्री से अभिप्राय ऊँकार एवं भूः भुवः स्वः तीन व्याहृतियों सहित सावित्री मन्त्र लेना चाहिए।

3. सावित्री के जप को चान्द्रायण व्रत आदि से भी बढ़कर बताया गया है।

4. योगशास्त्र में प्राणायाम का अत्यधिक महत्त्व है। इसमें श्वास पर नियन्त्रण द्वारा शरीर की शुद्धि एवं बल प्राप्ति पर जोर दिया जाता है। बहुवचन का प्रयोग कुम्भक, स्तम्भक और रेचक तीनों क्रियाओं का कथन करने के लिए किया है।

मन्वर्थमुक्तावली—एकाक्षरमिति॥ एकाक्षरमोंकारः परं ब्रह्म परब्रह्मावाप्तिहेतुत्वात्। ओंकारस्य जपेन तदर्थस्य च परब्रह्मणो भावनया तदवाप्तेः। प्राणायामाः सप्रणवसव्याहृतिसशिर-स्कगायत्रीभिस्त्रिरावृत्तिभिः कृताश्चान्द्रायणादिभ्योऽपि परं तपः। प्राणायामा इतिबहुवचननिर्देशा-त्त्रयोऽवश्यं कर्तव्या इत्यक्तम्। सावित्र्याः प्रकृष्टमन्यन्मन्त्रजातं नास्ति। मौनादपि सत्यं

वाग्विशिष्यते। एषां चतुर्णां स्तुत्या चत्वार्येतान्युपासनीयानीति विधिः कल्प्यते। धरणीधरेण तु 'एकाक्षरपरं ब्रह्म प्राणायामपरं तपः' इति पठितं व्याख्यातं च एकाक्षरं परं यस्य तदेकाक्षरपरं एवं प्राणायामपरमिति मेधातिथिप्रभृतिभिर्वृद्धैरलिखितं यतः लिखनात्पाठान्तरं तत्र स्वतन्त्रो धरणीधरः ॥ 83 ॥

तत्पश्चात् ओंकार के महत्त्व का कथन करते हैं—

क्षरन्ति सर्वा वैदिक्यो जुहोति यजतिक्रियाः।
अक्षरं अक्षरं ज्ञेयं ब्रह्म चैव प्रजापतिः ॥ 84 ॥

अन्वय—सर्वाः जुहोति-यजति वैदिक्यः क्रियाः क्षरन्ति, तु अक्षरम् अक्षरम् ज्ञेयम् च एव प्रजापतिः ब्रह्म (अस्ति) ॥ 84 ॥

अनुवाद—सभी होम, यज्ञ (आदि) वैदिक क्रियाएँ क्षीण हो जाती हैं, किन्तु ओंकार को अविनाशी समझना चाहिए, क्योंकि यही प्रजाओं का अधिपति ब्रह्म (है)।

'चन्द्रिका'—वेदों में निर्दिष्ट सभी होम याग आदि क्रियाओं से प्राप्त होने वाले फल नाशवान् है, किन्तु ओंकार इस एक अक्षर के जप से प्राप्त होने वाला पुण्य रूप फल कभी नष्ट नहीं होता है, ऐसा प्रत्येक व्यक्ति को समझना चाहिए, क्योंकि इसके जप से व्यक्ति को ब्रह्म की प्राप्ति होती है अर्थात् वह अविनाशी है। प्रजाओं का अधिपति भी वह ब्रह्म ही है। अतः सर्वोच्च एवं सर्वोत्कृष्ट है। ओंकार के जप से व्यक्ति ब्रह्म स्वरूप ही हो जाता है। अतः वह भी अक्षर हो जाता है। इसलिए इसके जप से प्राप्त होने वाला फल भी अविनाशवान् है।

विशेष—1. श्लोक में प्रयुक्त 'च' अव्यय का प्रयोग 'हेतु' अर्थ की अभिव्यक्ति के लिए हुआ है।

2. ज्ञेयम् — √ ज्ञा + यत् (अचो यत्) जानना चाहिए।

3. अक्षरम् — न क्षरम्, इति (नञ् समास) यहाँ प्रथम अक्षर पद ओंकार वाचक तथा द्वितीय अक्षर क्रिया रूप में प्रयुक्त हुआ है।

4. प्रजापतिः — प्रजानाम् पतिः (षष्ठी तत्पुरुष) —प्रजाओं का स्वामी।

5. अक्षरम् के स्थान पर 'दुष्करम्' पाठ भी उपलब्ध होता है। जिसका 'कठिन साधना से प्राप्त करने योग्य' अर्थ करना चाहिए।

मन्वर्थमुक्तावली—क्षरन्तीति ॥ सर्वा वेदविहिता होमयागादिरूपाः क्रियाः स्वरूपतः फलतश्च विनश्यन्ति। अक्षरं तु प्रणवरूपमक्षयं ब्रह्मप्राप्तिहेतुत्वात्फलद्वारेणाक्षरं ब्रह्मीभावस्याविनाशात्। कथमस्य ब्रह्मप्राप्तिहेतुत्वमत आह—ब्रह्म चैवेति। चशब्दो हेतौ। यस्मात्प्रजानामधिपतिर्यद्ब्रह्म तदेवायमोंकारः। स्वरूपतो ब्रह्मप्रतिपादकत्वेन चास्य ब्रह्मत्वम्। उभयथापि ब्रह्मत्वप्रतिपादकत्वेन वायुमुपासितो जपकाले मोक्षहेतुरित्यनेन दर्शितम् ॥ 84 ॥

तदनन्तर जप के प्रकार एवं क्रमशः उनकी महिमा का उल्लेख करते हैं—

विधियज्ञाज्जपयज्ञो विशिष्टो दशभिर्गुणैः।
उपांशुः स्याच्छतगुणः साहस्रो मानसः स्मृतः॥ 85॥

अन्वय—विधियज्ञात् जपयज्ञः दशभिः गुणैः विशिष्टः, उपांशुः शतगुणः स्यात्, मानसः (जपः) साहस्रः (गुणैः विशिष्टः) स्मृतः॥ 85॥

अनुवाद—विधियज्ञ से जपयज्ञ दस गुणा श्रेष्ठ (होता है) उपांशु सौ गुणा (अच्छा) होता है तथा मानसजप हजार (गुणा श्रेष्ठ) माना गया है।

'चन्द्रिका'—यज्ञ दो प्रकार के होते हैं, विधि यज्ञ तथा जप यज्ञ। अज्ञात अर्थ का ज्ञापक वेद का भाग विधि कहलाता है तथा इसी विधि द्वारा किया जाना वाला यज्ञ विधि-यज्ञ कहलाता है, क्योंकि इस विधि के द्वारा उसकी कर्तव्यता का ज्ञान होता है। इसलिए ज्योतिष्टोम आदि विधि यज्ञ की श्रेणी में आएँगे।

इसके विपरीत ओंकार आदि का जप करना भी यज्ञ की कोटि में आता है तथा यह जपयज्ञ तीन प्रकार का होता है—प्रथम वाचित जप–जिसमें मन्त्र का स्पष्ट उच्चारण किया जाता है। द्वितीय–उपांशु जप–इसमें मुख के जिह्वा आदि अवयव गति करते हैं, किन्तु उनसे ध्वनि का निस्सारण नहीं होता। तृतीय–मानस जप–इसमें केवल मन में जाप किया जाता है, मुख के अवयवों में कोई गति नहीं होती।

इनमें से ज्योतिष्टोम आदि विधि यज्ञ की अपेक्षा वाचिक-यज्ञ दस गुणा अधिक फल प्रदान करने वाला तथा इसकी अपेक्षा उपांशु जप सौ गुना अधिक फल देने वाला होता है। इसके विपरीत मानस जप हजार गुना अधिक फलदायी होता है। अतः ये उत्तरोत्तर श्रेष्ठ हैं। इसलिए सावित्री आदि मन्त्रों का मानस-जप करने का प्रयास करना चाहिए।

विशेष—1. मानस जप की श्रेष्ठता प्रतिपादित की गई है। गीता में भी इसकी श्रेष्ठता प्रतिपादित की गई है—"यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि।"

2. विशिष्टः — वि + √ शिष् (शास् वा) + क्त (श्रेष्ठ)।

3. स्मृतः — √ स्मृ + क्त (कहा गया है)।

4. साहस्रः — सहस्र + अण् (एक हजार की संख्या से सम्बन्ध रखने वाला)।

मन्वर्थमुक्तावली—विधियज्ञादिति॥ विधिविषयो यज्ञो विधियज्ञो दर्शपौर्णमासादिस्तस्मात्प्रकृतानां प्रणवादीनां जपयज्ञो दशगुणाधिकः। सोऽप्युपांशुश्चेदनुष्ठितस्तदा शतगुणाधिकः। यत्समीपस्थोऽपि परो न शृणोति तदुपांशु। मानसस्तु जपः सहस्रगुणाधिकः। यत्र जिह्वौष्ठं मनागपि न चलति स मानसः॥ 85॥

पुनः विधि-यज्ञों के न्यूनफल का कथन करते हैं—

ये पाकयज्ञाश्चत्वारो विधियज्ञसमन्विताः।
सर्वे ते जपयज्ञस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम्॥ 86॥

अन्वय—विधियज्ञसमन्विताः ये चत्वारः पाकयज्ञाः (सन्ति) ते सर्वे जपयज्ञस्य षोडशीम् कलाम् न अर्हन्ति॥ 86॥

अनुवाद—विधियज्ञ से युक्त जो चार पाकयज्ञ (हैं)। वे सब जपयज्ञ के सोलहवें भाग के बराबर भी नहीं हैं।

'चन्द्रिका'—वैश्वदेवहोम, बलि कर्म तथा पितृ-कर्म तर्पणादि तथा अतिथि भोजन इन चारों को विधि-यज्ञ की श्रेणी में माना गया है। ये चारों पाक-यज्ञ भी कहलाते हैं। ये सभी यज्ञ जप-यज्ञ के सोलहवें हिस्से के महत्त्व के बराबर भी महत्त्व नहीं रखते हैं। अर्थात् पाक यज्ञों की अपेक्षा व्यक्ति को अधिक फल प्राप्ति के लिए जप-यज्ञ का आचरण करना चाहिए।

विशेष—1. पाक यज्ञों की अपेक्षा जप-यज्ञ को सोलहगुणा से भी अधिक फल देने वाला कहा है। अत: जपयज्ञ की श्रेष्ठता प्रतिपादित की गई है।

2. समन्विता: — सम् + अनु + √ इ + क्त + बहुवचन (युक्त)।

3. कला से अभिप्राय यहाँ हिस्से से है।

मन्वर्थमुक्तावली—ये पाकयज्ञा इति॥ ब्रह्मयज्ञादन्ये ये पञ्चमहायज्ञान्तर्गता वैश्वदेवहोमबलिकर्मनित्यश्राद्धातिथिभोजनात्मकाश्चत्वार: पाकयज्ञा: विधियज्ञा दर्शपौर्णमासादयस्तै: सहिता जपयज्ञस्य षोडशीमपि कलां न प्राप्नुवन्ति। जपयज्ञस्य षोडशांशेनापि न समा इत्यर्थ:॥ 86॥

ब्राह्मण के लिए जप-यज्ञ का निर्देश करते हुए कहते हैं—

जप्येनैव तु संसिध्येद्ब्राह्मणो नात्र संशय:।
कुर्यादन्यन्न वा कुर्यान्मैत्रो ब्राह्मण उच्यते॥ 87॥

अन्वय—ब्राह्मण: अन्यत् कुर्यात् न वा कुर्यात् (स:) तु जप्येन एव संसिध्येत्, अत्र संशय: न (वर्तते) मैत्र: ब्राह्मण: उच्यते॥ 87॥

अनुवाद—ब्राह्मण अन्य कुछ करे या न करे (वह) तो जप के द्वारा ही सिद्धि प्राप्त कर लेता है, इस विषय में (लेशमात्र भी) संशय नहीं (है), इसी कारण वह मैत्र ब्राह्मण कहलाता है।

'चन्द्रिका'—यद्यपि 'स्वर्गकामो यजेत्' इत्यादि श्रुति वाक्य के अनुसार ब्राह्मणादि के लिए ज्योतिष्टोम आदि यज्ञों का निर्देश किया गया है, किन्तु आचार्य मनु के अनुसार ब्राह्मण अन्य वैदिकयागादि जैसे यज्ञ करे अथवा न करे। यदि वह जप-यज्ञ करता है तो उसे मोक्ष ही प्राप्ति रूप लक्ष्य की सिद्धि अवश्य होती है, इसमें लेशमात्र भी सन्देह नहीं है।

इसके अतिरिक्त वैदिक यागादि के करने के कारण बीज, पशु आदि की हिंसा से होने वाले पाप की प्राप्ति भी जप-यज्ञ करने वाले ब्राह्मण को नहीं होती और वह सभी प्राणियों का मित्र होने के कारण 'मैत्र ब्राह्मण' भी कहलाता है।

विशेष—1. यद्यपि यहाँ जप-यज्ञ की प्रशंसा की गई है तथापि शास्त्रों में उल्लेख

किये जाने के कारण वैदिक यागादि करने का निषेध नहीं किया गया है, किन्तु वैदिक याग न करने पर ब्राह्मण को कोई हानि नहीं होगी।

2. मैत्र: — मित्रम् एव मैत्र: (स्वार्थेऽण्) मित्र + अण् (सभी का मित्र)।

3. जप-यज्ञ को वैदिक यज्ञ से भी श्रेष्ठ इस कारण भी बताया गया है, क्योंकि इसमें हिंसा का पूर्णतया अभाव रहता है। जबकि वैदिक यज्ञों में हिंसा होती है।

4. जप्येन — √ जप् + यत् (पोरदुपधात् — 3/1/98) + तेन (तृतीया, एकवचन) जपने के द्वारा।

5. वस्तुत: मोक्षेच्छु ब्राह्मण के लिए विधियज्ञ की अपेक्षा जप-यज्ञ करना ही श्रेष्ठ है।

मन्वर्थमुक्तावली—जप्येनैवेति॥ ब्राह्मणो जप्येनैव नि:संदेहां सिद्धिं लभते मोक्षप्राप्तियोग्यो भवति। अन्यद्वैदिकं यागादिकं करोतु न करोतु वा। यस्मान्मैत्रो ब्राह्मणो ब्रह्मण: सम्बन्धी ब्रह्मणि लीयत इत्यागमेषूच्यते। मित्रमेव मैत्र:। स्वार्थेऽण्। यागादिषु पशुबीजादिवधान्न सर्वप्राणिप्रियता संभवति तस्माद्यागादिना विनापि प्रणवादिजपनिष्ठो निस्तरतीति जपप्रशंसा नतु यागादीनां निषेधस्तेषामपि शास्त्रीयत्वात्॥ 87॥

इदानीं सर्ववर्णानुष्ठेयं सकलपुरुषार्थोपयुक्तमिन्द्रियसंयममाह—

तत्पश्चात् संयम के साथ रहने के लिए उदाहरपूर्वक इन्द्रियों को नियन्त्रित करने का निर्देश करते हैं—

इन्द्रियाणां विचरतां विषयेष्वपहारिषु।
संयमे यत्नमातिष्ठेद्विद्वान्यन्तेव वाजिनाम्॥ 88॥

अन्वय—विद्वान् वाजिनाम् यन्ता इव अपहारिषु विषयेषु विचरताम् इन्द्रियाणाम् संयमे यत्नम् आतिष्ठेत्॥ 88॥

अनुवाद—विद्वान् व्यक्ति को, घोडों के सारथि के समान, अपनी ओर आकर्षित करने वाले विषयों में विचरण करने वाली इन्द्रियों को संयत करने में यत्न करना चाहिए।

'चन्द्रिका'—इन्द्रियों का स्वभाव है कि वे अपने-अपने विषयों की ओर भागती हैं तथा उस-उस विषय का भोग करना चाहती हैं। जैसे नेत्रेन्द्रिय यह चाहती है कि मैं सुन्दर वस्तु का अवलोकन करूँ। जैसे ही उसे सुन्दर वस्तु मिल जाती है तो वह वहाँ से हटने का नाम नहीं लेती, किन्तु ज्ञानी व्यक्ति को चाहिए कि वह अपनी इन्द्रियों को अपने वश में ठीक उसी प्रकार रखे जिस प्रकार एक कुशल सारथि घोड़ों को अपने वश में रखता है। तभी उसे मोक्ष-प्राप्ति रूप लक्ष्य की प्राप्ति हो सकती है।

विशेष—1. इन्द्रियों की घोड़ों से तथा विद्वान् व्यक्ति की सारथि से उपमा दी गई है। अत: उपमालंकार का प्रयोग हुआ है।

2. मोक्ष प्राप्ति के लिए जितेन्द्रिय होना, अनिवार्य आवश्यकता है।

3. आतिष्ठेत् — आ + √ स्था + विधिलिङ्ग लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन (करना चाहिए)।

4. यन्ता — √ यम् + तृच् - यन्तृ - प्र. वि. ए.व. (नियन्त्रण करने वाला)।

5. इन्द्रियों का विषयोन्मुखी होना, कठोपनिषद् में इस प्रकार प्रतिपादित किया गया है—

पराञ्चिखानि व्यतृणत् स्वयंभू-
स्तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मा। (2/1/1)

मन्वर्थमुक्तावली—इन्द्रियाणामिति॥ इन्द्रियाणां विषयेष्वपहरणशीलेषु वर्तमानानां क्षयित्वादिविषयदोषाञ्जानन्संयमे यत्नं कुर्यात्सारथिरिव रथनियुक्तानामश्वानाम्॥ 88॥

तदनन्तर एकादश इन्द्रियों के कथन का उपक्रम करते हैं—

एकादशेन्द्रियाण्याहुर्यानि पूर्वे मनीषिणः।
तानि सम्यक्प्रवक्ष्यामि यथावदनुपूर्वशः॥ 89॥

अन्वय—पूर्वे मनीषिणः यानि एकादशेन्द्रियाणि आहुः, तानि यथावत् अनुपूर्वशः सम्यक् प्रवक्ष्यामि॥ 89॥

अनुवाद—प्राचीन विद्वानों ने जिन ग्यारह इन्द्रियों को कहा है, उनको उचित पौर्वापर्यक्रम से ठीक प्रकार कहूँगा।

'चन्द्रिका'—पूर्वकाल में हुए विद्वानों ने यद्यपि श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसना और घ्राण इन पाँच ज्ञानेन्द्रियों तथा वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ इन पाँच कर्मेन्द्रियों तथा मन कुल मिलाकर इन ग्यारह इन्द्रियों का कथन कर दिया है, तथापि प्रसंगानुकूल मैं भी इन सभी का क्रमशः भली प्रकार आप ऋषियों के समक्ष कथन करूँगा, ऐसा भृगु मुनि, ऋषियों को सम्बोधित करके कहते हैं।

विशेष—1. इन्द्रियों की संख्या ग्यारह मानी गई है पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ तथा एक मन।

2. प्रवक्ष्यामि — प्र + √ वह् (वह प्रापणे) + लृट् लकार, उत्तम पुरुष, एकवचन (विस्तार से कहूँगा)।

3. मनीषिणः — मनीषा + इनि → मनीषिन्, प्र. वि. बहुवचन (विद्वानों ने)।

4. अनुपूर्वशः — नियमित क्रम में, उचित पौर्वापर्य क्रम से।

5. आचार्य मनु ने यहाँ 11 इन्द्रियों के उचित क्रम एवं विस्तार से कथन पर अधिक बल दिया है। यहाँ प्रत्येक इन्द्रिय का नाम से ही नहीं, अपितु कर्मों से भी कथन किया जाएगा।

मन्वर्थमुक्तावली—एकादशेति॥ पूर्वपण्डिता यान्येकादशेन्द्रियाण्याहुस्तान्यर्वाचां शिक्षार्थं सर्वाणि कर्मतो नामतश्च क्रमाद्वक्ष्यामि॥ 89॥

इसके पश्चात् सर्वप्रथम नाम परिगणन करते हैं—

श्रोत्रं त्वक् चक्षुषी जिह्वा नासिका चैव पञ्चमी।
पायूपस्थं हस्तपादं वाक्चैव दशमी स्मृता ॥ 90 ॥

अन्वय—श्रोत्रम्, त्वक्, चक्षुषी, जिह्वा च पञ्चमी नासिका एव पायु-उपस्थम्, हस्त-पादम् दशमी वाक् एव स्मृता ॥ 90 ॥

अनुवाद—कान, त्वचा, नेत्र, रसना और पाँचवी नासिका ही (तथा) गुदा, लिङ्ग, हाथ, पैर और दसवीं वाणी ये ही इन्द्रियाँ कही गई हैं।

'चन्द्रिका'—ग्रन्थकार दस इन्द्रियों में से पहले पाँच ज्ञानेन्द्रियों का कान, त्वचा, नेत्र, जिह्वा और घ्राण इस क्रम से उल्लेख करते हैं। तदनन्तर पाँच कर्मेन्द्रियों—मल द्वार, मूत्र-द्वार, हाथ, पैर और वाणी का कथन करते हैं।

विशेष—1. यद्यपि यहाँ उन्होंने ज्ञानेन्द्रिय अथवा कर्मेन्द्रिय शब्दों का प्रयोग नहीं किया है, किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि द्वितीय चरण में प्रयुक्त पञ्चमी तक ज्ञानेन्द्रियाँ अभिप्रेत हैं तथा दशमी तक कर्मेन्द्रियाँ जिसका अग्रिम श्लोक में उल्लेख भी किया गया है। वस्तुतः ये दश बाह्येन्द्रियाँ हैं।

2. सम्भवतः ग्रन्थकार यहाँ क्रम पर बल देना चाहते हैं।

3. हस्तपादम् — (द्वन्द्वश्च प्राणितर्यसेनाङ्गनाम् — 2/4/2 सूत्र से एकवद् भाव द्वन्द्व समास) हस्तौ च पादौ च, इति।

मन्वर्थमुक्तावली—श्रोत्रमिति॥ तेष्वेकादशसु श्रोत्रादीनि दशैतानि बहिरिन्द्रियारि नामतो निर्दिष्टानि। पायूपस्थं हस्तपादमिति 'द्वन्द्वश्च प्राणितूर्यसेनाङ्गनाम्' इति प्राण्यङ्गद्वन्द्वत्वादेकवद्भावः ॥ 90 ॥

पुनः इनके ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय भेदों का कथन करते हैं—

बुद्धीन्द्रियाणि पञ्चैषां श्रोत्रशदीन्यनुपूर्वशः।
कर्मेन्द्रियाणि पञ्चैषां पाय्वादीनि प्रचक्षते ॥ 91 ॥

अन्वय—एषाम् श्रोत्रादीनि अनुपूर्वशः पञ्च-बुद्धीन्द्रियाणि (सन्ति तथा) एषाम् पायु-आदीनि पञ्च-कर्मेन्द्रियाणि प्रचक्षते ॥ 91 ॥

अनुवाद—इनमें से श्रोत्र आदि क्रमशः पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ (हैं तथा) इनमें पायु-आदि पाँच कर्मेन्द्रियाँ कही गई हैं।

'चन्द्रिका'—श्लोक संख्या 90 में परिगणित इन्द्रियों में से प्रथम पाँच—श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा और घ्राण ये ज्ञानेन्द्रियाँ हैं, क्योंकि इनके द्वारा प्राणी इनके विषयों का ज्ञान प्राप्त करता है। तत्पश्चात् परिगणित, गुदा, लिंग, हाथ, पैर और वाणी, ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं, क्योंकि प्राणी इनके द्वारा क्रमशः मल निस्सारण, मूत्र विसर्जन, काम करना, चलना, बोलना आदि कर्म करता है।

विशेष—1. प्रचक्षते — प्र + √ चक्ष् + लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन, आत्मनेपदी (कहा जाता है)।

2. बुद्धि-आदि तथा पायु-आदि में प्रयुक्त आदि पद अन्य ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों का भी व्यञ्जक है।

3. यहाँ ज्ञानेन्द्रियों का सम्बन्ध बुद्धिज्ञान से तथा कर्मेन्द्रियों का सम्बन्ध कर्म से है।

4. ज्ञानेन्द्रियाँ — श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, रसना तथा घ्राण।

कर्मेन्द्रियाँ — पायु, उपस्थ (लिंग), हाथ, पैर तथा वाणी।

मन्वर्थमुक्तावली—बुद्धीन्द्रियाणीति॥ एषां दशानां मध्ये श्रोत्रादीनि पञ्च क्रमोक्तानि बुद्धेःकरणत्वाद्बुद्धीन्द्रियाणि। पाय्वादीनि चोत्सर्गादिकर्मकरणत्वात्कर्मेन्द्रियाणि तद्विदो वदन्ति॥ 91॥

तत्पश्चात् ग्यारहवीं इन्द्रिय मन के विषय में कहते हैं—

एकादशं मनो ज्ञेयं स्वगुणेनोभयात्मकम्।
यस्मिञ्जिते जितावेतौ भवतः पञ्चकौ गणौ॥ 92॥

अन्वय—स्वगुणेन उभयात्मकम् एकादशम् मनः ज्ञेयम्, यस्मिन् जिते एतौ पञ्चकौ गणौ जितौ भवतः॥ 92॥

अनुवाद—अपने गुण के कारण उभयात्मक ग्यारहवाँ मन समझना चाहिए। जिसके जीत लेने पर यह पाँच-पाँच का गण (समुदाय) जीत लिया जाता है।

'चन्द्रिका'—क्योंकि नेत्रादि ज्ञानेन्द्रियों तथा वाक् आदि कर्मेन्द्रियों की अपने-अपने विषयों में प्रवृत्ति मन के निर्देशानुसार ही होती है, इसलिए अपनी इस विशेषता के कारण मन को उभयात्मक अर्थात् ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय दोनों माना गया है। पूर्व में कही गई दस इन्द्रियों को मिलाकर मन सहित इन्द्रियों की संख्या ग्यारह हो जाती है। इसी कारण यहाँ मन को ग्यारहवाँ कहा है।

मन के द्वारा अधिष्ठित, नियन्त्रित होने से ही दसों इन्द्रियों का समूह अपने-अपने विषय में प्रवृत्त होता है। इसलिए उन्हें जीतने के लिए मन को वश में करना अत्यावश्यक है। क्योंकि अकेले मन को वश में करने पर क्रमशः ज्ञानेन्द्रियों एवं कर्मेन्द्रियों का पाँच-पाँच का वह गण स्वतः ही अपने वशवर्ती हो जाता है।

विशेष—1. मन को संकल्पात्मक कहा गया है। इसी कारण यह उभय रूप है, क्योंकि यह ज्ञानेन्द्रिय भी है और कर्मेन्द्रिय भी।

2. कहा भी गया है—**"मन के हारे हार है, मन के जीते जीत।"**

3. शंकराचार्य का भी कथन है—**"जितं जगत् केन, मनो हि येन।"**

4. पञ्चकौ — पञ्च + क (संख्यायाः संज्ञासंघसूत्राध्ययनेषु 5/1/58 सूत्र से संख्या परिमित अर्थ में) पाँच संख्या से परिमित।

5. मन को ग्यारहवीं इन्द्रिय माना गया है।

6. सांख्यतत्त्वकौमुदीकार का भी कथन है—मन उभयात्मकं बुद्धीन्द्रियं कर्मेन्द्रियंञ्च। चक्षुरादीनां वागादीनां च मनोऽधिष्ठितानामेव स्वस्व विषयेषु प्रवृत्तेः (तत्त्व कौमुदी-27)।

मन्वर्थमुक्तावली—एकादशमिति।। एकादशसंख्यापूरकं च मनोरूपमन्तरिन्द्रियं ज्ञातव्यम्। स्वगुणेन संकल्परूपेणोभयरूपेन्द्रियगणप्रवर्तकस्वरूपम्। अतएव यस्मिन्मनसि जिते उभावपि पञ्चकौ बुद्धीन्द्रियकर्मेन्द्रियगणौ जितौ भवतः। पञ्चकाविति 'तदस्य परिमाणम्' इत्यनुवृत्तौ 'संख्यायाः संज्ञासङ्घसूत्राध्ययनेषु' इति पञ्चसंख्यापरिमितसङ्घार्थे कः ।। 92 ।।

मनोधर्मसंकल्पमूलत्वादिन्द्रियाणां प्रायेण प्रवृत्तेः किमर्थमिन्द्रियनिग्रहः कर्तव्य इत्यत आह—

पुनः जितेन्द्रियत्व की प्रशंसा करते हुए कहते हैं—

इन्द्रियाणां प्रसङ्गेन दोषमृच्छत्यसंशयम्।
संनियम्य तु तान्येव ततः सिद्धिं नियच्छति।। 93।।

अन्वय—इन्द्रियाणाम् प्रसङ्गेन असंशयम् दोषम् ऋच्छति, तु तानि एव सन्नियम्य ततः सिद्धिम् नियच्छति ।। 93 ।।

अनुवाद—इन्द्रियों के विषयों के सान्निध्य से (व्यक्ति) निःसंदेह दोष को प्राप्त करता है, किन्तु उन्हीं को भलीप्रकार नियन्त्रित करने के बाद (वह) सिद्धि को प्राप्त करता है।

'चन्द्रिका'—इन्द्रियों का स्वभाव है कि वे अपने विषयों की ओर आकर्षित होती है। यदि व्यक्ति का मन कमजोर होता है तो वह विषयों की ओर आकृष्ट होकर उन्हें भोगने में इन्द्रियों का सहायक होता है, किन्तु इन्द्रियों के विषयों को भोगने से निःसंदेह व्यक्ति में अनेक बुराइयाँ आ जाती हैं।

इसके विपरीत यदि व्यक्ति दृढ़ मन वाला होता है तो वह इन्द्रियों को प्रयत्नपूर्वक उनके विषयों के प्रति आकर्षण को रोकता है। जिसके परिणामस्वरूप मनुष्य अणिमा, लघिमा आदि सिद्धियों अथवा मोक्ष प्राप्ति रूप सिद्धि अपने जीवन के लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है।

विशेष—1. सिद्धियाँ आठ होती हैं—अणिमा, लघिमा, महिमा, गरिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व, वशित्व (अमरकोश), किन्तु यहाँ 'मोक्ष प्राप्ति रूप लक्ष्य की सिद्धि' अर्थ भी ग्रहण किया जा सकता है।

2. इन्द्रियों से अभिप्राय यहाँ ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय तथा मन सभी से है।

3. ऋच्छति — √ ऋच्छ् + लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन (प्राप्त करता है)।

4. नियच्छति — नि + √ यम् + लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन (प्राप्त करता है)।

5. संनियम्य — सम् + नि + √ यम् + ल्यप् (भली प्रकार नियन्त्रित करके)।

6. असंशयम् — न संशयम् इति, (नञ् समास) नि.संदेह।

मन्वर्थमुक्तावली—इन्द्रियाणामिति।। यस्मादिन्द्रियाणां विषयेषु प्रसक्तया दृष्टादृष्टं च दोषं निःसंदेहं प्राप्नोति। तान्येव पुनरिन्द्रियाणि सम्यङ्नियम्य सिद्धिं मोक्षादिपुरुषार्थयोग्यतारूपां लभते। तस्मादिन्द्रियसंयमं कुर्यादिति शेषः ॥ 93 ॥

किमिन्द्रियसंयमेन विषयोपभोगादेरलब्धकामो निवर्त्स्यतीत्याशङ्क्याह—

विषयोपभोग इन्द्रिय-नियन्त्रण में बाधक है, इसका प्रतिपादन करते हैं—

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ॥ 94 ॥

अन्वय—कामानाम् उपभोगेन कामः जातु न शाम्यति, (अपितु) हविषा कृष्णवर्त्मा इव भूयः अभिवर्धते एव ॥ 94 ॥

अनुवाद—कामनाओं के उपभोग से इच्छा कभी भी शान्त नहीं होती हैं, किन्तु हवि के द्वारा अग्नि के समान और अधिक बढ़ती ही हैं।

'चन्द्रिका'—कुछ विद्वानों का विचार है—कि इन्द्रियों के विषयों का उपभोग करने से व्यक्ति उनसे विरत हो सकता है; आचार्य रजनीश जैसे विद्वान् इसी मत के पक्षपाती रहे हैं। प्राचीनकाल में भी सम्भवतः कुछ विद्वानों का विचार रहा होगा, किन्तु आचार्य मनु इस सम्बन्ध में अपनी असहमति व्यक्त करते हुए कहते हैं कि—

इन्द्रियाँ कभी भी उनके विषयों का उपभोग करने से तृप्त नहीं होती हैं, अपितु प्रत्यक्षतः प्रतीत होने वाली तृप्ति मात्र क्षणिक होती है। इसके विपरीत विषयों का उपभोग उनके और अधिक उपभोग की लालसा को ठीक उसी प्रकार बढ़ाता ही है, जैसे आग में घी रूप हवि डालने से वह और अधिक बढ़ती है, शान्त नहीं होती। इसलिए विद्वान् व्यक्ति को, इन्द्रियों को उनके विषयों से रोकना चाहिए।

विशेष—1. कामनाओं की वृद्धि की उपमा अग्नि के प्रदीप्त होने से दी गई है, जो अत्यन्त सटीक एवं प्रभावशाली है, उपमालंकार।

2. विषयों के भोग, भोगने से शान्त नहीं होते, इस सम्बन्ध में विष्णुपुराण का कथन है—

पूर्णं वर्षसहस्रं मे विषयासक्तचेतसः।
तथाप्यनुदिनं तृष्णायत्तेष्वेव हि जायते॥

3. शाम्यति — √ शम् (लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन) शान्त होता है।

4. अभिवर्धते — अभि + √ वृध् + लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन आत्मने (बढ़ती है)।

5. कृष्णवर्त्मा — अग्नि को कृष्णमार्गी कहा जाता है। वेद में भी अनेकशः इसका प्रयोग हुआ है।

मन्वर्थमुक्तावली—न जात्विति।। न कदाचित्कामोऽभिलाषः काम्यन्त इति कामा

विषयास्तेषामुपभोगेन निवर्तते, किन्तु घृतेनाग्निरिवाधिकाधिकतममेव वर्धते। प्राप्तभोगस्यापि प्रतिदिनं तदधिकभोगवाञ्छादर्शनात्। अतएव विष्णुपुराणे ययातिवाक्यम्—'यत्पृथिव्या व्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः। एकस्यापि न पर्याप्तं तदित्यतितृषं त्यजेत्॥' तथा—'पूर्णं वर्षसहस्रं मे विषयासक्तचेतसः। तथाप्यनुदिनं तृष्णा यत्तेष्वेव हि जायते॥ 94॥'

अतः विषयोपभोग की अपेक्षा विषयों का त्याग प्रशस्य है—

यश्चैतान्प्राप्नुयात्सर्वान्यश्चैतान्केवलांस्त्यजेत्।
प्रापणात्सर्वकामानां परित्यागो विशिष्यते॥ 95॥

अन्वय—यः एतान् सर्वान् प्राप्नुयात् च यः एतान् केवलान् त्यजेत्, सर्वकामानाम् प्रापणात् परित्यागः विशिष्यते॥ 95॥

अनुवाद—जो इन सभी (कामनाओं) को प्राप्त करता है और जो इन सबका केवल परित्याग करता है। सभी कामनाओं को प्राप्त करने की अपेक्षा (उनका) परित्याग (ही) विशिष्ट है।

'चन्द्रिका'—एक व्यक्ति यदि इन्द्रियों के विभिन्न सभी भोगों को प्राप्त कर ले तथा अन्य व्यक्ति उन सभी शब्द-स्पर्श आदि इन्द्रियों के विषयों का केवल त्यागमात्र कर दे। इन दोनों व्यक्तियों में भोगों को भोगने वाले की अपेक्षा त्याग करने वाला अधिक प्रशस्य है, क्योंकि विषय-भोगों की प्राप्ति की अपेक्षा उनका त्याग करना अधिक प्रशंसनीय है। वस्तुतः विषयों के प्रति आसक्ति ही सभी दुःखों का कारण है, अतः हेय है।

विशेष—1. इन्द्रियों के विषयों के भोग की अपेक्षा उनके त्याग की श्रेष्ठता प्रतिपादित की है।

2. विषयों के प्रति आसक्त व्यक्ति उन्हें प्राप्त करने के लिए अनेक कष्टों का सामना करता है, फिर भी ये विषय नाशवान् है। अतः यह प्रयास निरर्थक है। अतः इनकी प्राप्ति का प्रयास व्यर्थ है।

3. विषयों का त्याग केवल स्वाधीन है, मात्र मन के अधीन है। अतः सरल है। साथ ही मोक्षदायी होने के कारण प्रशंसनीय भी है, क्योंकि मोक्ष नित्य है।

4. परित्यागः — परि + √ त्यज् + घञ् (छोड़ना)।

5. प्रापणात् — प्र + √ आप् + ल्युट् + पञ्चमी विभक्ति, एकवचन (प्राप्त करने से)।

मन्वर्थमुक्तावली—यश्चैतानिति॥ य एतान्सर्वान्विषयान्प्राप्नुयाद्यश्चैतान्कामानुपेक्षते तयोर्विषयोपेक्षकः श्रेयांस्तस्मात्सर्वकामप्राप्तेस्तदुपेक्षा प्रशस्या। तथाहि विषयलोलुपस्य तत्सा-धनाद्युत्पादने कष्टसंभवो विपत्तौ च क्लेशातिशयो नतु विषयविरसस्य॥ 95॥

इदानीमिन्द्रियसंयमोपायमाह—

तत्पश्चात् इन्द्रियों को विषयों के प्रति रोकने के उपाय का कथन करते हैं—

न तथैतानि शक्यन्ते संनियन्तुमसेवया।
विषयेषु प्रजुष्टानि यथा ज्ञानेन नित्यशः ॥ 96 ॥

अन्वय—विषयेषु प्रजुष्टानि एतानि असेवया तथा न सन्नियन्तुम् शक्यन्ते यथा नित्यशः ज्ञानेन ॥ 96 ॥

अनुवाद—विषयों में लगी हुई इन इन्द्रियों का सेवन न करने से उस प्रकार ठीक तरह नहीं रोका जा सकता है, जिस प्रकार हमेशा रहने वाले ज्ञान के माध्यम से (रोका जा सकता है)।

'चन्द्रिका'—विषयों के प्रति इन्द्रियों के आकर्षण को बलपूर्वक उनका सेवन न करने की आकांक्षा या इच्छा द्वारा नहीं रोका जा सकता है, क्योंकि ऐसा करना, न तो अत्यन्त सरल ही है और न ही यह अवरोध अधिक दिन तक सम्भव है। वस्तुतः इस प्रकार इन्द्रियों का उनके विषयों से हटाना बलपूर्वक बाँधे हुए जल के बाँध के समान ही होगा, जो कभी भी बाँध को तोड़कर समुद्र रूपी विषयों के प्रति दौड़ जाएगा। फिर इस प्रकार के बलपूर्वक अवरोध में व्यक्ति भले ही विषयों का उपभोग न करे, किन्तु चिन्तन तो उनका ही करता रहेगा। अतः विषयों से बलपूर्वक हटाने की दृष्टि उतनी प्रशस्य एवं सरल नहीं है।

इसके विपरीत यदि व्यक्ति की विषयों के प्रति वितृष्णा ज्ञानपूर्वक होती है तो वह अधिक सरल तथा अधिक समय तक स्थिर रहने वाली है। ग्रन्थकार इस विकर्षण को नित्य बताते हैं अर्थात् यह समझते हुए यदि व्यक्ति इन्द्रियों के तत्तत् विषयों के प्रति विरक्त होता है, कि ये विषय नाशवान् तथा इन्द्रियों की शक्ति का क्षय करने वाले एवं मोक्ष साधन में बाधक हैं, तो वह उनके भोग का विचार भी नहीं करेगा। अतः यह उपाय अधिक प्रशंसनीय है।

विशेष—1. जितेन्द्रियत्व में ज्ञान की महत्ता प्रतिपादित की है।

2. संन्नियन्तुम् — सम् + नि + √ यम् + तुम् (भली प्रकार रोकने के लिए)।

3. प्रजुष्टानि — प्र + √ जुष् + क्त + प्र. वि., बहुवचन (प्रकृष्ट रूप से लगी हुई)।

4. नित्यशः — नित्य + शस् (सदैव, हमेशा)।

5. विषयों के दोषों को समझकर ज्ञानपूर्वक जितेन्द्रिय बनना, बलपूर्वक विषयों से दूर रहने की अपेक्षा सरल है।

मन्वर्थमुक्तावली—न तथेति॥ एतानीन्द्रियाणि विषयेषु प्रसक्तानि तथा नासेवया विषयसन्निधिवर्जनरूपया नियन्तुं न शक्यन्ते। दुर्निवारत्वात्। यथा सर्वदा विषयाणां क्षयित्वादि-दोषज्ञानेन शरीरस्य चास्थिस्थूणमित्यादिवक्ष्यमाणदोषचिन्तनेन। तस्माद्विषयदोषज्ञानादिना बहिरिन्द्रियाणि मनश्च नियच्छेत्॥ 96॥

यस्मादनियमितं मनो विकरस्य हेतुः स्यादत आह—

पुनः दुष्ट स्वभाव वाले व्यक्ति के वेदाध्ययन आदि की निरर्थकता प्रतिपादित करते हैं—

वेदास्त्यागश्च यज्ञाश्च नियमाश्च तपांसि च।
न विप्रदुष्टभावस्य सिद्धिं गच्छन्ति कर्हिचित्॥ 97॥

अन्वय—विप्रदुष्टभावस्य वेदाः त्यागः च यज्ञाः च नियमाः च तपांसि च कर्हिचित् सिद्धिम् न गच्छन्ति॥ 97॥

अनुवाद—दूषित अभिप्राय वाले ब्राह्मण के वेद, त्याग, यज्ञ, नियम और तप कभी भी सिद्धि को प्राप्त नहीं होते हैं।

'चन्द्रिका'—जिस व्यक्ति का हृदय दूषित है, वह किसी के भी उपकार का चिन्तन नहीं करता, ऐसे दुष्ट प्रकृति वाले व्यक्ति के द्वारा किया गया वेदों का अध्ययन, चिन्तन, मनन, त्याग, यज्ञादि का आचरण यम-नियमादि का पालन तथा तपः आचरण निरर्थक होते हैं। भले ही वह ब्राह्मण कुल में भी उत्पन्न क्यों न हुआ हो।

विशेष—1. वेदाध्ययन एवं तपादि की सफलता के लिए हृदय की निर्मलता, विषयों के प्रति अनासक्ति एवं परोपकारी होने की आवश्यकता प्रतिपादित की गई है।

2. त्यागः — √ त्यज् + घञ् (परित्याग)।

3. विप्रदुष्टभावस्य — दुष्टः भावः यस्य सः, तस्य, विप्रस्य (बहुव्रीहि)।

मन्वर्थमुक्तावली—वेदा इति॥ वेदाध्ययनदानयज्ञनियमतपांसि भोगादिविषयसेवासंकल्पशीलिनो न कदाचित्फलसिद्धये प्रभवन्ति॥ 97॥

जितेन्द्रियस्य स्वरूपमाह—

पुनः जितेन्द्रिय के लक्षण का कथन करते हैं—

श्रुत्वा स्पृष्ट्वा च दृष्ट्वा च भुक्त्वा घ्रात्वा च यो नरः।
न हृष्यति ग्लायति वा स विज्ञेयो जितेन्द्रियः॥ 98॥

अन्वय—यः नरः श्रुत्वा, स्पृष्ट्वा च दृष्ट्वा च भुक्त्वा च घ्रात्वा न हृष्यति, वा न ग्लायतिं, सः जितेन्द्रियः विज्ञेयः॥ 98॥

अनुवाद—जो व्यक्ति सुनकर स्पर्श करके और देखकर तथा खाकर एवं सूंघकर न प्रसन्न होता है अथवा न दुःखी होता है, उसे जितेन्द्रिय समझना चाहिए।

'चन्द्रिका'—जो व्यक्ति अपनी प्रशंसा सुनकर अथवा निन्दा सुनकर न तो प्रसन्न होता है और न ही दुःखी होता है। ठीक इसी प्रकार अन्यान्य इन्द्रियों के विषयों को मनोनुकूल पाकर खुश तथा मन के प्रतिकूल प्राप्त होने पर अप्रसन्न नहीं होता, वही वस्तुतः जितेन्द्रिय है। इन्द्रियों के विषयों में रेशमी वस्त्रादि के सुखदस्पर्श के प्राप्त होने पर प्रसन्नता न हो तथा अन्यान्य कम्बल आदि कठोर पदार्थों के स्पर्श से कष्ट न हो। इसी प्रकार सुन्दर आकृति एवं स्वरूप को देखकर भी निर्विकार भाव को ग्रहण करे तथा कुरूप को

देखकर भी दुःखी न हो। ऐसे ही कौन-सी वस्तु स्वादिष्ट है, कौन-सी अस्वादिष्ट आदि चिन्तन न करते हुए सहज भाव से प्रत्येक वस्तु का भक्षण करें। प्रत्येक वस्तु की सुगन्ध दुर्गन्ध को नासिका द्वारा सूँघे, किन्तु किसी भी अच्छी अथवा बुरी प्रतिक्रिया को अभिव्यक्त न करे, न ही मन पर लावे। ऐसा व्यक्ति ही वस्तुतः जितेन्द्रिय कहलाने का अधिकारी होता है।

विशेष—1. जितेन्द्रियः — जितानि इन्द्रियाणि येन सः (जीत लिया है इन्द्रियों को जिसने वह)।

2. श्रुत्वा — √ श्रु + क्त्वा (सुनकर) स्पृष्ट्वा — √ स्पृश् + क्त्वा (स्पर्श करके)।

3. दृष्ट्वा — √ दृश् + क्त्वा (देखकर) भुक्त्वा — √ भुज् + क्त्वा (खाकर)।

4. घ्रात्वा — √ घ्रा + क्त्वा (सूँघकर)।

5. हृष्यति — √ हृष् + लट्लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन (प्रसन्न होता है)।

6. ग्लायति — √ ग्लै + लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन (म्लान, दुःखी होता है)।

7. विज्ञेयः — वि + √ ज्ञा + यत् (जानना चाहिए)।

8. गीता में भी कहा है—

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते॥ 2/56॥

मन्वर्थमुक्तावली—श्रुत्वेति॥ स्तुतिवाक्यं निन्दावाक्यं च श्रुत्वा, सुखस्पर्शं दुकूलादि दुःखस्पर्शं मेषकम्बलादि स्पृष्टा, सुरूपं कुरूपं च दृष्ट्वा, स्वादु अस्वादु च भुक्त्वा, सुरभिमसुरभिं च घ्रात्वा, यस्य न हर्षविषादौ स जितेन्द्रियो ज्ञातव्यः॥ 98॥

एकेन्द्रियासंयमोऽपि निवार्यत इत्याह—

जितेन्द्रिय के लिए सभी इन्द्रियों के पूर्ण संयम का निर्देश देते हुए कहते हैं—

इन्द्रियाणां तु सर्वेषां यद्येकं क्षरतीन्द्रियम्।
तेनास्य क्षरति प्रज्ञा दृतेः पात्रादिवोदकम्॥ 99॥

अन्वय—तु सर्वेषाम् इन्द्रियाणाम् यदि एकम् इन्द्रियम् क्षरति, तेन अस्य प्रज्ञा दृतेः पात्रात् उदकम् इव क्षरति॥ 99॥

अनुवाद—किन्तु सभी इन्द्रियों में से यदि एक इन्द्रिय (भी अपने विषय की ओर) प्रवाहित हो जाती है, (तो) उससे इसकी बुद्धि चमड़े के पात्र से जल के समान, बह जाती है।

'चन्द्रिका'—मनुष्य कितना भी ज्ञानी क्यों न हो, यदि उसकी एक भी इन्द्रिय अपने विषय के प्रति आसक्त हो जाती है और वह उसे नियन्त्रित नहीं कर पाता है तो उसकी

शास्त्रसम्मत बुद्धि भी ठीक उसी प्रकार स्थिर नहीं रह पाती और विनष्ट हो जाती है। जिस प्रकार मजबूत चमड़े के पात्र में यदि एक छोटा-सा भी छिद्र हो जाता है तो सारा पानी उस छिद्र से ही निकल जाता है। इसलिए व्यक्ति को आत्महित के लिए सभी इन्द्रियों को दृढ़ता के साथ वश में रखना चाहिए।

विशेष—1. पतन की दृष्टि से प्रत्येक इन्द्रिय का विशेष महत्त्व है। श्रेष्ठ ज्ञानी व्यक्ति भी किसी एक इन्द्रिय के विषय में प्रति आकृष्ट होकर पतन के गर्त में गिर सकता है। अत: एक भी इन्द्रिय ज्ञानी के पतन के लिए पर्याप्त है।

2. चमड़े के पात्र की उपमा देकर विषय को भली प्रकार समझाया गया है, उपमालंकार।

3. क्षरति — √ क्षर् + लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन (बह जाता है)।

4. दृतेः — दृति — षष्ठी विभक्ति, एकवचन (चमड़े की मशक)।

5. पात्रात् — के स्थान पर 'पादात्' पाठ भेद भी मिलता है, जिसका अर्थ 'छिद्र' करना होगा।

मन्वर्थमुक्तावली—इन्द्रियाणां त्विति ॥ सर्वेषामिन्द्रियाणां मध्ये यद्येकमपीन्द्रियं विषय-प्रवणं भवति ततोऽस्य विषयपरस्य इन्द्रियान्तरैरपि तत्त्वज्ञानं क्षरति न व्यवतिष्ठते। चर्मनिर्मितोद-कपात्रादिवैकेनापि छिद्रेण सर्वस्थानस्थमेवोदकं न व्यवतिष्ठते ॥ 99 ॥

इन्द्रियसंयमस्य सर्वपुरुषार्थहेतुतां दर्शयति—

मन के नियन्त्रण से इन्द्रियों को जीतकर व्यक्ति सब कुछ प्राप्त कर सकता है—

वशे कृत्वेन्द्रियग्रामं संयम्य च मनस्तथा।
सर्वान्संसाधयेदर्थानक्षिण्वन्योगतस्तनुम् ॥ 100 ॥

अन्वय—इन्द्रियग्रामम् वशे कृत्वा च मनः संयम्य तथा योगतः तनुम् अक्षिण्वन् सर्वान् अर्थान् संसाधयेत् ॥ 100 ॥

अनुवाद—इन्द्रियों के समूह को वश में करके और मन को नियन्त्रित करके तथा योग के द्वारा शरीर को सुरक्षित रखता हुआ (व्यक्ति) सभी प्रयोजनों को सिद्ध कर लेता है।

'चन्द्रिका'—पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय, कुल दस बाह्येन्द्रियों के इस गण को अपने वश में करके अर्थात् उन-उनके विषयों के प्रति इन्हें जाने से रोककर, तथा मन को भलीप्रकार नियन्त्रित करके, यौगिक क्रियाओं प्राणायाम आदि के द्वारा शरीर की सुरक्षा करते हुए तथा स्वास्थ्यप्रद हल्का, सात्विक भोजन करते हुए व्यक्ति को अपने सभी प्रयोजनों की सिद्धि करनी चाहिए।

विशेष—1. यहाँ प्रयोजनों से अभिप्राय पुरुषार्थ चतुष्ट्य की प्राप्ति से है।

2. ईश्वर-प्राप्ति में योग की महत्ता को भी स्वीकार किया गया है।

3. संयम्य — सम् + √ यम् + ल्यप् (भलीप्रकार नियन्त्रित करके)।

4. इन्द्रियग्रामम् — इन्द्रियाणां ग्रामः समूहः तम् (इन्द्रियों के समूह को)।

5. यहाँ इन्द्रिय समूह से अभिप्राय केवल दस बाह्य इन्द्रियों से लेना चाहिए, क्योंकि ग्यारहवीं इन्द्रिय मन का कथन अलग से किया गया है।

6. अक्षिण्वन् — न क्षिण्वन् इति (नञ् समास) (विनष्ट न करता हुआ)।

मन्वर्थमुक्तावली—वशे कृत्वेति ॥ बहिरिन्द्रियगणमायत्तं कृत्वा मनश्च संयम्य सर्वान्पुरुषार्थान्सम्यक्साधयेत्। योगत उपायेन स्वदेहमपीडायन्यः सहजमुखी संस्कृतान्नादिकं भुङ्क्ते स क्रमेण तं त्यजेत् ॥ 100 ॥

तत्पश्चात् संध्याकालों में जप की विधि का कथन करते हैं—

पूर्वां संध्यां जपंस्तिष्ठेत्सावित्रीमार्कदर्शनात्।
पश्चिमां तु समासीनः सम्यगृक्षविभावनात् ॥ 101 ॥

अन्वय—पूर्वाम् सन्ध्याम् आ अर्कदर्शनात्, तु पश्चिमाम् सम्यक् ऋक्षविभावनात् समासीनः सावित्रीम् जपन् तिष्ठेत् ॥ 101 ॥

अनुवाद—प्रातःकालीन सन्ध्या के समय सूर्योदय पर्यन्त, सावित्री का (खड़ा होकर) जप करे, किन्तु सायंकालीन संध्या में नक्षत्रों के ठीक प्रकार दिखाई देने तक बैठा हुआ (जप का आचरण करे)।

'चन्द्रिका'—प्रातःकालीन संध्या में रात्रि के दो घड़ी लेकर सूर्योदय पर्यन्त ओंकार एवं व्याहृतिपूर्वक, सावित्री मन्त्र का जप खड़े होकर करना चाहिए, किन्तु सायंकालीन संध्या में इस मन्त्र का जप बैठकर तारों के ठीक से दिखाई देने तक करना चाहिए। इसी से फल प्राप्ति सम्भव है।

विशेष—1. मेधातिथि ने सावित्री मन्त्र के जपने में स्थान और आसन के महत्त्व को प्रधानता प्रदान की है।

2. प्रातःकाल सूर्याभिमुख खड़े होकर तथा सायंकाल बैठकर सावित्री मन्त्र का जाप करना चाहिए, किन्तु कुछ विद्वानों की दृष्टि में बैठकर ही जप करना चाहिए।

3. जपन् — √ जप् + शतृ — (जप करते हुए)।

4. तिष्ठेत् — √ स्था + विधिलिंग लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन (स्थिर खड़े रहना चाहिए)।

5. पूर्वां पश्चिमाम् — ये दोनों शब्द क्रमशः पूर्व सन्ध्या (प्रातःकालीन) तथा सायंकालीन संध्या के लिए प्रयुक्त हुए हैं। 'कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे (2/3/5) सूत्र से द्वितीया विभक्ति का प्रयोग।

6. संध्या यहाँ मुहूर्तमात्र का द्योतक है—याज्ञवल्क्य का भी मत है—

संध्या मुहूर्तमात्रं तु ह्रासे वृद्धौ च सा स्मृता।

मन्वर्थमुक्तावली—पूर्वां संध्यामिति ॥ पूर्वां संध्यां पश्चिमामिति च। कालाध्वनोरत्यन्त-

संयोगे द्वितीया। प्रथमसंध्यां सूर्यदर्शनपर्यन्तं सावित्रीं जपंस्तिष्ठेत्। आसनादुत्थाय निवृत्तगतिरेकत्र देशे कुर्यात्। पश्चिमां तु संध्यां सावित्रीं जगन्सम्यङ्नक्षत्रदर्शनपर्यन्तमुपविष्टः स्यात्। अत्र च फलवत्वाज्जपः प्रधानं स्थानासने त्वङ्गे। 'फलवत्सन्निधावफलं तदङ्गम्' इति न्यायात्। 'संध्ययोर्वेदविद्विप्रो वेद्पुण्येन युज्यते। सहस्रकृत्वस्त्वभ्यस्य' इति च पूर्वं जपात्फलमुक्तम्। मेधातिथिस्तु स्थानासनयोरेव प्राधान्यमाह संध्याकालश्च मुहूर्तमात्रम् तदाह योगियाज्ञवल्क्यः—'ह्रासवृद्धी तु सततं दिवसानां यथाक्रमम्। संध्या मुहूर्तमात्रं तु ह्रासे वृद्धौ च सा स्मृता ॥ 101 ॥'

पुनः दोनों संध्याकालों के जप के फल को कहते हैं—

पूर्वां संध्यां जपंस्तिष्ठन्नैशमेनो व्यपोहति।
पश्चिमां तु समासीनो मलं हन्ति दिवाकृतम् ॥ 102 ॥

अन्वय—पूर्वाम् सन्ध्याम् जपन् तिष्ठेत् नैशम् एनः व्यपोहति, पश्चिमाम् समासीनः तु दिवाकृतम् मलम् हन्ति ॥ 102 ॥

अनुवाद—प्रातःकाल की संध्या में जप करते हुए स्थित रहने पर (व्यक्ति) रात्रि में किए गए पापों से दूर करता है, सांयकालीन संध्या में स्थित हुआ तो (वह) दिन में किए गए दोषों को विनष्ट करता है।

'चन्द्रिका'—व्यक्ति रात में अथवा दिन में, सोते, जागते, उठते, बैठते जाने-अन्जाने कुछ पाप कर बैठता है। अतः प्रातःकालीन संध्या में जप का आचरण करता हुआ वह रात्रि समय में किए गए दोषों से मुक्त होता है तथा सायंकालीन संध्या में जप के द्वारा वह दिन में किए गए पापों से मुक्ति प्राप्त करता है।

विशेष—1. दोनों संध्याओं में जप का एक उद्देश्य दोष-मुक्ति भी है।

2. नैशम् — निशा + अण् (रात्रि सम्बन्धी)।

3. व्यपोहति — वि + अप + √ वह् + लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन (दूर करता है)।

4. हन्ति — √ हन् + लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन (नष्ट करता है)।

5. समासीनः — सम् + √ आस् + शानच् (आन को ईन आदेश ईदासः 7/2/83 पाणिनीय सूत्र से) (भली प्रकार बैठा हुआ)।

6. एनः — √ इ + असुन् (नुडागम) पाप, अपराध, दोष)।

7. आचार्य याज्ञवल्क्य का भी कथन है—

दिवा वा यदि वा रात्रौ यदज्ञानकृतं भवेत्।
त्रिकाल संध्याकरणात् तत्सर्वं विप्रणश्यति ॥

उल्लेखनीय है कि यहाँ उन्होंने त्रिकाल संध्या का प्रावधान किया है अर्थात् प्रातः, दोपहर, शाम।

मन्वर्थमुक्तावली—पूर्वां संध्यामिति॥ पूर्वसंध्यायां तिष्ठन् जपं कुर्वाणो निशासंचितं

पापं नाशयति। पश्चिमसंध्यायां तूपविष्टो जपं कुर्वन्दिवार्जितं पापं निहन्ति। तत्रापि जपात्फलमुक्तम्। एतच्चाज्ञानादिकृतपापविषयम्। अतएव याज्ञवल्क्यः—'दिवा वा यदि वा रात्रौ यदज्ञानकृतं भवेत्। त्रिकालसंध्याकरणात्तत्सर्वं विप्रणश्यति॥ 102॥'

तत्पश्चात् संध्या समय में जप न करने वाले द्विज के बहिष्कार का विधान करते हुए कहते हैं—

न तिष्ठति तु यः पूर्वां नोपास्ते यश्च पश्चिमाम्।
स शूद्रवद्बहिष्कार्यः सर्वस्माद्द्विजकर्मणः॥ 103॥

अन्वय—यः न तु पूर्वाम् तिष्ठति च यः न पश्चिमाम् उपासते, सः शूद्रवत् सर्वस्मात् द्विजकर्मणः बहिष्कार्यः॥ 103॥

अनुवाद—जो (व्यक्ति) न तो प्रातःकालीन संध्या में जप का अनुष्ठान करता है और न ही जो सायंकालीन संध्या में उपासना करता है। वह शूद्र के समान सभी द्विज वर्णोचित कर्मों से बहिष्कार करने योग्य है।

'चन्द्रिका'—द्विज वर्ण में उत्पन्न ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य वर्ण में उत्पन्न व्यक्ति यदि प्रातःकालीन संध्या और सायंकालीन संध्या में सावित्री के जप की शास्त्रोक्त विधि से उपासना नहीं करता है। वह व्यक्ति किसी भी द्विज वर्ण का क्यों न हो शूद्र के समान द्विज वर्णोचित संस्कारों से अतिथि सत्कार आदि से भी बहिष्कार करने योग्य है।

विशेष—1. संध्याकालीन जप के अभाव में व्यक्ति के सामाजिक बहिष्कार का निर्देश किया गया है।

2. बहिष्कार्यः — बहिः + √ कृ + ण्यत् (बहिष्कार करने योग्य है)।

3. शूद्रवत् — शूद्र + मतुप् (शूद्र के समान)।

मन्वर्थमुक्तावली—न तिष्ठतीति॥ यः पुनः पूर्वसंध्यां नानुतिष्ठति पश्चिमां च नोपास्ते। तत्तत्कालविहितं जपादि न करोतीत्यर्थः। स शूद्र इव सर्वस्माद्द्विजातिकर्मणोऽतिथिसत्कारादेरपि बाह्यः कार्यः। अनेनैव प्रत्यवायेन संध्योपासनस्य नित्यतोक्ता। नित्यत्वेऽपि सर्वदापेक्षितपापक्षयस्य फलत्वमविरुद्धम्॥ 103॥

सावित्री-जप के लिए उचित स्थान का उल्लेख करते हैं—

अपां समीपे नियतो नैत्यकं विधिमास्थितः।
सावित्रीमप्यधीयीत गत्वारण्यं समाहितः॥ 104॥

अन्वय—अरण्यम् गत्वा समाहितः अपाम् समीपे नियतः नैत्यकम् विधिम् आस्थितः, सावित्रीम् अपि अधीयीत॥ 104॥

अनुवाद—जंगल में जाकर एकाग्रचित होकर, जल के समीप स्थित होकर नित्य-कर्मों को विधिपूर्वक करता हुआ, सावित्री मन्त्र का भी चिन्तनपूर्वक जाप करे।

'चन्द्रिका'—सावित्री मन्त्र के जप के लिए व्यक्ति को शहर के शोर शराबे से

दूर वन में एकान्त में जाकर, नदी अथवा तालाब के किनारे एकाग्रमन से दैनिक यज्ञादि नित्यकर्मों को करने के बाद, ओंकार एवं तीनों व्याहृतियों सहित सावित्री मन्त्र के अर्थ का चिन्तन करते हुए मनोयोगपूर्वक जप करना चाहिए।

विशेष—1. सावित्री मन्त्र के जप के लिए एकान्त स्थल एवं जल का किनारा सर्वोत्कृष्ट स्थान प्रतिपादित किया है।

2. नियत: — नि + √ यम् + क्त (अपनी इन्द्रियों को वश में करके, एकाग्र चित्त होकर)।

3. नैत्यिकम् — नित्य + ठक् (नियमित रूप से अनुष्ठान करने योग्य)।

4. आस्थित: — आ + √ स्था + क्त (सम्पन्न करता हुआ)।

5. अधीयीत — अधि + √ इ + विधिलिंग लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन, आत्मनेपदी (अर्थज्ञान एवं चिन्तनपूर्वक जप)।

6. इस प्रकार एकान्त में किया गया सावित्री मन्त्र का जप अन्य स्थानों पर किए गए जप की अपेक्षा अधिक फल प्रदान करने वाला होता है।

मन्वर्थमुक्तावली—अपां समीप इति॥ ब्रह्मयज्ञरूपमिदं बहुवेदाध्ययनाशक्तौ सावित्री-मात्राध्ययनमपि विधीयते। अरण्यादिनिर्जनदेशं गत्वा नद्यादिजलसमीपे नियतेन्द्रिय: समाहितोऽनन्यमना नैत्यकं विधिं ब्रह्मयज्ञरूपमास्थितोऽनुतिष्ठासु: सावित्रीमपि प्रणवव्याहृतित्रययुतां यथोक्तामधीयीत॥ 104॥

होमादि के विषय में अनध्याय का निषेध करते हुए कहते हैं—

वेदोपकरणे चैव स्वाध्याये चैव नैत्यके।
नानुरोधोऽस्त्यनध्याये होममन्त्रेषु चैव हि॥ 105॥

अन्वय—वेदोपकरणे, च नैत्यके स्वाध्याये होमन्त्रेषु च अनध्याये अनुरोध: न एव अस्ति॥ 105॥

अनुवाद—वेदाङ्गों में, नित्य किए जाने वाले स्वाध्याय में, होम के मन्त्रों में अनध्याय का आग्रह नहीं है।

'चन्द्रिका'—शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष ये छ: वेदांग हैं, उनके अध्ययन के विषय में तथा नित्य-कर्म में आने वाले गायत्री जप, सन्ध्योपासना आदि के सम्बन्ध में एवं यज्ञ करने के सम्बन्ध में अनध्याय अर्थात् अवकाश का नियम लागू नहीं होता है। अत: इन्हें नियमित रूप से प्रतिदिन करना चाहिए।

विशेष—1. आचार्य मनु ने अमावस्या, चतुर्दशी, पूर्णिमा तथा अष्टमी एवं भूकम्प, युद्ध आदि की विशेष परिस्थिति होने पर अनध्याय का विस्तार से निर्देश भी किया है। (मनु. 4/102-127)।

2. नैत्यके — नित्य + कन् (नित्य रूप से अनुष्ठान योग्य) सप्तमी विभक्ति।

3. अनुरोध: — अनु + √ रुध् + घञ् (आग्रह)।

मन्वर्थमुक्तावली—वेदोपकरण इति॥ वेदोपकरणे वेदाङ्गे शिक्षादौ नैत्यके नित्यानुष्ठेये च स्वाध्याये ब्रह्मयज्ञरूपे होममन्त्रेषु चानध्यायादरो नास्ति॥ 105॥

पूर्व श्लोक की बात की पुष्टि करते हुए, अनध्याय के सम्बन्ध में पुनः कहते हैं—

नैत्यके नास्त्यनध्यायो ब्रह्मसत्रं हि तत्स्मृतम्।
ब्रह्माहुतिहुतं पुण्यमनध्यायवषट्कृतम्॥ 106॥

अन्वय—नैत्यके अनध्यायः न अस्ति, हि तत् ब्रह्मसत्रम् स्मृतम् ब्रह्माहुतिहुतम् अनध्यायवषट्कृतम् पुण्यम्॥ 106॥

अनुवाद—नित्य-कर्म में अनध्याय नहीं होता है, क्योंकि वह ब्रह्मयज्ञ माना गया है, अग्निहोत्रादि, में अनध्याय में भी हवन किया गया 'वषट्कार' पुण्य (ही होता है)।

'चन्द्रिका'—पूर्व श्लोक में कही गई बात की पुष्टि करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि—नित्य कर्म में अनाध्याय नहीं होता है, जिस प्रकार व्यक्ति श्वास प्रश्वास लेता है, उनमें अवरोध नहीं करता है। ठीक उसी प्रकार दैनिक संध्या हवनादि को भी नित्य करना चाहिए। हमारे ऋषि मुनियों ने इसी नित्यकर्म को ब्रह्म-यज्ञ की संज्ञा प्रदान की है तथा इस ब्रह्मरूपी आहुति में आहुत किया गया अध्ययन रूप अनध्याय का वषट्कार भी पुण्य स्वरूप ही होता है।

विशेष—1. स्वामी दयानन्द ने भी सत्यार्थप्रकाश में कहा है कि—जिस प्रकार झूठ बोलने से सदैव पाप तथा सत्य बोलने से पुण्य ही होता है। ठीक उसी प्रकार बुरे कार्यों में अनध्याय और अच्छे कामों में सदैव स्वाध्याय ही मानना चाहिए (तृतीय समुल्लास)।

2. अनध्यायः — न अध्यायः, इति (अध्याय, अध्ययनादि का अभाव)।

3. वषट् — किसी देवता को आहुति देते समय इसका उच्चारण किया जाता है। जैसे इन्द्राय वषट् — यह आहुति इन्द्र के लिए है।

मन्वर्थमुक्तावली—नैत्यक इति॥ पूर्वोक्तनैत्यकस्वाध्यायस्यायमनुवादः। नैत्यके जपयज्ञेऽनध्यायो नास्ति। यतः सततभवत्वात्। ब्रह्मसत्रं तन्मन्वादिभिः स्मृतम्। ब्रह्मैवाहुतिर्ब्रह्माहुतिर्हविस्तस्या हुतमनध्यायाध्ययनमध्ययनरूपमनध्यायवषट्कृतमपि पुण्यमेव भवति॥ 106॥

तत्पश्चात् स्वाध्याय के फल का कथन करते हैं—

यः स्वाध्यायमधीतेऽब्दं विधिना नियतः शुचिः।
तस्य नित्यं क्षरत्येष पयो दधि घृतं मधु॥ 107॥

अन्वय—नियतः यः (पुरुषः) शुचिः अब्दम् विधिना स्वाध्यायम् अधीते, तस्य एषः नित्यम् पयः, दधि, घृतम्, मधु क्षरति॥ 107॥

अनुवाद—जितेन्द्रिय जो (व्यक्ति) पवित्रतापूर्वक एक वर्ष पर्यन्त विधिपूर्वक वेदाध्ययन एवं जप-यज्ञ का अनुष्ठान करता है, उसके लिए यह (स्वाध्याय) सदा ही दूध, दही, घी और मधु की वर्षा करता है।

'चन्द्रिका'—यदि व्यक्ति अपनी इन्द्रियों को वश में करके, पवित्रतापूर्वक एक वर्ष पर्यन्त शास्त्रोक्त विधि से वेदों का अध्ययन, गायत्री का जप, यज्ञ, उपासना, इष्टदेव का चिन्तनध्यानपूर्वक करता है तो ऐसा करने से उसे दूध रूपी धर्म, दही रूपी अर्थ, घी रूपी काम तथा मधु रूप मोक्ष की प्राप्ति होती है।

विशेष—1. दूध, दही, घी और मधु क्रमशः धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के अभिव्यञ्जक हैं। मेधातिथि ने इसी अर्थ को स्वीकार किया है।

2. अब्दम् — शब्द यद्यपि 'एक वर्ष' अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, किन्तु यहाँ इसका अपो ददाति, इति अब्दः यह यौगिक अर्थ भी किया जा सकता है। अर्थात् जलवर्षक मेघ स्वरूप स्वाध्याय। 'कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे' सूत्र से द्वितीया विभक्ति का प्रयोग हुआ है। इस विषय में आचार्य याज्ञवल्क्य का कथन है—

मधुना पयसा चैव स देवां स्तर्पयेद् द्विजः।
पितृन् मधु घृताभ्यां च ऋचोऽधीते हि योऽन्वहम्॥ 1/41॥

3. स्वाध्याय से अभिप्राय — वेदों का अध्ययन, गायत्री मन्त्र का जप, यज्ञ एवं उपासना आदि करने से है।

4. क्षरति — √ क्षर् + लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन (बह जाता है)।

मन्वर्थमुक्तावली—यः स्वाध्यायमिति॥ अब्दमित्यत्यन्तसंयोगे द्वितीया। यो वर्षमप्येकं स्वाध्यायमहरहर्विहिताङ्गयुक्तं नियतेन्द्रियः प्रयतो जपति तस्यैव स्वाध्यायो जपयज्ञः क्षीरादीनि क्षरति क्षीरादिभिर्देवान्पितृंश्च प्रीणाति। ते च प्रीताः सर्वकामैर्जपयज्ञकारिणस्तर्पयन्तीत्यर्थः। अतएव याज्ञवल्क्यः—'मधुना पयसा चैव स देवांस्तर्पयेद्द्विजः। पितॄन्मधुघृताभ्यां च ऋचोऽधीते हि योऽन्वहम्॥' इत्युपक्रम्य चतुर्णामेव वेदानां पुराणानां जपस्य च देवपितृतृप्तिफल-मुक्त्वा शेषे 'ते तृप्तास्तर्पयन्त्येनं सर्वकामफलैः शुभैः' इत्युक्तवान्॥ 107॥

इसके बाद गुरु के प्रति शिष्य के कर्तव्यों का उल्लेख करते हुए कहते हैं—

अग्नीन्धनं भैक्षचर्यामधःशय्यां गुरोर्हितम्।
आ समावर्तनात्कुर्यात्कृतोपनयनो द्विजः॥ 108॥

अन्वय—कृतोपनयनः द्विजः आसमावर्तनात्, अग्नि-इन्धनम्, भैक्षचर्याम्, अधःशय्याम्, गुरोः हितम् कुर्यात्॥ 108॥

अनुवाद—उपनयन संस्कार किया गया द्विज (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) समावर्तन संस्कार पर्यन्त, यज्ञ के लिए समिधाओं का लाना, भिक्षाटन, भूमि पर शयन तथा गुरु के हित (सम्बन्धी कार्य) करे।

'चन्द्रिका'—ब्राह्मण, क्षत्रिय अथवा वैश्य इन द्विज वर्ण के व्यक्तियों को, उपनयन संस्कार के बाद, ब्रह्मचर्याश्रम की समाप्ति पर सम्पन्न किए जाने वाले समावर्तन संस्कार पर्यन्त, प्रतिदिन जंगल में जाकर यज्ञ के लिए समिधाएँ लाना, यज्ञ करना, भिक्षा माँगकर

गुरु की सेवा में निवेदन करना, भूमि पर सोना तथा ऐसे सभी कार्य करना जिनमें उसके गुरु का हित निहित हो, अर्थात् उसे गुरु की इच्छा एवं मन के अनुकूल ही सभी कार्य करने चाहिएं।

विशेष—1. कृतोपनयनः — कृतः उपनयनसंस्कारः यस्य सः (बहुव्रीहि)।

2. समावर्तन संस्कार विद्या-समाप्ति पर गृहस्थाश्रम में लौटने से पहले गुरु द्वारा किया जाता है।

3. ब्रह्मचारी के लिए गुरु के आश्रम में शय्या पर शयन का निषेध किया गया है।

4. गुरु के हितकारी कार्यों में उनके लिए जल आदि लाना, आज्ञापालन करना कुटिया की साफ-सफाई तथा उनकी चरण सेवा करना आदि शामिल हैं।

मन्वर्थमुक्तावली—अग्नीन्धनमिति॥ सायंप्रातः समिद्धोमं भिक्षासमूहाहरणमखट्वाशयनरूपामधःशय्यां नतु स्थण्डिलशायित्वमेव। गुरोरुदककुम्भाद्याहरणरूपं हितं कृतोपनयनो ब्रह्मचारी समावर्तनपर्यन्तं कुर्यात्॥ 108॥

पुनः किस प्रकार का शिष्य अध्यापन योग्य है, इसका कथन करते हैं—

आचार्यपुत्रः शुश्रूषुर्ज्ञानदो धार्मिकः शुचिः।
आप्तः शक्तोऽर्थदः साधुः स्वोऽध्याप्या दश धर्मतः॥ 109॥

अन्वय—आचार्यपुत्रः, शुश्रूषुः, ज्ञानदः, धार्मिकः, शुचिः, आप्तः, शक्तः, अर्थदः, साधुः, स्वः एते दश धर्मतः अध्याप्याः॥ 109॥

अनुवाद—गुरु का पुत्र, सेवा करने का इच्छुक, ज्ञानवान्, धर्मनिष्ठ, पवित्र, निश्छल, विद्याग्रहण करने में समर्थ, धन देने वाला, सज्जन, स्वजातीय ये दस धर्म के अनुसार पढ़ाने योग्य हैं।

'चन्द्रिका'—धर्मशास्त्रों के अनुसार अपने गुरु का पुत्र, सेवाभाव रखने वाला, किसी ज्ञान विशेष से परिचित, धर्म के मर्म से परिचित, पवित्र भाव रखने वाला, अत्यन्त घनिष्ठ, विद्या को ग्रहण करने तथा धारण करने में समर्थ, धन प्रदान करने में समर्थ, गुरु के हित का चिन्तन करने वाला, अपने परिवार या सम्बन्ध का व्यक्ति ये दस प्रकार के शिष्य ही विद्या प्रदान करने योग्य हैं अन्य नहीं।

विशेष—1. विद्या-दान की पात्रता निर्धारित की गई है।

2. आचार्यपुत्रः — आचार्यस्य पुत्रः (षष्ठी तत्पुरुष) पुम् नाम नरकात् त्रायते, इति पुत्रः।

3. धर्मतः — धर्म + तसिल् (धर्मानुसार)।

मन्वर्थमुक्तावली—आचार्यपुत्र इति॥ आचार्यपुत्रः, परिचारकः, ज्ञानान्तरदाता, धर्मवित्, मृद्वार्यादिषु शुचिः, बान्धवः, ग्रहणधारणसमर्थः, धनदाता, हितेच्छुः, ज्ञातिः, दशैते धर्मेणाध्याप्याः॥ 109॥

तत्पश्चात् उपदेश की स्थितियों का उल्लेख करते हैं—

नापृष्टः कस्यचिद्ब्रूयान्न चान्यायेन पृच्छतः।
जानन्नपि हि मेधावी जडवल्लोक आचरेत्॥ 110॥

अन्वय—मेधावी (जनः) लोके अपृष्टः कस्यचित् न ब्रूयात् च अन्यायेन पृच्छतः, जानन् अपि हि जडवत् आचरेत्॥ 110॥

अनुवाद—बुद्धिमान् (व्यक्ति) को संसार में बिना पूछे किसी से कुछ नहीं कहना चाहिए और अन्यायपूर्वक पूछे जाने पर, जानते हुए भी निश्चय ही मूर्ख के समान आचरण करना चाहिए।

'चन्द्रिका'—विद्वान् व्यक्ति को कभी भी इस संसार में किसी के द्वारा पूछे जाने पर ही उसके प्रश्नों का उत्तर देना चाहिए। साथ ही यदि कोई व्यक्ति विनम्रतापूर्वक शास्त्रोक्त विधि से प्रश्न नहीं पूछता है तो भी उसके प्रश्नों का उत्तर नहीं देना चाहिए, अपितु उस विषय में जानते हुए भी इस प्रकार ही प्रदर्शित करना चाहिए, कि वह उस विषय में कुछ नहीं जानता है, अज्ञानी है, मूर्ख है।

विशेष—1. यदि कोई व्यक्ति बिना पूछे ही किसी के प्रश्नों का उत्तर देता है तो इससे उसके अहंकार आत्म प्रदर्शन अथवा अव्यावहारिक होने की ही पुष्टि होती है।

2. अन्यायेन — न न्यायेन इति (नञ् समास) से अभिप्राय शास्त्रोक्त न्यायोचित विधि (विनम्रतापूर्वक) के विपरीत भाव से है। कुल्लूक भट्ट का इस विषय में मत है—**"भक्तिश्रद्धादिप्रश्नधर्मोल्लंघनम् न्यायः।"**

3. अपृष्टः — न पृष्टः, इति (नञ् समास) √ प्रच्छ् + क्त - पृष्टः।

4. जानन् — ज्ञा + शतृ (जानता हुआ)।

5. आचरेत् — आ + √ चर् + विधिलिङ्ग लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन (आचरण करना चाहिए)।

मन्वर्थमुक्तावली—नापृष्ट इति॥ यदन्येनाल्पाक्षरं विस्वरं चाधीतं तस्य तत्त्वं न वदेत्। शिष्यस्य त्वपृच्छतोऽपि वक्तव्यम्। भक्तिश्रद्धादिप्रश्नधर्मोल्लङ्घनमन्यायस्तेन पृच्छतो न ब्रूयात्। जानन्नपि हि प्राज्ञो लोके मूक इव व्यवहरेत्॥ 110॥

उक्तप्रतिषेधद्वयातिक्रमे दोषमाह—

प्रश्न पूछने के सम्बन्ध में शास्त्रोक्त विधि का पालन न करने पर फल का कथन करते हैं—

अधर्मेण च यः प्राह यश्चाधर्मेण पृच्छति।
तयोरन्यतरः प्रैति विद्वेषं वाधिगच्छति॥ 111॥

अन्वय—यः अधर्मेण पृच्छति च यः अधर्मेण प्राह च तयोः अन्यतरः प्रैति वा विद्वेषम् अधिगच्छति॥ 111॥

अनुवाद—जो अधर्मपूर्वक पूछता है और जो अधर्मपूर्वक कहता है। उन दोनों में से एक मृत्यु अथवा विद्वेष को प्राप्त करता है।

'चन्द्रिका'—अध्ययन करने एवं प्रश्न पूछने के नियमों का तथा अध्यापन करने के विधान का शास्त्रों में विस्तार से कथन किया गया है। जो व्यक्ति शास्त्रीय विधान से विपरीत शैली द्वारा गुरु से प्रति प्रश्न पूछता है अथवा जो गुरु शास्त्र के विपरीत विधि से पढ़ता है। उन दोनों का शुभ परिणाम नहीं होता, क्योंकि या तो उनमें से एक की मृत्यु हो जाती है अथवा वे दोनों एक-दूसरे से द्वेष करने लगते हैं।

विशेष—1. शास्त्र के विपरीत विधि से अध्ययन और अध्यापन दोनों का ही निषेध किया है।

2. अधर्मेण — न धर्मेण इति (नञ् समास) अधर्मपूर्वक, शास्त्रोक्त विधि के विपरीत।

3. अधि + √ गम् + लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन (प्राप्त होता है)।

4. यहाँ मृत्यु से अभिप्राय निन्दा से भी लिया जा सकता है और लोकनिन्दा मृत्यु के समान ही होती है।

मन्वर्थमुक्तावली—अधर्मेणेति॥ अधर्मेण पृष्टोऽपि यो यस्य वदति यश्चान्यायेन यं पृच्छति तयोरन्यतरो व्यतिक्रमकारी म्रियते, विद्वेषं वा तेन सह गच्छति॥ 111॥

तत्पश्चात् उपदिष्ट विद्या की निरर्थकता का प्रतिपादन करते हैं—

धर्मार्थौ यत्र न स्यातां शुश्रूषा वापि तद्विधा।
तत्र विद्या न वक्तव्या शुभं बीजमिवोषरे॥ 112॥

अन्वय—यत्र धर्म-अर्थौ न स्याताम् वा तत् विधा शुश्रूषा अपि (न) तत्र उषरे शुभम् बीजम् इव विद्या न वप्तव्या॥ 112॥

अनुवाद—जहाँ धर्म और अर्थ न हो अथवा उस प्रकार की (समर्पित) सेवा भी (न हो) वहाँ बंजर भूमि में (बोए) बीज के समान विद्या का वपन (उपदेश) नहीं करना चाहिए।

'चन्द्रिका'—जिस शिष्य को हम विद्या देने जा रहे हैं, उसमें यदि धर्म के प्रति आस्था के साथ-साथ धन नहीं है तो उसे विद्या प्रदान नहीं करनी चाहिए। इसके अतिरिक्त इन दोनों के अभाव में उसमें समर्पित भाव से सेवा करने की योग्यता हो तो भी उसे विद्या का उपदेश प्रदान किया जा सकता है, किन्तु इन तीनों के अभाव में यदि कोई व्यक्ति शिष्य को विद्या प्रदान करता है तो वह विद्या बंजर भूमि में उत्तम बीज बोने के समान निष्फल हो जाती है।

विशेष—1. कुपात्र में विद्या प्रदान करने की उपमा बंजर भूमि में बीज बोने से दी गई है। अतः उपमालंकार। लक्षण—"प्रस्फुटं सुन्दरं साम्यमुपमेत्यभिधीयते।"

2. जिस प्रकार बंजरभूमि में उत्तम गुणयुक्त बीज भी फल प्रदान करने वाला नहीं होता, ठीक उसी प्रकार धर्म-अर्थ अथवा सेवा रहित शिष्य को प्रदान की गई विद्या भी निरर्थक एवं निष्फल होती है।

3. वक्तव्या — √ वच् + तव्यत् + स्त्री. (कहनी चाहिए)।

4. जिस भूमि में बीज बोने पर नहीं उगता है, वह बंजर या ऊसर भूमि कहलाती है।

मन्वर्थमुक्तावली—धर्मार्थाविति॥ यस्मिन् शिष्येऽध्यापिते धर्मार्थौ न भवतः परिचर्या वाध्ययनानुरूपा तत्र विद्या नार्पणीया। सुष्ठु व्रीह्यादिबीजमिवोषरे। यत्र बीजमुप्तं न प्ररोहति स ऊषरः। न चार्थग्रहणे भृतकाध्यापकत्वमाशङ्कनीयम्, यद्येतावन्मह्यं दीयते तदैतावदध्यापयामीति नियमाभावात्॥ 112॥

कुपात्र को विद्या-प्रदान करने का कठोरतापूर्वक निषेध करते हैं—

विद्ययैव समं कामं मर्तव्यं ब्रह्मवादिना।
आपद्यपि हि घोरायां न त्वेनामिरिणे वपेत्॥ 113॥

अन्वय—ब्रह्मवादिना कामम् विद्यया समम् एव मर्तव्यम्, तु घोरायाम् आपदि अपि इरिणे एनाम् न वपेत्॥ 113॥

अनुवाद—ब्रह्मवादी भले ही विद्या के साथ ही मर जाए, किन्तु भयंकर आपत्ति में भी कुपात्र में वेद-विद्या का वपन न करे।

'चन्द्रिका'—वेद-विद्या के ज्ञाता व्यक्ति की भले ही उसकी विद्या के साथ ही मृत्यु क्यों न हो जाए, किन्तु उसे भयंकर आपत्ति के समय में भी, कष्टकारी दशा में भी कुपात्र को यह वेद-विद्या प्रदान नहीं करनी चाहिए।

विशेष—1. वेद विद्या कुपात्र में जाने पर अनिष्ट प्रदान करती है। अतः इसका ग्रन्थकार ने कठोरता से निषेध किया है।

2. समम् के योग में 'विद्यया' में 'सहयुक्तेऽप्रधाने' सूत्र से तृतीया विभक्ति का प्रयोग हुआ है।

3. मर्तव्यम् — √ मृ (मरणे) + तव्यत् (मर जाए)।

4. वपेत् — √ वप् + विधिलिंग लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन (वपन करना चाहिए)।

5. ईरिणे — √ ईर् (गतौ कम्पने) + इनन् + चतुर्थी विभक्ति, एकवचन (कुपात्र, बंजर)।

6. एनाम् — इस वेद-विद्या को।

7. छन्दोग्य ब्राह्मण में भी कहा है—विद्यया सार्धं म्रियते न विद्याभूषरे वपेत्॥

मन्वर्थमुक्तावली—विद्ययेति॥ विद्ययैव सह वेदाध्यापकेन वरं मर्तव्यं नतु सर्वथाध्याप-

नयोग्यशिष्याभावे चापात्रायैव तां प्रतिपादयेत्। तथा छान्दोग्यब्राह्मणम् 'विद्यया सार्धं म्रियेत न विद्यामूषरे वपेत्॥ 113॥' अस्यानुवादमाह—

इसी विषय का पुनः कथन करते हैं—

विद्या ब्राह्मणमेत्याह शेवधिष्टेऽस्मि रक्ष माम्।
असूयकाय मां मादास्तथा स्यां वीर्यवत्तमा॥ 114॥

अन्वय—(एकदा) विद्या ब्राह्मणम् एत्य आह, (अहम्) ते शेवधिः अस्मि, माम् रक्ष। माम् असूयकाय मा दाः तथा वीर्यवत्तमा स्याम्॥ 114॥

अनुवाद—(एकबार) विद्या ब्राह्मण के समीप आकर बोली—(मैं) तुम्हारी सम्पदा हूँ (इस कारण) मेरी रक्षा करो। मुझे असूया करने वाले व्यक्ति को प्रदान नहीं करना, जिससे मैं वीर्यशालिनी बन सकूँ।

'चन्द्रिका'—एक बार विद्या ने स्वयं शरीर धारण कर ब्राह्मण के पास आकर उससे अपनी रक्षा करने की प्रार्थना करते हुए कहा कि—मैं तुम्हारी सम्पत्ति हूँ, इसलिए तुम्हें मेरी रक्षा करनी चाहिए तथा कभी भी मुझे इस प्रकार के व्यक्ति को प्रदान नहीं करना चाहिए जो गुणों में भी दोष देखने वाला वेद-निन्दक हो। इस प्रकार करने से मैं प्रभावशालिनी बन सकूँगी।

विशेष—1. जब व्यक्ति दूसरे के गुणों में ईर्ष्या आदि किसी भी कारण से दोष-दर्शन करता है, उसे असूया करना कहते हैं।

2. यही बात छान्दोग्य ब्राह्मण में भी इस प्रकार कही गई है—

"विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम तवाहमस्मि त्वं मां पालयानर्हते मानिने नैव मादा गोपाय मां श्रेयसी तथाहमस्मि।"

3. एत्य — √ इण् (गतौ) + ल्यप् (आकर)।

मन्वर्थमुक्तावली—विद्या ब्राह्मणमिति॥ विद्याधिष्ठात्री देवता कंचिदध्यापकं ब्राह्मण-मागत्यैवमवदत्। तवाहं निधिरस्मि। मां रक्ष। असूयकादिदोषवते न मां वदेः। तथा सत्यतिशयेन वीर्यवती भूयासम्। तथा च छान्दोग्यब्राह्मणम्—'विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम तवाहमस्मि त्वं मां पालयानर्हते मानिने नैव मादा गोपाय मां श्रेयसी तथाहमस्मि' इति॥ 114॥

ब्राह्मण के प्रति विद्या के अग्रिम कथन का उल्लेख करते हैं—

यमेव तु शुचिं विद्यान्नियतब्रह्मचारिणम्।
तस्मै मां ब्रूहि विप्राय निधिपायाप्रमादिने॥ 115॥

अन्वय—तु यम् एव शुचिम् नियतेन्द्रियम्, ब्रह्मचारिणम् जानासि, तस्मै अप्रमादिने विप्राय निधिपाय माम् ब्रूहि॥ 115॥

अनुवाद—किन्तु जिसको भी पवित्र, संयमी, ब्रह्मचर्य का पालन करने वाला समझो, उसी आलस्य रहित ब्राह्मण को ज्ञान सम्पदा की रक्षा के लिए मेरा उपदेश कर देना।

'चन्द्रिका'—कुपात्र को उपदेश का निषेध करने के बाद विद्या ने ब्राह्मण से कहा कि—तुम जिस भी द्विज वर्ण के शिष्य को पवित्र आचरण वाला, अपनी इन्द्रियों को वश में रखने वाला तथा ब्रह्मचर्य का पालन करने वाला मानो आलस्य रहित उसे मेरी रक्षा के लिए मेरा उपदेश कर देना। कहने का तात्पर्य यह है कि पवित्र, जितेन्द्रिय, ब्रह्मचारी, आलस्य रहित शिष्य ही विद्या के अध्ययन का अधिकारी है।

विशेष—1. विद्या प्राप्ति की योग्यता का कथन किया गया है।

2. निधिपाय — निधिम् पाति, इति, निधिप तस्मै (निधि-खजाने की रक्षा करने वाले के लिए)।

3. विद्या को निधि बताया गया है।

4. अप्रमादिने — न प्रमादी इति (नञ् समास) तस्मै (आलस्य रहित के लिए)।

मन्वर्थमुक्तावली—यमिति॥ यमेव पुनः शिष्यं शुचिं नियतेन्द्रियं ब्रह्मचारिणं जानासि तस्मै विद्यारूपनिधिरक्षकाय प्रमादरहिताय मां वद॥ 115॥

वैदिक-ज्ञान की चोरी का निषेध करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं—

ब्रह्म यस्त्वननुज्ञातमधीयानादवाप्नुयात्।
स ब्रह्मस्तेयसंयुक्तो नरकं प्रतिपद्यते॥ 116॥

अन्वय—तु यः अननुज्ञातम् अधीयानात् ब्रह्म अवाप्नुयात्, ब्रह्मस्तेयसंयुक्तः सः नरकम् प्रतिपद्यते॥ 116॥

अनुवाद—किन्तु जो (व्यक्ति गुरु की) अनुमति के बिना दूसरे को पढ़ाने से ब्रह्मज्ञान प्राप्त कर लेता है। वेद की चोरी से लिप्त होकर वह नरक को प्राप्त करता है।

'चन्द्रिका'—किन्तु यदि कोई व्यक्ति अपने गुरु की पूर्व अनुमति प्राप्त किए बिना स्वयं अभ्यास करके अथवा अन्य शिष्य को पढ़ाते हुए सुनकर वेद के ज्ञान को प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार के ज्ञान को प्रशंसनीय नहीं माना गया है। अतः इसे ज्ञान की चोरी कहा गया है। इसलिए इस प्रकार का व्यक्ति वेद-ज्ञान की चोरी में लिप्त माना जाएगा और उसे इस अपराध के कारण नरक का गामी होना होगा।

विशेष—1. वेद-ज्ञान की प्राप्ति में गुरु की पूर्वानुमति की अनिवार्यता प्रदर्शित की है।

2. वेद-ज्ञान की चोरी का दण्ड नरक की प्राप्ति माना गया है। अतः व्यक्ति को गुरु की आज्ञा तथा सहमति के बाद ही वेद-ज्ञान प्राप्त करना चाहिए।

3. अननुज्ञातः — न अनुज्ञातः, इति (नञ् समास) अनु + √ ज्ञा + क्त (आज्ञा प्राप्त किए बिना)।

4. संयुक्तः — सम् + √ युज् + क्त (लिप्त हुआ, जुड़ा हुआ)।

5. प्रतिपद्यते — प्रति + √ पद् (गतौ) + लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन आत्मने (प्राप्त करता है)।

मन्वर्थमुक्तावली—ब्रह्मेति॥ यः पुनरभ्यासार्थमधीयानादन्यं वा कंचिदध्यापयतस्तदनुमतिरहितं वेदं गृह्णति स वेदस्तेययुक्तो नरकं गच्छति तस्मादेतन्न कर्तव्यम्॥ 116॥

तत्पश्चात् गुरु को सर्वप्रथम प्रणाम का निर्देश करते हैं—

लौकिकं वैदिकं वापि तथाध्यात्मिकमेव च।
आददीत यतो ज्ञानं तं पूर्वमभिवादयेत्॥ 117॥

अन्वय—यतः लौकिकम् तथा वैदिकम् वा आध्यात्मिकम् ज्ञानम् च आददीत, तम् पूर्वम् एव अभिवादयेत्॥ 117॥

अनुवाद—जिससे लौकिक, वैदिक अथवा आध्यात्मिक ज्ञान को भी प्राप्त करे उसको सबसे पहले ही अभिवादन करना चाहिए।

'चन्द्रिका'—व्यक्ति जिस आचार्य से अर्थशास्त्र, राजनीति विज्ञान, शस्त्र-विद्या, लौकिक ज्ञान अथवा अग्निहोत्र आदि वैदिक वाङ्मय का ज्ञान या फिर आत्मा एवं परमात्मा विषयक मोक्ष प्रदान करने वाला आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त करे। ऐसे आचार्य को सभी अभिवादन के योग्य अन्य विद्वानों के बीच में भी सर्वप्रथम प्रणाम करना चाहिए।

विशेष—1. ज्ञान प्रदान करने वाले आचार्य का महत्त्व प्रतिपादित किया गया है।

2. वैदिकम् — वेद + ठक् (वेदेषु विहितम्) वेद विषयक।

3. लौकिकम् — लोक + ठण् (लोके विदितम्) सांसारिक, दैनिक जीवन से सम्बन्धित।

4. आध्यात्मिक — अधि + आत्मन् + ठक् (आत्मा विषयक)।

5. आददीत — आ + √ दा + विधिलिंग लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन, आत्मनेपदी (प्राप्त करे)।

6. अभिवादयेत् — अभि + √ वद् + विधिलिंग लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन (अभिवादन करे)।

7. तीनों गुरुओं में से पहले की अपेक्षा दूसरे को, दूसरे की अपेक्षा तीसरे को वन्दनीय मानना चाहिए।

मन्वर्थमुक्तावली—लौकिकमिति॥ लौकिकमर्थशास्त्रादिज्ञानं, वैदिकं वेदार्थज्ञानं, आध्यात्मिकं ब्रह्मज्ञानं, यस्मात्तु गृह्णति तं बहुमान्यमध्ये स्थितं प्रथममभिवादयेत्। लौकिकादिज्ञानदातॄणामेव त्रयाणां समवाये यथोत्तरं मान्यत्वम्॥ 117॥

पुनः आचारहीन ब्राह्मण की निन्दा करते हुए कहते हैं—

सावित्रीमात्रसारोऽपि वरं विप्रः सुयन्त्रितः।
नायन्त्रितस्त्रिवेदोऽपि सर्वाशी सर्वविक्रयी ॥ 118 ॥

अन्वय—सावित्रीमात्रसारः सुयन्त्रितः विप्रः अपि वरम्, अयन्त्रितः सर्वाशी, सर्वविक्रयी त्रिवेदः अपि वरम् न ॥ 118 ॥

अनुवाद—एकमात्र सावित्री के बल से युक्त जितेन्द्रिय ब्राह्मण भी श्रेष्ठ है, किन्तु इन्द्रियों को नियन्त्रण में न रखने वाला, सभी कुछ खाने और सभी कुछ बेचने वाला तीनों वेदों का ज्ञात (होने पर) भी (श्रेष्ठ) नहीं है।

'चन्द्रिका'—एकमात्र गायत्री की उपासना द्वारा प्राप्त आध्यात्मिक शक्ति से युक्त अपनी इन्द्रियों को वश में रखने वाला, शास्त्र के अनुकूल आचरण करने वाला सामान्य ब्राह्मण भी श्रेष्ठ है, किन्तु अपनी इन्द्रियों को वश में न रखने वाला, कुछ भी भक्ष्य अथवा अभक्ष्य पदार्थों का भक्षण करने वाला, निषिद्ध मांस आदि पदार्थों के विक्रय द्वारा अपनी आजीविका चलाने वाला ब्राह्मण तीनों वेदों-ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद का ज्ञाता होने पर भी श्रेष्ठ नहीं है।

विशेष—1. ब्राह्मण के लिए सावित्री की उपासना एवं जितेन्द्रिय होना प्रशंसनीय बताया है।

2. सदाचरण की महत्ता प्रतिपादित की गई है।

3. सुयन्त्रितः — सु + √ यन्त्र् (यत्रि संकोचने) + क्त (भलीप्रकार नियन्त्रित, शास्त्रों के अनुकूल आचरण करने वाला)।

4. त्रिवेदः — केवल ऋग्वेद, यजुर्वेद एवं सामवेद की गणना तीन वेदों में की गई है।

मन्वर्थमुक्तावली—सावित्रीति॥ सावित्रीमात्रवेत्तापि वरं सुयन्त्रितः शास्त्रनियमितो विप्रादिर्मान्यः नायन्त्रितो वेदत्रयवेत्तापि निषिद्धभोजनादिशीलः प्रतिषिद्धविक्रेता च। एतच्च प्रदर्शनमात्रम्। सुयन्त्रितशब्देन विधिनिषेधनिष्ठत्वस्य विवक्षितत्वात् ॥ 118 ॥

तत्पश्चात् गुरु की शय्या आदि पर बैठने का निषेध करते हैं—

शय्यासनेऽध्याचरिते श्रेयसा न समाविशेत्।
शय्यासनस्थश्चैवैनं प्रत्युत्थायाभिवादयेत् ॥ 119 ॥

अन्वय—श्रेयसा अध्याचरिते शय्यासने न समाविशेत् च शय्यासनस्थः प्रत्युत्थाय एव एनम् अभिवादयेत् ॥ 119 ॥

अनुवाद—(गुरु आदि) श्रेष्ठ (व्यक्ति) द्वारा उपयोग में लाए जाने वाली शय्या अथवा आसन पर नहीं बैठना चाहिए और (स्वयं भी) शय्या अथवा आसन पर स्थित होने पर उठकर ही इन्हें अभिवादन करना चाहिए।

'चन्द्रिका'—विद्या अथवा आयु की दृष्टि से श्रेष्ठ व्यक्ति की चारपाई अथवा

आसन आदि पर कभी भी किसी भी स्थिति में नहीं बैठना चाहिए और उनके आने पर यदि स्वयं भी शय्या अथवा आसन पर विराजमान हो तो उठकर ही उन श्रेष्ठजनों को प्रणाम करना चाहिए। बैठे-बैठे उन्हें अभिवादन नहीं करना चाहिए।

विशेष—1. श्रेष्ठ व्यक्ति यहाँ अपेक्षाकृत विस्तृत अर्थ में प्रयुक्त माना जा सकता है, विद्या, आयु, धन, प्रभाव सभी को इसमें समाहित किया जा सकता है।

2. समाविशेत् — सम् + आ + √ विश् + विधिलिंग लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन (बैठना चाहिए)।

3. प्रत्युत्थाय — प्रति + उत् + √ स्था + ल्यप् (अपने आसन से उठकर)।

4. शय्यासनम् — शय्या च आसनं च (द्वन्द्व समास) च का प्रयोग 'विकल्प' अर्थ की अभिव्यक्ति के लिए हुआ है।

मन्वर्थमुक्तावली—शय्येति॥ शय्या चासनं च शय्यासनं 'जातिरप्राणिनाम्' इति द्वन्द्वैकवद्भावः। तस्मिञ्छ्रेयसा विद्याद्यधिकेन गुरुणा चाध्याचरिते साधारण्येन स्वीकृते च तत्कालमपि नासीत। स्वयं च शय्यासनस्थो गुरावागते उत्थायाभिवादनं कुर्यात्॥ 119॥

अस्यार्थवादमाह—

वृद्ध व्यक्ति को अभिवादन के औचित्य का वैज्ञानिक दृष्टि से प्रतिपादन करते हैं—

ऊर्ध्वं प्राणा ह्युत्क्रामन्ति यूनः स्थविर आयति।
प्रत्युत्थानाभिवादाभ्यां पुनस्तान्प्रतिपद्यते॥ 120॥

अन्वय—हि स्थविरे आयति, यूनः प्राणाः ऊर्ध्वम् उत्क्रामन्ति, (अतः) प्रत्युत्थान-अभिवादाभ्याम् तान् पुनः प्रतिपद्यते॥ 120॥

अनुवाद—क्योंकि (ज्ञान अथवा आयु की दृष्टि से) वृद्ध के आने पर युवकों के प्राण ऊपर की ओर उठने लगते हैं। (अतः) उठने और अभिवादन दोनों के द्वारा यह उन्हें फिर से प्रस्थापित (स्थिर) करता है।

'चन्द्रिका'—जब कोई ज्ञान अथवा आयु की दृष्टि से वृद्ध व्यक्ति किसी युवक के सामने आता है, तो उसे देखकर युवक की प्राणशक्ति का ऊर्ध्व संचार प्रारम्भ हो जाता है। अतः उस युवक को अपनी प्राण शक्ति को सुस्थिर करने के लिए सर्वप्रथम अपने आसन से उठकर ही उन बुजुर्ग अथवा विद्वान् व्यक्ति को प्रणाम करना चाहिए। अपने आसन पर बैठे-बैठे उन्हें अभिवादन नहीं करना चाहिए।

विशेष—1. विद्या, पद, आयु आदि की दृष्टि से बड़ों को प्रणाम करते समय सदैव अपने आसन से उठना चाहिए।

2. कोई पूज्यपाद व्यक्ति यदि हमारी ओर आता है, तो थोड़ी उद्विग्नता, आदर, उत्सुकता, घबराहट आदि के कारण प्राणों की सामान्य गति प्रभावित होती ही है।

3. उत्क्रामन्ति — उत् + √ क्रम् (क्रमु, पादविक्षेपे) + लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन (ऊपर की ओर गति करने लगते हैं)।

4. स्वाभाविक मनः स्थिति का कथन किया गया है।

5. प्रतिपद्यते — प्रति + √ पद् (पदगतौ) + आत्मनेपद, लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन (प्राप्त कर लेता है)।

मन्वर्थमुक्तावली—ऊर्ध्वमिति॥ यस्माद्यूनोऽल्पवयसो वयोविद्यादिना स्थविरे आयति आगच्छति सति प्राणा ऊर्ध्वं उत्क्रामन्ति देहाद्बहिर्निर्गन्तुमिच्छन्ति तान्वृद्धस्य प्रत्युत्थानाभिवादाभ्यां पुनः सुस्थान्करोति। तस्माद्वृद्धस्य प्रत्युत्थायाभिवादनं कुर्यात्॥ 120॥

इतश्च फलमाह—

तत्पश्चात् अभिवादन के फल का कथन करते हैं—

अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः।
चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुर्विद्या यशो बलम्॥ 121॥

अन्वय—नित्यम् अभिवादनशीलस्य वृद्धोपसेविनः तस्य आयुः, विद्या, यशः, बलम् चत्वारि वर्धन्ते॥ 121॥

अनुवाद—नित्यप्रति अभिवादन करने के स्वभाव वाले (ज्ञान अथवा आयु) वृद्धों की सेवा करने वाले उस (व्यक्ति) की आयु, विद्या, यश और बल (ये) चार वृद्धि को प्राप्त होते हैं।

'चन्द्रिका'—जो व्यक्ति प्रतिदिन अपने से विद्या अथवा आयु आदि के दृष्टि से बढ़े हुए गुरुओं अथवा बुजुर्गों को विनम्रतापूर्वक अपने स्थान से उठकर अभिवादन करते हैं तथा उनकी हमेशा अनेक प्रकार से सेवा करते हैं। उनकी आयु, विद्या, यश और बल ये चारों वृद्धि को प्राप्त होते हैं। अर्थात् वृद्धों को अभिवादन करने वाला तथा समर्पित-भाव से उनकी सेवा करने वाला व्यक्ति दीर्घायु, विद्वान्, यशस्वी और बलवान् होता है।

विशेष—1. प्रस्तुत श्लोक के चतुर्थ चरण में विद्या के स्थान पर प्रज्ञा तथा धर्म पाठ भेद भी मिलता है। प्रज्ञा का अर्थ 'बुद्धि' किया जाएगा।

2. गुरुओं की सेवा तथा अभिवादन की महत्ता प्रतिपादित की है।

3. वृद्धोपसेविनः — वृद्ध + उप + सेविनः (वृद्धों के पास जाकर सेवा करने वाले के)।

4. अभिवादनशीलस्य — अभिवादनं एव शीलं यस्य सः, तस्य (अभिवादन ही है स्वभाव जिसका वह, उसके)।

5. धम्मपद में भी इन्हीं भावों की अभिव्यक्ति इस प्रकार हुई है—

अभिवादन सीलिस्स निच्चं बद्धापचायिनो।
चत्तारो धम्मा बड्ढन्ति आयु वण्णो सुखं बलम्॥

स्पष्ट है, यहाँ यश के स्थान पर सुख का कथन किया गया है।

मन्वर्थमुक्तावली—अभिवादनशीलस्येति॥ उत्थाय सर्वदा वृद्धाभिवादनशीलस्य वृद्धसेविनश्च आयुःप्रज्ञायशोबलानि चत्वारि सम्यक् प्रकर्षेण वर्धन्ते॥ 121॥

संप्रत्यभिवादनविधिमाह—

पुनः अभिवादन की विधि का उल्लेख करते हैं—

अभिवादात्परं विप्रो ज्यायांसमभिवादयन्।
असौ नामाहमस्मीति स्वं नाम परिकीर्तयेत्॥ 122॥

अन्वय—ज्यायांसम् अभिवादयन् विप्रः अभिवादात् परम् 'अहम् असौ नाम अस्मि' इति स्व नाम परिकीर्तयेत्॥ 122॥

अनुवाद—अपने से बड़े (पूज्य व्यक्ति) को अभिवादन करता हुआ ब्राह्मण अभिवादन के पश्चात् 'मैं इस नाम वाला हूँ', इस प्रकार से अपने नाम का उच्चारण करे।

'चन्द्रिका'—विद्या अथवा आयु आदि में बढ़े हुए अपने से बड़ों को जब व्यक्ति अभिवादन करे तो उसे चरणस्पर्श करते हुए 'देवदत्त' नाम वाला मैं आपको प्रणाम करता हूँ। इस प्रकार अपने नाम का कथन करते हुए प्रणाम करना चाहिए।

विशेष—1. यद्यपि यहाँ 'विप्र' शब्द का प्रयोग किया है जिसका अभिप्राय प्रायः ब्राह्मण से ही लिया गया है, किन्तु यहाँ इसका अभिप्राय 'द्विज वर्ण' से लेना चाहिए, क्योंकि अभिवादन की इसी विधि का शास्त्रों में उल्लेख किया गया है।

2. गोविन्दराज और मेधातिथि दोनों अपने नाम के उच्चारण को अभिवादन के साथ ही स्वीकार करते हैं।

3. आचार्य गौतम का भी इस सम्बन्ध में कथन है—

'स्व नाम प्रोच्याहमभिवादय इत्यभिवदेत्।'

4. सांख्यायन का भी मत है कि—

'असावहं भो इत्यात्मनो नामादिशेत्।'

5. परिकीर्तयेत् — परि + √ कृत् (संशब्दे) + विधिलिंग लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन (उच्चारण करे, कथन करे)।

6. अभिवादयन् — अभि + √ वद् + शतृ (अभिवादन करता हुआ)।

7. इस प्रकार अभिवादन की विधि में तीन बातें निहित हैं—(1) अपने स्थान से उठना (2) चरणस्पर्श करना तथा (3) अपने नाम का उच्चारण करते हुए—'अमुक नाम वाला मैं आपको प्रणाम करता हूँ।

मन्वर्थमुक्तावली—अभिवादात्परमिति॥ वृद्धमभिवादयन् विप्रादिरभिवादात्परं अभिवादय इति शब्दोच्चारणानन्तरममुकनामाहमस्मीति स्वं नाम परिकीर्तयेत्। अतो नामशब्दस्य विशेषपरत्वात्स्वनामविशेषोच्चारणानन्तरमभिवादनवाक्ये नामशब्दोऽपि प्रयोज्य इति मेधाति-

थिगोविन्दराजयोरभिधानप्रमाणम्। अतएव गोतमः–'स्वनाम प्रोच्याहमभिवादय इत्यभिवदेत्।' साङ्ख्यायनोऽपि 'असावहं भो इत्यात्मनो नामादिशेत्' इत्युक्तवान्। यदि च नामशब्दश्रवणात्तस्य प्रयोगस्तदा 'अकारश्चास्य नाम्नोऽन्ते' इत्यभिधानात्प्रत्यभिवादनवाक्ये नामशब्दोच्चारणं स्यान्न च तत्कस्यचित्संमतम्॥ 122॥

इसके पश्चात् अभिवादन की अन्य विधि का कथन करते हैं—

नामधेयस्य ये केचिदाभिवादं न जानते।
तान्प्राज्ञोऽहमिति ब्रूयात्स्त्रियः सर्वास्तथैव च॥ 123॥

अन्वय—ये केचित् नामधेयस्य अभिवादम् न जानते, तान् च सर्वाः स्त्रियः तथा एव 'अहम् इति' प्राज्ञः ब्रूयात्॥ 123॥

अनुवाद—जो कोई व्यक्ति नामोच्चारणपूर्वक अभिवादन को नहीं जानते हैं, उनको तथा सभी स्त्रियों को वैसे ही 'मैं हूँ' इस प्रकार बुद्धिमान् व्यक्ति बोले।

'चन्द्रिका'—जो लोग, चाहे वे किसी भी वर्ण के क्यों न हों, यदि नामोच्चारणपूर्वक अभिवादन की विधि से परिचित नहीं है अथवा शास्त्रसम्मत अभिवादन की इस शैली से उच्चारण में असमर्थ हैं, उनको अभिवादन करते समय तथा स्त्रियों को अभिवादन के समय नामादि से युक्त प्रणाम वाक्य बोलने के स्थान पर केवल यह 'मैं अभिवादन करता हूँ' इस प्रकार ही बुद्धिमान् व्यक्ति को कहना चाहिए।

विशेष—1. यहाँ अज्ञानी तथा स्त्रियों को एक श्रेणी में रखते हुए अभिवादन के प्रकार का सामान्य कथन किया गया है।

2. 'केचित्' शब्द के द्वारा अज्ञानी किसी भी वर्ण का क्यों न हो, ऐसी अभिव्यञ्जना हो रही है।

3. जानते — √ ज्ञा + लट् लकार, प्रथम पुरुष, बहुवचन आत्मने, (जानते हैं)।

मन्वर्थमुक्तावली—नामधेयस्येति॥ नामधेयस्य उच्चारितस्य सतो ये केचिदभिवाद्याः संस्कृतानभिज्ञतयाभिवादमभिवादार्थं न जानन्ति तान्प्रत्यभिवादनेऽप्यसमर्थत्वात्प्राज्ञ इत्यभिवाद्यशक्तिविज्ञोऽभिवादयिताभिवादयेऽहमित्येवं ब्रूयात्। स्त्रियः सर्वास्तथैव ब्रूयात्॥ 123॥

तत्पश्चात् अभिवादन की विधि में 'भो' शब्द के उच्चारण का विधान करते हैं।

भो:शब्दं कीर्तयेदन्ते स्वस्य नाम्नोऽभिवादने।
नाम्नां स्वरूपभावो हि भो भाव ऋषिभिः स्मृतः॥ 124॥

अन्वय—हि ऋषिभिः 'भो' भावः नाम्नाम् स्वरूपभावः स्मृतः (अतः) अभिवादने स्वस्य नाम्नः अन्ते 'भोः' शब्दम् कीर्तयेत्॥ 124॥

अनुवाद—क्योंकि ऋषियों द्वारा भो! शब्द को सभी नामों के स्वरूपवत् स्वीकार किया गया है, (इसलिए) अभिवादन में अपने नाम के अन्त में भो! शब्द का कथन भी करना चाहिए।

'चन्द्रिका'—शास्त्रोक्त अभिवादन की प्रक्रिया को पूर्ण करने के लिए अभिवादन करते समय अपने नाम का कथन करने के बाद भो! इस शब्द का नियोजन भी अन्त में इस प्रकार करना चाहिए — अभिवादये अहं शुभशर्मा भो:' शुभशर्मा नाम वाला मैं आपको अभिवादन करता हूँ। भो: इसके उच्चारण के हेतु का कथन करते हैं कि — क्योंकि हमारे प्राचीन ऋषियों मुनियों ने 'भो:' के अभिप्राय को नामों के स्वरूप का कथन करने वाला ही कहा है।

विशेष—1. भो! सम्बोधन के उच्चारण मात्र से ही वस्तुत: नाम का उल्लेख भी स्वत: हो जाता है, क्योंकि इसमें नाम का भाव पूर्व से ही निहित है।

2. अभिवादन के समय नामोच्चारण के अन्त में भो! सम्बोधन के उच्चारण का औचित्य प्रतिपादित किया गया है।

3. स्मृत: — √ स्मृ + क्त (कहा गया है, माना गया है)।

मन्वर्थमुक्तावली—भो:शब्दमिति॥ अभिवादने यन्नाम प्रयुक्तं तस्यान्ते भो:शब्दं कीर्तयेदभिवाद्यसंबोधनार्थम्। अतएवाह—नाम्नामिति॥ भो इत्यस्य यो भाव: सत्ता सोऽभिवाद्यनाम्नां स्वरूपभाव ऋषिभि: स्मृत:। तस्मादेवमभिवादनवाक्यम् 'अभिवादये शुभशर्माहमस्मि भो:' ॥ 124 ॥

पुन: अभिवादन के प्रत्युत्तर की विधि का उल्लेख करते हैं—

आयुष्मान्भव सौम्येति वाच्यो विप्रोऽभिवादने।
अकारश्चास्य नाम्नोऽन्ते वाच्य: पूर्वाक्षर: प्लुत: ॥ 125 ॥

अन्वय—अभिवादने विप्र: सौम्य! आयुष्मान् भव, इति, वाच्य: च अस्य नाम्न: अन्ते पूर्वाक्षर: अकार: प्लुत: वाच्य: ॥ 125 ॥

अनुवाद—अभिवादन करने पर ब्राह्मण को हे सौम्य! आयुष्मान् भव (दीर्घायु बनो), इस प्रकार कहना चाहिए और (यदि) इसके नाम के अन्त में अकार (हो तो उसे) प्लुत रूप में कहना चाहिए।

'चन्द्रिका'—शिष्य आदि द्वारा अभिवादन करने के बाद गुरु द्विज को अभिवादन करने वाले के प्रति हे सौम्य! दीर्घायु हो इस प्रकार आशीर्वादात्मक उत्तर देना चाहिए। साथ ही यदि नमस्कार करने वाले व्यक्ति के नाम का अन्तिम अक्षर अकार हो तो उसे प्लुत रूप में उच्चारण करना चाहिए। जैसे—देवदत्त इस नाम के अन्त में अन्तिम तकार में अकार की स्थिति है। अत: इसे प्लुत रूप में इस प्रकार देवदत्त:3प्लुत उच्चारण करना चाहिए।

विशेष—1. 'प्लुत' उच्चारण तीन मात्राकाल वाला होता है। इसी कारण उसे तीन अंक से प्रदर्शित किया गया है। ऊकालोऽज्झस्व दीर्घप्लुत:।

2. यदि किसी नाम के अन्त में अकार न हो तो उसके अन्तिम व्यञ्जन से पूर्व के अकार को प्लुत उच्चारण करना चाहिए। जैसे देवशर्म३न्।

3. आचार्य पाणिनि ने प्लुत उच्चारण का विधान शूद्रवर्ण से भिन्न अर्थात् द्विज वर्ण के लिए ही किया है। प्रत्याभिवादेऽशूद्रे (8/2/83)।

4. किन्तु आचार्य कात्यायन ने प्लुत उच्चारण केवल ब्राह्मण वर्ण के लिए बताया है—'प्लुतो राजन्यः विशां वा।' साथ ही उन्होंने स्त्रियों के लिए भी इसका निषेध किया है—स्त्रियामपि निषेधः।

5. कुल्लूक भट्ट ने इस विषय में विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया है। (द्र. कुल्लूक टीका)

6. वाच्यः — √ वच् + कर्मणि + ण्यत् (कहना चाहिए) (कहा जाने योग्य)।

मन्वर्थमुक्तावली—आयुष्मानिति॥ अभिवादने कृते प्रत्यभिवादयित्रा अभिवादको विप्रादिः 'आयुष्मान्भव सौम्य' इति वाच्यः। अस्य चाभिवादकस्य यन्नाम तस्यान्ते योऽकारादिः स्वरो नाम्नामकारान्तत्वनियमाभावात्स प्लुतः कार्यः। स्वरापेक्षं चेदकारान्तत्वं व्यञ्जनान्तेऽपि नाम्नि संभवति। पूर्वं नामगतमक्षरं संश्लिष्टं यस्य स पूर्वाक्षरस्तेन नागन्तुरपकृष्य चाकारादिः स्वरः प्लुतः कार्यः। एतच्च 'वाक्यस्य टेः प्लुत उदात्तः' इत्यस्यानुवृत्तौ 'प्रत्यभिवादेऽशूद्रे' इति प्लुतं स्मरन्पाणिनिः स्फुटमुक्तवान्। व्याख्यातं च वृत्तिकृता वामनेन—'टेरिति किम्, व्यञ्जनान्तस्यैव टेः प्लुतो यथा स्यात्' इति। तस्मादीदृशं प्रत्यभिवादनवाक्यं 'आयुष्मान्भव सौम्य शुभशर्मन् एवं क्षत्रियस्य बलवर्मन्, एवं वैश्यस्य वसुभूते। 'प्लुतो राजन्यविशां वा' इति कात्यायनवचनात्क्षत्रियवैश्ययोः पक्षे प्लुतो न भवति। शूद्रस्य प्लुतो न कार्यः, 'अशूद्रे' इति पाणिनिवचनात्। 'स्त्रियामपि निषेधः' इति कात्यायनवचनात्स्त्रियामपि प्रत्यभिवादनवाक्ये न प्लुतः। गोविन्दराजस्तु ब्राह्मणस्य नाम्नि शर्मोपपदं नित्यं प्रागभिधाय प्रत्यभिवादनवाक्ये 'आयुष्मान् भव सौम्य भद्र' इति निरुपपदोदाहरणसोपपदोदाहरणानभिज्ञत्वमेव निजं ज्ञापयति। धरणीधरोऽपि आयुष्मान् भव सौम्य, इति संबुद्धिविभक्त्यन्तं मनुवचनं पश्यन्नप्यसंबुद्धिप्रथमैकवचनान्तममुकशर्मेत्युदाहरन्विचक्षणैरप्युपेक्षणीय एव॥ 125॥

इसके बाद प्रत्यभिवादन की अनिवार्यता का कथन करते हैं—

यो न वेत्त्यभिवादस्य विप्रः प्रत्यभिवादनम्।
नाभिवाद्यः स विदुषा यथा शूद्रस्तथैव सः॥ 126॥

अन्वय—यः विप्रः अभिवादस्य प्रत्यभिवादनम् न वेत्ति, सः विदुषा न अभिवाद्यः, यथा शूद्रः सः (अपि) तथा एव॥ 126॥

अनुवाद—जो ब्राह्मण अभिवादन के प्रत्युत्तर रूप अभिवादन को नहीं जानता है। वह विद्वान् (व्यक्ति) द्वारा अभिवादन के योग्य नहीं है, (क्योंकि) जिस प्रकार शूद्र (होता है) वह (भी) वैसा ही है।

'चन्द्रिका'—यदि कोई व्यक्ति ब्राह्मण वर्ण का होते हुए भी किसी व्यक्ति द्वारा अभिवादन के प्रत्युत्तर में अभिवादन करने की शास्त्रोक्त विधि से परिचित नहीं है अथवा

उस प्रकार का कथन करने में समर्थ नहीं है। बुद्धिमान् द्वारा ऐसे व्यक्ति को अभिवादन नहीं करना चाहिए, क्योंकि वह व्यक्ति शूद्र व्यक्ति के समान होने के कारण अभिवादन करने का अधिकारी ही नहीं है।

विशेष—1. अभिवादन करने के उत्तर में प्रत्यभिवादन की शैली से परिचय की अनिवार्यता प्रतिपादित की है।

2. प्रत्यभिवादन से अनभिज्ञ व्यक्ति को शूद्र के समान बताया है। अत: वह अभिवादन के योग्य ही नहीं है।

3. अभिवाद्य — अभि + √ वद् + ण्यत् (अभिवादन के योग्य)।

मन्वर्थमुक्तावली—यो न वेत्तीति॥ यो विप्रोऽभिवादनस्यानुरूपं प्रत्यभिवादनं न जानात्यसावभिवादनविदुषापि स्वनामोच्चारणाद्युक्तविधिना शूद्र इव नाभिवाद्यः। अभिवादयेऽहमितिशब्दोच्चारणमात्रं तु चरणग्रहणादिशून्यमनिषिद्धम्। प्रागुक्तत्वात्॥ 126॥

तत्पश्चात् विभिन्न वर्णों से कुशल-क्षेम पूछने की विधि का उल्लेख करते हैं—

ब्राह्मणं कुशलं पृच्छेत्क्षत्रबन्धुमनामयम्।
वैश्यं क्षेमं समागम्य शूद्रमारोग्यमेव च॥ 127॥

अन्वय—समागम्य ब्राह्मणम् कुशलम् पृच्छेत्, क्षत्रबन्धुम् अनामयम्, वैश्यम् क्षेमम् च शूद्रम् आरोग्यम् (पृच्छेत्)॥ 127॥

अनुवाद—मिलकर ब्राह्मण से कुशलता पूछे, क्षत्रिय से आरोग्य, वैश्य से कल्याण और शूद्र से स्वास्थ्य के विषय में (पूछे)।

'चन्द्रिका'—व्यक्ति से मिलने पर नमस्कार आदि के पश्चात् व्यक्ति को ब्राह्मण वर्ण के व्यक्ति से उसकी कुशलता अर्थात् प्रसन्नता तथा वेद आदि के अध्ययन की निर्विघ्नता आदि के सम्बन्ध में प्रश्न करने चाहिएँ। क्षत्रिय वर्ण के व्यक्ति से उसके शारीरिक बल आदि की दृष्टि से उसके निरोगी होने के सम्बन्ध में प्रश्न करने चाहिएँ। इसके अतिरिक्त वैश्य वर्ण के व्यक्ति से उसके ऐश्वर्य, धन आदि की सुरक्षा आदि के सम्बन्ध में क्षेम (कल्याण) विषयक प्रश्न करने चाहियें तथा शूद्र वर्ण के व्यक्ति से मिलने पर उसके स्वास्थ्य के सम्बन्ध में पूछना चाहिए।

विशेष—1. विविध वर्णों के व्यक्तियों से उनके मुख्य कार्यों में निर्विघ्नता के सम्बन्ध में प्रश्नों को प्राथमिकता प्रदान की गई है।

2. आपस्तम्ब धर्मसूत्र में इस विषय में कथन है—

कुशलमवरवयसं समानवयसं वा विप्रं पृच्छेत्।
अनामयं क्षत्रियं क्षेमं वैश्यं आरोग्यं शूद्रम्॥

3. प्राप्त की सुरक्षा 'क्षेम' कहलाता है। क्षेम — √ क्षि (निवासे) + मन् (कल्याण)।

मन्वर्थमुक्तावली—ब्राह्मणमिति॥ समागम्य समागमे कृते अभिवादकमवरवयस्कं

समानवयस्कमनभिवादकमपि ब्राह्मणं कुशलं, क्षत्रियमनामयं, वैश्यं क्षेमं, शूद्रमारोग्यं पृच्छेत्। अतएवापस्तम्बः—'कुशलमवरवयसं समानवयसं वा विप्रं पृच्छेत्। अनामयं क्षत्रियं क्षेमं वैश्यं आरोग्यं शूद्रम्। अवरवयसमभिवादकं वयस्यमनभिवादकमपी'ति मन्वर्थमेवापस्तम्बः स्फुटयतिस्म। गोविन्दराजस्तु प्रकरणात्प्रत्यभिवादकस्यैव कुशलादिप्रश्नमाह। तन्न, अभिवादकेन सह समागमस्यानुप्राप्तत्वात्। समागम्येति निष्प्रयोजनानुवादप्रसङ्गात्। अतः कुशलक्षेमशब्दयोरनामयारोग्यपदयोश्च समानार्थत्वाच्छब्दविशेषोच्चारणमेव विवक्षितम्॥ 127॥

तदनन्तर उपनीत के नामोच्चारण का निषेध करते हैं—

अवाच्यो दीक्षितो नाम्ना यवीयानपि यो भवेत्।
भोभवत्पूर्वकं त्वेनमभिभाषेत धर्मवित्॥ 128॥

अन्वय—यः दीक्षितः यवीयान् अपि (सः) नाम्ना अवाच्यः भवेत्, तु धर्मवित् एनम् भो, भवत् पूर्वकम् अभिभाषेत्॥ 128॥

अनुवाद—जो उपनयन में दीक्षित हो, छोटा होते हुए भी (वह) नाम से पुकारने योग्य नहीं होता है, किन्तु धर्मज्ञ को इससे भो (अथवा) भवत् शब्दों का प्रयोग करके ही बात करनी चाहिए।

'चन्द्रिका'—जिसका उपनयन संस्कार किया गया है ऐसा दीक्षित व्यक्ति आयु में छोटा होने पर भी नाम लेकर पुकारे जाने योग्य नहीं होता। अतः इसे नाम लेकर नहीं पुकारना चाहिए। अपितु धर्मशास्त्र की व्यवस्था से परिचित व्यक्ति को इसके साथ भो अथवा भवत् शब्द का प्रयोग करके ही बात करनी चाहिए। जैसे—भो दीक्षित! इदम् कुरु। भवता, इदं कार्यम्।

विशेष—1. उपनयन संस्कार के महत्त्व की व्यञ्जना से प्रतीति हो रही है।

2. अवाच्यः — न वाच्यः, इति (नञ् समास) √ वच् + ण्यत् (न कहने योग्य)।

3. अभिभाषेत् — अभि + √ भाष् + विधिलिंग लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन (वार्तालाप करना चाहिए)।

मन्वर्थमुक्तावली—अवाच्य इति॥ प्रत्यभिवादनकाले अन्यदा च दीक्षणीयातःप्रभृत्यावभृथस्नानात्कनिष्ठोऽपि दीक्षितो नाम्ना न वाच्यः, किन्तु भोभवच्छब्दपूर्वकं दीक्षितादिशब्दैरुत्कर्षाभिधायिभिरेव धार्मिकोऽभिभाषते। भो दीक्षित, इदं कुरु, भवता यजमानेन इदं क्रियतामिति॥ 128॥

तत्पश्चात् परस्त्री के नामोच्चारण का निषेध करते हैं—

परपत्नी तु या स्त्री स्यादसंबन्धा च योनितः।
तां ब्रूयाद्भवतीत्येवं सुभगे भगिनीति च॥ 129॥

अन्वय—या स्त्री परपत्नी, योनितः असम्बन्धा स्यात्, ताम् तु भवति! सुभगे! भगिनी! इति एवम् ब्रूयात्॥ 129॥

अनुवाद—जो स्त्री दूसरे की पत्नी हो तथा जिसके साथ अपना योनि का कोई सम्बन्ध न हो, उसे तो भवति! सुभगे! भगिनी! इस प्रकार बोलना चाहिए।

'चन्द्रिका'—यदि कोई स्त्री अन्य व्यक्ति की पत्नी हो तथा जो अपनी बहन न हो। इस प्रकार की स्त्रियों के साथ बात करते समय व्यक्ति को हे सुभगे! हे आदरणीया! बहन जी! इस प्रकार के सम्बोधनों का प्रयोग करते हुए ही वार्तालाप करना चाहिए।

विशेष—1. परपत्नी का कथन करने के कारण कन्याओं के प्रति इस विधान का निषेध किया गया है।

2. सास की पुत्री आदि को योनि से सम्बद्ध माना जाता है। अतः यह आचरण उनके प्रति लागू नहीं होता है।

3. योनितः — योनि + तसिल् (योनि से)।

4. सुभगे! सौभाग्यवती!

मन्वर्थमुक्तावली—परपत्नी त्विति॥ या स्त्री परपत्नी भवति, असंबन्धा च योनित इति स्वस्रादिर्न भवति तामनुपयुक्तसंभाषणकाले भवति सुभगे भगिनीति वा वदेत्। परपत्नीग्रहणात्कन्यायां नैष विधिः। स्वसुः कन्यादेस्त्वायुष्मतीत्यादिपदैरभिभाषणम्॥ 129॥

पुनः सम्मान के आधार भूत सिद्धान्तों का कथन करते हैं—

मातुलांश्च पितृव्यांश्च श्वशुरानृत्विजो गुरून्।
असावहमिति ब्रूयात्प्रत्युत्थाय यवीयसः॥ 130॥

अन्वय—यवीयसः मातुलान् च पितृव्यान्, श्वसुरान्, ऋत्विजः च गुरून् प्रति अपि 'असौ अहम्' इति ब्रूयात्॥ 130॥

अनुवाद—छोटे मामा, चाचा, श्वसुर, ऋत्विज और गुरु के प्रति (भी) 'यह मैं हूँ' इस प्रकार कहना चाहिए।

'चन्द्रिका'—मामा, चाचा, श्वसुर, ऋत्विक् और ज्ञान में अधिक, तपस्या में बढ़े हुए गुरु अवस्था में छोटे होने पर भी यदि अपने घर में आएँ अथवा उनसे कहीं किसी स्थान पर मिलना हो तो उनके प्रति 'यह मैं हूँ' इस प्रकार सम्बोधन करने के बाद ही वार्तालाप करना चाहिए। अर्थात् उन्हें प्रणाम करने की आवश्यकता नहीं है।

विशेष—1. ज्ञान में बढ़े हुए अथवा तपस्या में अग्रणी को यहाँ गुरु शब्द द्वारा कहा गया है।

2. 'असौ' पद नाम निर्देश के लिए प्रयुक्त हुआ है।

3. यवीयसः — युवन् + ईयसुन् — यावदेश — छोटा।

मन्वर्थमुक्तावली—मातुलांश्चेति॥ मातुलादीनागतान्कनिष्ठानासनादुत्थाय असावहमिति वदेत् नाभिवादयेत्। असाविति स्वनामनिर्देशः। 'भूयिष्ठाः खलु गुरवः' इत्युपक्रम्य ज्ञानवृद्धतपोवृद्धयोरपि हारीतेन गुरुत्वकीर्तनात्तयोश्च कनिष्ठयोरपि संभवात्तद्विषयोऽयं गुरुशब्दः॥ 130॥

तत्पश्चात् मौसी, मासी आदि को गुरुपत्नी के समान बताते हुए उनका पूज्य-भाव अभिव्यक्त करते हैं—

मातृष्वसा मातुलानी श्वश्रूरथ पितृष्वसा।
संपूज्या गुरुपत्नीवत्समास्ता गुरुभार्यया ॥ 131 ॥

अन्वय—मातृष्वसा, मातुलानी, श्वश्रूः अथ पितृष्वसा, ताः गुरु-भार्यया समाः (अतः) गुरुपत्नीवत् सम्पूज्याः ॥ 131 ॥

अनुवाद—मौसी, मामी, सास और बुआ, वे सब गुरु-पत्नी के बराबर हैं। (अतः) गुरु की पत्नी के समान ही भलीप्रकार पूजनीय हैं।

'चन्द्रिका'—माँ की बहिन-मौसी, माता के भाई की पत्नी-मामी, पत्नी की माता-सास तथा पिता की बहन-बुआ, इन सबको गुरु-पत्नी के समान माना गया है। अतः इनका गुरु-पत्नी के समान ही ठीक प्रकार से सम्मान करना चाहिए। अतः प्रणाम करते समय गुरुपत्नी के लिए जिन शिष्टाचारों का विधान है। इनके लिए भी उन्हें करना चाहिए।

विशेष—1. मौसी, मामी, सास, बुआ इन सभी को गुरु-पत्नी के समान पूज्यभाव प्रदान किया है।

2. सम्पूज्याः — सम् + √ पूज् + ण्यत् + बहुवचन (भलीप्रकार पूजा के योग्य है)।

मन्वर्थमुक्तावली—मातृष्वसेति॥ मातृष्वस्रादयो गुरुपत्नीवत्प्रत्युत्थानाभिवादनासनदानादिभिः संपूज्याः। अभिवादनप्रकरणादभिवादनमेव संपूजनं विज्ञायत इति समास्ता इत्यवोचत्। गुरुभार्यासमानत्वात्प्रत्युथानादिकमपि कार्यमित्यर्थः ॥ 131 ॥

पुनः भ्रातृजाया (बड़े भाई की पत्नी) के लिए अभिवादन के विधान करते हैं।

भ्रातुर्भार्योपसंग्राह्या सवर्णाहन्यहन्यपि।
विप्रोष्य तूपसंग्राह्या ज्ञातिसंबन्धियोषितः ॥ 132 ॥

अन्वय—भ्रातुः सवर्णा भार्या अहनि-अहनि अपि उपसङ्ग्राह्या तु ज्ञातिसंबन्धियोषितः विप्रोष्य उपसङ्ग्राह्याः ॥ 132 ॥

अनुवाद—भाई की सवर्ण पत्नी प्रतिदिन ही प्रणाम के योग्य है, किन्तु अन्य जाति के सम्बन्धियों की पत्नियाँ (केवल) प्रवास से लौटने पर ही प्रणाम करने योग्य होती हैं।

'चन्द्रिका'—अपने बड़े भाई की सजातीय पत्नी बड़ी होने के कारण प्रतिदिन चरण छूकर अभिवादन करने योग्य होती हैं। अतः उन्हें प्रतिदिन चरणस्पर्श करके प्रणाम निवेदन करना चाहिए। इसके विपरीत चाचा, ताऊ, श्वसुर आदि की पत्नियाँ सास आदि प्रवास से लौटने के बाद ही एक बार प्रणाम करने योग्य होती हैं। अतः उन्हें प्रतिदिन प्रणाम नहीं करना चाहिए।

विशेष—1. 'अपि' का प्रयोग 'एवार्थ' की अभिव्यक्ति के लिए हुआ है।

2. ज्ञातयः से अभिप्राय पितृपक्ष के चाचा, ताऊ आदि से है तथा सम्बन्धी मातृपक्ष के श्वसुर आदि की पत्नी अर्थात् सास आदि से ग्रहण करना चाहिए।

3. उपसंग्राह्याः — उप + सम् + √ ग्रह् + ण्यत् (अभिवादन करने योग्य)।

4. विप्रोष्य — वि + प्रुष् + ल्यप् (प्रवास से लौटकर)।

5. अहनि-अहनि — प्रत्यहम् (प्रतिदिन)।

6. केवल बड़े भाई की सजातीय पत्नी को ही प्रतिदिन चरणस्पर्शपूर्वक अभिवादन का विधान किया गया है, अन्य जाति की पत्नियों को नहीं।

मन्वर्थमुक्तावली—भ्रातुर्भार्येति॥ भ्रातुः सजातीया भार्या ज्येष्ठा पूजाप्रकरणादुपसंग्राह्या पादयोरभिवाद्या। अहन्यहनि प्रत्यहमेव। अपिरेवार्थे। ज्ञातयः पितृपक्षाः पितृव्यादयः, संबन्धिनो मातृपक्षाः श्वशुरादयश्च, तेषां पत्न्यः पुनर्विप्रोष्य प्रवासात्प्रत्यागतेनैवाभिवाद्याः नतु प्रत्यहं नियमः॥ 132॥

इसके पश्चात् माता की श्रेष्ठता का प्रतिपादन करते हैं—

पितुर्भगिन्यां मातुश्च ज्यायस्यां च स्वसर्यपि।
मातृवद्वृत्तिमातिष्ठेन्माता ताभ्यो गरीयसी॥ 133॥

अन्वय—मातुः च पितुः भगिन्याम् च ज्यायस्याम् स्वसरि अपि मातृवत् वृत्तिम् आतिष्ठेत् (किन्तु) ताभ्यः माता गरीयसी॥ 133॥

अनुवाद—माता और पिता की बहन में और (अपनी) बड़ी बहन में भी माता के समान ही (शिष्ट) व्यवहार करना चाहिए, (किन्तु) इन सबसे माता ही श्रेष्ठ होती है।

'चन्द्रिका'—माता की बहन-मौसी तथा पिता की बहन-बुआ एवं अपनी स्वयं की बड़ी बहन इन सबके प्रति भी मातृवत् शिष्टाचार का पालन करना चाहिए, किन्तु इन सभी की तुलना में माता का दर्जा सबसे ऊँचा है। अतः वही श्रेष्ठ होती है।

विशेष—1. मातृ-महिमा प्रतिपादित की गई है।

2. वृत्तिम् — √ वृत् + क्तिन् (शिष्ट व्यवहार को)।

3. आतिष्ठेत् — आ + √ स्था + विधिलिंग लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन (पूर्णतया सम्पन्न करना चाहिए)।

मन्वर्थमुक्तावली—पितुर्भगिन्यामिति॥ पितुर्मातुश्च भगिन्यां ज्येष्ठायां चात्मनो भगिन्यां मातृवद्वृत्तिमातिष्ठेत्। माता पुनस्ताभ्यो गुरुतमा। ननु मातृष्वसा मातुलानीत्यनेनैव गुरुपत्नीवत्पूज्यत्वमुक्तं किमधिकमनेन बोध्यते। उच्यते। इदमेव माता ताभ्यो गरीयसीति। तेन पितृष्वस्रानुज्ञायां दत्तायां मात्रा च विरोधे मातुराज्ञा अनुष्ठेयेति। अथवा पूर्वं पितृष्वस्रादेर्मातृवत्पूज्यत्वमुक्तम्। अनेन तु स्नेहादिवृत्तिरप्यतिदिश्यत इत्यपुनरुक्तिः॥ 133॥

इसके पश्चात् मित्रता विषयक विधान करते हैं—

दशाब्दाख्यं पौरसख्यं पञ्चाब्दाख्यं कलाभृताम्।
त्र्यब्दपूर्वं श्रोत्रियाणां स्वल्पेनापि स्वयोनिषु॥ 134॥

अन्वय—पौरसख्यम् दशाब्दाख्यम्, कलाभृताम् पञ्चाब्दाख्यम् श्रोत्रियाणाम् त्र्यब्दपूर्वम्, स्वयोनिषु स्वल्पेन अपि (सख्यम् स्मृतम्) ॥ 134 ॥

अनुवाद—नगर के निवासियों के साथ दस वर्ष (के अन्तर) पर मित्रता कही गई है, कलाविदों में पाँच वर्ष (के अन्तर) पर, श्रोत्रियों के साथ तीन वर्ष (के अन्तर) पर (तथा) सपिण्डों के साथ थोड़ा-सा अन्तर होने पर ही (मित्रता मानी गई है)।

'चन्द्रिका'—एक नगर अथवा गाँव में रहने वाले व्यक्तियों की आयु में दस वर्ष का अन्तर होने पर भी परस्पर मित्रवत् व्यवहार किया जा सकता है। ठीक इसी प्रकार किसी भी कला से परिचित लोगों की आयु में पाँच वर्ष के अन्तर पर भी परस्पर मित्र के रूप में आचरण किया जा सकता है तथा वेदपाठी ब्राह्मण अथवा साथ-साथ वेद का अध्ययन करने वालों में तीन वर्ष के अन्तर पर और अपने सगे सम्बन्धियों के साथ अत्यल्प आयु के अन्तर पर ही मित्रवत् व्यवहार करना चाहिए, अन्यथा उनके साथ बड़ों के समान ही शिष्ट आचरण करना चाहिए।

विशेष—1. 'अपि' का प्रयोग 'एव' अर्थ की अभिव्यक्ति के लिए हुआ है।

2. दशाब्दाख्यम् — दश अब्दा आख्या यस्य तत् (दस वर्ष तक का)।

मन्वर्थमुक्तावली—दशाब्दाख्यमिति॥ दश अब्दा आख्या यस्य तद्दशाब्दाख्यं पौरसख्यम्। अयमर्थः। एकपुरवासिनां वक्ष्यमाणविद्यादिगुणरहितानामेकस्य दशभिरब्दैर्ज्येष्ठत्वे सत्यपि सख्यमाख्यायते। पुरग्रहणं प्रदर्शनार्थं तेनैकग्रामदिनिवासिनामपि स्यात्। गीतादिकलाभिज्ञानां पञ्चवर्षपर्यन्तं सख्यं, श्रोत्रियाणां त्र्यब्दपर्यन्तं, सपिण्डेष्वत्यन्ताल्पेनैव कालेन सह सख्यम्। अपिरेवार्थे। सर्वत्रोक्तकालादूर्ध्वं ज्येष्ठव्यवहारः ॥ 134 ॥

क्षत्रिय की अपेक्षा ब्राह्मण की श्रेष्ठता का प्रतिपादन करते हैं—

ब्राह्मणं दशवर्षं तु शतवर्षं तु भूमिपम्।
पितापुत्रौ विजानीयाद्ब्राह्मणस्तु तयोः पिता॥ 135॥

अन्वय—तु दशवर्षम् ब्राह्मणम्, शतवर्षम् भूमिपम् तु पितापुत्रौ विजानीयात् तु तयोः ब्राह्मणः पिता (अस्ति) ॥ 135 ॥

अनुवाद—किन्तु दस वर्ष के ब्राह्मण तथा सौ वर्ष के क्षत्रिय को पिता और पुत्र (के रूप में) समझना चाहिए, किन्तु उन दोनों में ब्राह्मण ही पिता (है)।

'चन्द्रिका'—यदि ब्राह्मण बालक दस वर्ष की आयु का हो तथा क्षत्रिय व्यक्ति सौ वर्ष की आयु वाला हो तो इन दोनों को आपस में पिता पुत्र के रूप में मानना चाहिए। यहाँ पिता ब्राह्मण ही होगा न कि क्षत्रिय। अतः अधिक आयु वाले क्षत्रिय के समक्ष कम आयु वाला ब्राह्मण ही पूज्य है।

विशेष—1. पिता-पुत्र का सम्बन्ध यहाँ पूज्य-पूजक भाव की अभिव्यक्ति के लिए स्थापित किया गया है।

2. पितापुत्रौ — पिता च पुत्रश्च (द्वन्द्व समास) पिता और पुत्र।

3. ब्राह्मण से अभिप्राय यहाँ केवल ब्राह्मण वर्ण में उत्पन्न नहीं लेना चाहिए, अपितु 'ब्रह्म' के स्वरूप को जो जानता है, 'तत्त्वविद्' से लिया जाना उचित प्रतीत होता है।

4. विजानीयात् — वि + √ ज्ञा + विधिलिंग लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन, परस्मैपदी (जानना चाहिए)।

5. भूमिपम् — भूमिम् पाति इति भूमिपः तम् (क्षत्रिय को)।

मन्वर्थमुक्तावली—ब्राह्मणमिति॥ दशवर्षं ब्राह्मणं शतवर्ष पुनः क्षत्रियं पितापुत्रौ जानीयात्। तयोर्मध्ये दशवर्षोऽपि ब्राह्मण एव क्षत्रियस्य शतवर्षस्यापि पिता। तस्मात्पितृवदसौ तस्य मान्यः॥ 135॥

तत्पश्चात् सम्मान के मुख्य आधारों का उल्लेख किया जाता है—

वित्तं बन्धुर्वयः कर्म विद्या भवति पञ्चमी।
एतानि मान्यस्थानानि गरीयो यद्यदुत्तरम्॥ 136॥

अन्वय—वित्तम्, बन्धुः, वयः, कर्म, पञ्चमी विद्या—एतानि मान्यस्थानानि (वर्तन्ते) यत् यत् उत्तरम् (तत् तत्) गरीयः॥ 136॥

अनुवाद—धन, बन्धु, आयु, कार्य और पाँचवी विद्या—ये सम्मान के योग्य स्थान (होते हैं) (इनमें) जो जो बाद में (परिगणित हैं, वह वह पूर्व की अपेक्षा श्रेष्ठ है।

'चन्द्रिका'—न्यायोचित ढंग से अर्जित किया गया धन, चाचा, भाई, कुटुम्ब, कुल आदि बन्धु, आयु, अच्छे-अच्छे काम और अन्त में पाँचवीं श्रेष्ठ विद्या ये सभी सम्मान के स्थान हैं। अर्थात् इनके कारण व्यक्ति समाज में सम्मान प्राप्त करता है, किन्तु इनमें से पहले-पहले की अपेक्षा आगे-आगे का अधिक श्रेष्ठ है। इस दृष्टि से धन की अपेक्षा व्यक्ति अपने बन्धुओं के प्रभावशाली होने से, उसकी अपेक्षा अधिक आयु वाला होने से, उसकी भी अपेक्षा अच्छे-अच्छे काम करने से तथा उसकी भी अपेक्षा श्रेष्ठ विद्या प्राप्त करने से, समाज में सम्माजनक स्थान प्राप्त करता है। अतः इन पाँच सम्मान के स्थानों में क्रमशः उत्तरोत्तर की श्रेष्ठता प्रतिपादित की गई है।

विशेष—1. विद्या को समाज में सम्मान प्राप्त करने का सर्वश्रेष्ठ साधन माना है।

2. यहाँ न्यायोचित ढंग से कमाया हुआ धन अभिप्रेत है। गलत कामों से कमाए धन से व्यक्ति का सम्मान नहीं बढ़ता है।

3. गरीयः — गुरु + ईयसुन् (गरादेश) (अपेक्षाकृत महत्त्वपूर्ण)।

4. मान्यस्थानानि — सम्मान के स्थान।

मन्वर्थमुक्तावली—वित्तमिति॥ वित्तं न्यायार्जित धनं, बन्धुः पितृव्यादिः, वयोऽधिकव-

यस्कता, कर्म श्रौतं स्मार्तं च, विद्या वेदार्थतत्त्वज्ञानं, एतानि पञ्च मान्यत्वकारणानि। एषां मध्ये यद्यदुत्तरं तत्तत्पूर्वस्माच्छ्रेष्टमिति बहुमान्यमेलके बलाबलमुक्तम् ॥ 136 ॥

सम्मान के आधार को पुनः कहते हैं—

पञ्चानां त्रिषु वर्णेषु भूयांसि गुणवन्ति च।
यत्र स्युः सोऽत्र मानार्हः शूद्रोऽपि दशमीं गतः ॥ 137 ॥

अन्वय—त्रिषु वर्णेषु च पञ्चानाम् यत्र भूयांसि गुणवन्ति स्युः, सः, च दशमीम् गतः शूद्रः अपि मानार्हः (भवति) ॥ 137 ॥

अनुवाद—तीन वर्णों एवं पाँच गुणों में से जिसमें अधिक गुण होवें, वह तथा दशमी (दसवें दशक) में प्राप्त हुआ शूद्र भी सम्मान के योग्य है।

'चन्द्रिका'—ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य इन तीन वर्णों में ऊपर बताए गए पाँच गुणों—धन, बन्धु, आयु, कर्म और विद्या, में से जिसके पास अधिकाधिक गुण हों, वह व्यक्ति सम्मान के योग्य होता है, किन्तु इस विषय में उल्लेखनीय है कि 90 वर्ष की आयु के बाद शूद्र को भी सम्मान के योग्य मानना चाहिए।

विशेष—1. दशमीम् — दसवीं अवस्था को प्राप्त, मनुष्य की आयु सामान्य रूप से सौ वर्ष मानी गई है। इस अवस्था के प्रत्येक 10 वर्ष (दशक) को यदि एक हिस्सा मान ले तों 90 से लेकर 100 वर्ष तक की आयु का काल दशमी अवस्था कहलाएगा। इस कारण शूद्र 90 वर्ष की आयु के बाद ही सम्मान के योग्य बताया गया है।

2. आचार्य मनु का वर्णव्यवस्था में शूद्र के प्रत्ति कठोरता का भाव परिलक्षित होता है।

3. गतः — √ गम् + क्त (प्राप्त)।

4. मान + अर्हः — √ अर्ह + अच् (सम्मान के योग्य)।

मन्वर्थमुक्तावली—पञ्चानामिति॥ त्रिषु वर्णेषु ब्राह्मणादिषु पञ्चानां वित्तादीनां मध्ये यत्र पुरुषे पूर्वमप्यनेकं भवति स एवोत्तरस्मादपि मान्यः। तेन वित्तबन्धुयुक्तो वयोधिकान्मान्यः। एवं वित्तादित्रययुक्तः कर्मवतो मान्यः। वित्तादिचतुष्टययुक्तो विदुषो मान्यः। गुणवन्ति चेति प्रकर्षवन्ति। तेन द्वयोरेव विद्यादिसत्त्वे प्रकर्षो मानहेतुः। शूद्रोऽपि दशमीमवस्थां नवत्यधिकां गतो द्विजन्मनामपि मानार्हः। शतवर्षाणां दशधा विभागे दशम्यवस्था नवत्यधिका भवति ॥ 137 ॥

अयमपि पूजाप्रकारः प्रसङ्गादुच्यते—

पुनः किस-किस के लिए मार्ग देना चाहिए, इसका कथन करते हैं—

चक्रिणो दशमीस्थस्य रोगिणो भारिणः स्त्रियाः।
स्नातकस्य च राज्ञश्च पन्था देयो वरस्य च ॥ 138 ॥

अन्वय—चक्रिणः, दशमीस्थस्य, रोगिणः, भारिणः, स्त्रियाः, स्नातकस्य च राज्ञः वरस्य च पन्था देयः ॥ 138 ॥

अनुवाद—रथ आदि पर बैठे हुए को, नब्बे वर्ष से अधिक आयु वाले को, रोगी को, भार ढोने वाले को, स्त्रियों को, स्नातक को और राजा को तथा वर को मार्ग दे देना चाहिए।

'चन्द्रिका'—जो व्यक्ति गाड़ी, घोड़ा, तांगा, रथ आदि पर सवार हो, उसे जिसकी आयु 90 वर्ष से अधिक हो ऐसे वृद्ध को, चाहे वह पुरुष हो या स्त्री, किसी रोग से ग्रस्त रोगी को, सिर पर भार लिए हुए व्यक्ति को सभी स्त्रियों को, विद्याध्ययन कर रहे स्नातक को, राजा को तथा विवाह के लिए जा रहे दुल्हे को मार्ग में जाते हुए एक तरफ हटकर मार्ग देना चाहिए।

विशेष—1. श्लोक में प्रयुक्त 'वर' का अभिप्राय 'गुणों में' श्रेष्ठ भी किया जा सकता है।

2. देयः — √ दा + यत् (अचो यत् सूत्र से) देने योग्य है।

3. त्याग रूप अर्थ अभिप्रेत होने के कारण यहाँ चतुर्थी के स्थान पर षष्ठी विभक्ति का प्रयोग हुआ है।

मन्वर्थमुक्तावली—चक्रिण इति॥ चक्रयुक्तरथादियानारूढस्य, नवत्यधिकवयसः, रोगार्तस्य, भारपीडितस्य, स्त्रियाः, अचिरनिवृत्तसमावर्तनस्य, देशाधिपस्य, विवाहाय प्रस्थितस्य पन्थास्त्यक्तव्यः। त्यागार्थत्वाच्च ददातेर्न चतुर्थी॥ 138॥

तत्पश्चात् राजा और स्नातक में स्नातक की श्रेष्ठता का प्रतिपादन करते हैं—

तेषां तु समवेतानां मान्यौ स्नातकपार्थिवौ।
राजस्नातकयोश्चैव स्नातको नृपमानभाक्॥ 139॥

अन्वय—तु तेषाम् समवेतानाम् स्नातकपार्थिवौ मान्यौ च राजस्नातकयोः स्नातकः एव नृपमानभाक्॥ 139॥

अनुवाद—किन्तु उन सभी के एक साथ एकत्र होने पर स्नातक और राजा सम्मान के योग्य हैं और राजा तथा स्नातक दोनों में स्नातक ही राजा के भी सम्मान का पात्र है।

'चन्द्रिका'—किन्तु चक्री, दशमीस्थ, रोगी, भारवाहक, स्नातक, राजा आदि सभी के एक साथ उपस्थित होने पर स्नातक और राजा दोनों ही सम्मान के योग्य होने से मार्ग प्राप्त करने के अधिकारी हैं। अतः इन दोनों को अन्यों की अपेक्षा पहले मार्ग प्रदान करना चाहिए, किन्तु यदि राजा और स्नातक दोनों में भी पौर्वापर्य स्थापित करना हो तो स्नातक ही राजा से पूर्व सम्मान प्राप्त करने योग्य होता है। अतः उसी को पहले मार्ग देना चाहिए।

विशेष—1. राजा की अपेक्षा स्नातक की महत्ता एवं पूज्यभाव प्रतिपादित किया गया है।

2. स्नातक पार्थिवौ — स्नातकश्च पार्थिवश्च तौ (द्वन्द्व समास) स्नातक और पार्थिव।

3. पार्थिवः — पृथिवी + अण् (पृथिवी पर शासन करने वाला, राजा)।

4. समवेतानाम् — सम् + अव + √ इण् (गतौ) क्त (षष्ठी, बहुवचन) एकत्र आए हुए।

5. स्नातकः — √ स्ना + क्त + क (ब्रह्मचर्य आश्रम में अध्ययन समाप्त कर स्नान आदि अनुष्ठान जिसके सम्पन्न हो चुके हैं तथा अभी गुरुकुल से लौटा है)।

मन्वर्थमुक्तावली—तेषामिति।। तेषामेकत्र मिलितानां देशाधिपस्नातकौ मान्यौ। राजस्नातकयोरपि स्नातक एव राजापेक्षया मान्यः। अतो राजशब्दोऽत्र पूर्वश्लोके न केवलजाति-वचनः। क्षत्रियजात्यपेक्षया 'ब्राह्मणं दशवर्षं तु' इत्यनेन ब्राह्मणमात्रस्य मान्यत्वाभिधानत्स्नात-कग्रहणवैयर्थ्यात्।। 139।।

आचार्यादिशब्दार्थमाह—

इसके पश्चात् आचार्य के लक्षण का उल्लेख करते हैं—

उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद्द्विजः।
सकल्पं सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते।। 140।।

अन्वय—तु यः द्विजः शिष्यम् उपनीय सकल्पम् च सरहस्यम् च वेदम् अध्यापयेत्, तम् आचार्यम् प्रचक्षते।। 140।।

अनुवाद—किन्तु जो द्विज शिष्य का उपनयन करके कल्प और रहस्ययुक्त वेद का अध्यापन करता है। उसे आचार्य कहा जाता है।

'चन्द्रिका'—जो ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य द्विज वर्ण का व्यक्ति अपने समीप आए हुए शिष्य को कर्मकाण्ड तथा ज्ञानकाण्ड के साथ-साथ वेदविद्या का अध्यापन करता है। उसी को आचार्य कहा जाता है।

विशेष—1. द्विज का अभिप्राय यहाँ तीनों वर्णों से लिया जाना उचित प्रतीत होता है, न कि केवल ब्राह्मण से। आचार्य मनु ने जहाँ भी उन्हें ब्राह्मण अभिप्रेत रहा है, वहाँ 'विप्र' शब्द का प्रयोग किया है।

2. ग्रन्थकार ने यहाँ शिष्य के उपनयन पर अत्यधिक बल दिया है, क्योंकि इसके अभाव में वह वेद विद्या का अधिकारी ही नहीं होता है।

3. 'कल्प' से यहाँ यज्ञविज्ञा से अभिप्राय लेना चाहिए। कुल्लूक भट्ट ने इसका यही अर्थ किया है—'कल्पो यज्ञविद्या'। कुछ विद्वान् इसका कल्पसूत्र अर्थ करते हैं।

4. मेधातिथि ने इसे सभी वेदांगों का वाचक माना है—कल्प शब्दः सर्वाङ्गप्रदर्शनार्थः।

5. सरहस्यम् — रहस्येन सहितम् (अव्ययीभाव समास) रहस्य सहित। रहस्य का अर्थ कुल्लूक भट्ट आदि कुछ विद्वानों ने उपनिषद् किया है, किन्तु सर्वज्ञनारायण—इसका अभिप्राय – वेद तथा वेदांगों की गुप्त व्याख्या से लेते हैं। उनके अनुसार – उपनिषद् का ग्रहण तो वेद पद के द्वारा ही हो जाता है।

6. अमरकोशकार आचार्य की परिभाषा इस प्रकार करते हैं—

"मन्त्रव्याख्याकृदाचार्यः" (द्वितीयकाण्ड, ब्राह्मण वर्ग)

7. आचार्य याज्ञवल्क्य के मत में आचार्य—**"उपनीय ददद् वेदमाचार्यः स उदाहृतः"** (याज्ञवल्क्यस्मृति — 1/34)।

8. उपनीय — उप + √ नी + ल्यप् (क्त्वा) उपनयन संस्कार करके।

9. प्रचक्षते — प्र + √ चक्ष् + लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन, आत्मनेपद (कहा जाता है)।

मन्वर्थमुक्तावली—उपनीयेति॥ तैः शब्दैरिह शास्त्रे प्रायो व्यवहारात्। यो ब्राह्मणः शिष्यमुपनीय कल्परहस्यसहितां वेदशाखां सर्वामध्यापयति तमाचार्यं पूर्वे मुनयो वदन्ति। कल्पो यज्ञविद्या, रहस्यमुपनिषत्। वेदत्वेऽप्युपनिषदां प्राधान्यविवक्षया पृथङ्निर्देशः॥ 140॥

तदनन्तर उपाध्याय को परिभाषित करते हैं—

एकदेशं तु वेदस्य वेदाङ्गान्यपि वा पुनः।
योऽध्यापयति वृत्त्यर्थमुपाध्यायः स उच्यते॥ 141॥

अन्वय—तु यः वृत्यर्थम् वेदस्य एकदेशम् वा पुनः वेदांगानि अपि अध्यापयति, सः उपाध्यायः उच्यते॥ 141॥

अनुवाद—किन्तु जो आजीविका के लिए, वेद के एक भाग को अथवा उसके बाद वेदाङ्गों को भी पढ़ाता है, वह उपाध्याय कहलाता है।

'चन्द्रिका'—किन्तु जो द्विज अपनी आजीविका चलाने के लिए वेद की एक संहिता अथवा ब्राह्मण भाग का अध्यापन करता है अथवा उसके पश्चात् वह शिक्षा कल्प, निरुक्त, व्याकरण, छन्द, ज्योतिष आदि छः वेदांगों को इसी दृष्टि से अर्थात् आजीविका के लिए पढ़ाता है। वह उपाध्याय कहलाता है।

विशेष—1. वेद के एकदेश से अभिप्राय कुल्लूक भट्ट ने मन्त्र अथवा ब्राह्मण से किया है।

2. आजीविका की दृष्टि से वेद वेदांगों का अध्यापन करने वाला उपाध्याय कहलाता था, न कि आचार्य।

3. उपाध्याय की परिभाषा देकर आचार्य से अन्तर प्रतिपादित किया है।

4. **उपाध्यायः** — उपेत्य अधीयते अस्मात् — उप + अधि + √ इण् (गतौ + घञ्) अध्यापक।

5. शास्त्रों में उपाध्याय को आचार्य की अपेक्षा द्वितीय स्थान प्रदान किया है, क्योंकि इसका अध्यापन प्रमुख रूप से आजीविका के लिए होता है। त्याग भावना यहाँ प्रधान नहीं होती है।

मन्वर्थमुक्तावली—एकदेशमिति॥ वेदस्यैकदेशं मन्त्रं ब्राह्मणं च वेदरहितानि व्याकरणादीन्यङ्गानि यो वृत्त्यर्थमध्यापयति स उपाध्याय उच्यते॥ 141॥

आचार्य एवं उपाध्याय की परिभाषा देने के बाद गुरु का लक्षण करते हैं—

निषेकादीनि कर्माणि यः करोति यथाविधि।
संभावयति चान्नेन स विप्रो गुरुरुच्यते॥ 142॥

अन्वय—यः यथाविधि निषेकादीनि कर्माणि करोति च अन्नेन सम्भावयति, सः विप्रः गुरुः उच्यते॥ 142॥

अनुवाद—जो शास्त्रोक्त विधि से गर्भाधान आदि संस्कारों को सम्पन्न करता है और अन्न के द्वारा (उसका) पालन करता है, वह ब्राह्मण गुरु कहलाता है।

'चन्द्रिका'—जो विप्र शास्त्र में कही गई विधि से गर्भाधान आदि संस्कारों को सम्पन्न करता है तथा भौतिक दृष्टि से स्थूल अन्न प्रदान कर तथा आध्यात्मिक दृष्टि से ईश्वरीय ज्ञान प्रदान करके इस स्थूल एवं सूक्ष्म शरीर को परिपुष्ट करता है, तृप्त करता है। वही गुरु कहलाता है।

विशेष—1. यहाँ विप्र से अभिप्राय ब्राह्मण से लेना चाहिए।

2. गर्भाधान आदि संस्कार, क्योंकि पिता द्वारा सम्पन्न किए जाते हैं, इसलिए यहाँ पिता को ही गुरु बताया गया है।

3. आचार्य याज्ञवल्क्य ने वेद का अध्यापन करने वाले को गुरु कहा है—

स गुरुर्यः क्रियाः कृत्वा वेदमस्मै प्रयच्छति (1/34)

4. निषेकादीनि में प्रयुक्त आदि पद से अन्य संस्कारों का भी ग्रहण होता है।

मन्वर्थमुक्तावली—निषेकादीनीति॥ निषेको गर्भाधानं तेन पितुरयं गुरुत्वोपदेशः। गर्भाधानादीनि संस्कारकर्माणि पितुरुपदिष्टानि यथाशास्त्रं यः करोति, अन्नेन च संवर्धयति स विप्रो गुरुरुच्यते॥ 142॥

तत्पश्चात् प्रसंगवश ऋत्विक का लक्षण करते हैं—

अग्न्याधेयं पाकयज्ञानग्निष्टोमादिकान्मखान्।
यः करोति वृतो यस्य स तस्यर्त्विगिहोच्यते॥ 143॥

अन्वय—वृतः यः अग्न्याधेयम्, पाकयज्ञान्, अग्निष्टोमादिकान् मखान् करोति, इह सः तस्य ऋत्विक् उच्यते॥ 143॥

अनुवाद—वरण किया गया जो ब्राह्मण अग्न्याधान, पाकयज्ञ और अग्निष्टोम (आदि) यज्ञों को करता है, इस धर्मशास्त्र में वह उसका ऋत्विक् कहलाता है।

'चन्द्रिका'—जो ब्राह्मण किसी के द्वारा वरण किए जाने पर उसके लिए आह्वनीयादि अग्नि को उत्पन्न करने के कर्म रूप अग्न्याधान यज्ञ को, पकाए हुए अन्न की आहुति प्रदान किए जाने वाले अष्टमी, अमावस्या, पूर्णिमा आदि विशेष तिथियों पर किए जाने वाले पाक यज्ञों को तथा अग्निष्टोम आदि बड़े यज्ञों को स्वीकार कर उन्हें सम्पन्न कराता है। वह वरण करने वाले का तथा उनका ऋत्विक् कहलाता है।

विशेष—1. आचार्य के समान ही ऋत्विक् भी आदर के योग्य है। अतः प्रसंग-वश यहाँ ऋत्विक् का लक्षण दिया गया है।

2. वृतः — √ वृ (वरणे) + क्त (वरण किया गया)।

3. इह — यहाँ अर्थात् धर्मशास्त्र की दृष्टि में। कुल्लूक भट्ट ने यही अर्थ किया है।

मन्वर्थमुक्तावली—अग्न्याधेयमिति॥ आहवनीयाद्यग्न्युत्पादकं कर्माग्न्याधेयं, अष्टकादीन्पाकयज्ञान्, अग्निष्टोमादीन्यज्ञान्कृतवरणो यस्य करोति स तस्यर्त्विगिह शास्त्रेऽभिधीयते। ब्रह्मचारिधर्मेष्वनुपयुक्तमप्यृत्विग्लक्षणमाचार्यादिवदृत्विजोऽपि मान्यत्वं दर्शयितुं प्रसङ्गादुक्तम्॥ 143॥

तत्पश्चात् आचार्य की महत्ता का कथन करते हैं—

य आवृणोत्यवितथं ब्रह्मणा श्रवणावुभौ।
स माता स पिता ज्ञेयस्तं न द्रुह्येत्कदाचन॥ 144॥

अन्वय—यः अवितथम् ब्रह्मणा उभौ श्रवणौ आवृणोति, सः माता, सः पिता ज्ञेयः, तम् कदाचन न द्रुह्येत्॥ 144॥

अनुवाद—जो सत्य रूप ज्ञान द्वारा दोनों कानों को परिपूरित करता है। उसे माता, उसे पिता समझना चाहिए (तथा) उसके साथ कभी भी द्रोह नहीं करना चाहिए।

'चन्द्रिका'—जो आचार्य सत्य स्वरूप वेद ज्ञान को प्रतिदिन हमें सुनाता है, हमारे कानों को ज्ञान के द्वारा प्रपूरित करता है उस ही व्यक्ति को माता मानना चाहिए तथा उसी को पिता स्वीकार करना चाहिए तथा उसके प्रति अपने जीवन में अपने मन में कभी भी ईर्ष्या, द्वेष, अपमान आदि द्रोह की भावना को उत्पन्न नहीं होने देना चाहिए।

विशेष—1. यहाँ 'ब्रह्म' से अभिप्राय वेद स्वरूप सत्य ज्ञान से है।

2. आवृणोति — आ + √ वृ (वरणे) + लट्लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन (पूर्णतया पूरित करता हैं)।

3. ज्ञेयः — √ ज्ञा + यत् (जानना चाहिए, जानने योग्य है)।

4. द्रुह्येत् — √ द्रुह (जिघाँसायाम्) + विधिलिङ्ग लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन (द्रोह करना चाहिए)।

5. वेद का ज्ञान प्रदान करने वाले आचार्य को माता-पिता के समान पूज्य प्रतिपादित किया है।

मन्वर्थमुक्तावली—य आवृणोतीति॥ य उभौ कर्णौ अवितथमिति वर्णस्वरवैगुण्यरहितेन सत्यरूपेण वेदेनापूरयति स माता पिता च ज्ञेयः। महोपकारकत्वगुणयोगादयमध्यापको मातापितृशब्दवाच्यस्तं नापकुर्यात्। कदाचनेति गृहीते वेदे॥ 144॥

पुनः पिता से भी माता की श्रेष्ठता का प्रतिपादन करते हैं—

उपाध्यायान्दशाचार्य आचार्याणां शतं पिता।
सहस्रं तु पितॄन्माता गौरवेणातिरिच्यते॥ 145॥

अन्वय—दश उपाध्यायान् आचार्यः, आचार्याणाम् शतम् पिता, सहस्रम् पितॄन्, तु माता गौरवेण अतिरिच्यते॥ 145॥

अनुवाद—दस उपाध्यायों की अपेक्षा आचार्य, सौ आचार्यों की अपेक्षा पिता, किन्तु हजार पिताओं की अपेक्षा माता (गौरव की दृष्टि से) बढ़कर होती है।

'चन्द्रिका'—उपाध्याय की तुलना में आचार्य का दस गुना महत्त्व होता है, आचार्य की तुलना में पिता का सौ गुना महत्त्व है किन्तु माता का तो पिता की तुलना में भी गौरव की दृष्टि से एक हजार गुना अधिक महत्त्व होता है।

विशेष—1. उपाध्याय से आचार्य की, आचार्य से पिता की तथा पिता से माता की महत्ता क्रमशः उत्तरोत्तर प्रतिपादित की गई है।

2. अतिरिच्यते — अति + √ रिच् (वियोजन संपर्चनयोः) + विधिलिङ्ग लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन (बढ़कर होता है)।

3. यहाँ आचार्य से अभिप्राय— उपनयन संस्कारपूर्वक सावित्री का अध्ययन कराने वाले आचार्य से है। इसकी अपेक्षा पिता का उत्कर्ष वर्णित हुआ है।

मन्वर्थमुक्तावली—उपाध्यायानिति॥ दशोपाध्यायानपेक्ष्य आचार्यः, आचार्यशतमपेक्ष्य पिता, सहस्रं पितॄनपेक्ष्य माता गौरवेणातिरिक्ता भवति। अत्रोपनयनपूर्वकसावित्रीमात्राध्यापयिता आचार्योऽभिप्रेतस्तमपेक्ष्य पितुरुत्कर्षः। 'उत्पादकब्रह्मदात्रोः' इत्यनेन मुख्याचार्यस्य पितरमपेक्ष्योत्कर्षं वक्ष्यतीत्यविरोधः॥ 145॥

इसके बाद वेदज्ञान प्रदान करने वाले पिता का रूप आचार्य की महत्ता का कथन करते हैं—

उत्पादकब्रह्मदात्रोर्गरीयान्ब्रह्मदः पिता।
ब्रह्मजन्म हि विप्रस्य प्रेत्य चेह च शाश्वतम्॥ 146॥

अन्वय—उत्पादकब्रह्मदात्रोः ब्रह्मदः पिता गरीयान्, हि विप्रस्य ब्रह्मजन्म इह च प्रेत्य च शाश्वतम्॥ 146॥

अनुवाद—उत्पन्न करने वाले तथा वेदज्ञान देने वाले जनकों में वेदज्ञान प्रदान करने वाला पिता (ही) श्रेष्ठ है, क्योंकि ब्राह्मण का ब्रह्मजन्म इस लोक में तथा परलोक (दोनों में) हमेशा रहने वाला है।

'चन्द्रिका'—इस पार्थिव शरीर को उत्पन्न करने वाले पिता तथा वेद का ज्ञान प्रदान करने वाले आचार्य रूप पिता, इन दोनों में ज्ञान प्रदान करने वाला आचार्य रूप पिता ही अधिक श्रेष्ठ है, क्योंकि ब्राह्मण का ज्ञान रूपी शरीर न केवल इस लोक में ही स्थित रहता है, अपितु मृत्यु के पश्चात् परलोक में भी उसकी हमेशा स्थिति बनी रहती है।

विशेष—1. पार्थिव शरीर को उत्पन्न करने वाले पिता की अपेक्षा ज्ञान रूपी शरीर को उत्पन्न करने वाले पिता रूप आचार्य का महत्त्व प्रतिपादित किया है।

2. शाश्वत् — शश्वद् (भव:) + अण् (नित्य, सनातन, सदैव रहने वाला)।

3. प्रेत्य — प्र + √ इण् (गतौ) + ल्यप् (क्त्वा) (मरने के बाद)।

4. इह — यहाँ, इस मृत्युलोक में जीवित अवस्था में।

मन्वर्थमुक्तावली—उत्पादकेति॥ जनकाचार्यौ द्वावपि पितरौ। जन्मदातृत्वात्। तयोराचार्यः पिता गुरुतरः। स्यमाद्विप्रस्य ब्रह्मग्रहणार्थं जन्मोपनयनजन्म संस्काररूपं परलोके इह लोके च शाश्वतं नित्यम्। ब्रह्मप्राप्तिफलकत्वात्॥ 146॥

पुनः माता-पिता से होने वाले जन्म के स्वरूप का उल्लेख करते हैं—

कामान्माता पिता चैनं यदुत्पादयतो मिथः।
संभूतिं तस्य तां विद्याद्यद्योनावभिजायते॥ 147॥

अन्वय—माता च पिता यत् एनम् कामात् मिथः उत्पादयतः, यत् योनौ अभिजायते तस्य ताम् सम्भूतिम् विद्यात्॥ 147॥

अनुवाद—माता और पिता जो इस (शिशु) को सन्तान-प्राप्ति की कामना से परस्पर मिलकर उत्पन्न करते हैं। जो (यह) योनि में उत्पन्न होता है, उसकी वह सामान्य उत्पत्ति ही जाननी चाहिए।

'चन्द्रिका'—माता पिता मिलकर काम-भावना से अथवा सन्तान-प्राप्ति की कामना से जो शिशु को उत्पन्न करते हैं तथा शिशु की गर्भ में स्थिति, और योनि मार्ग से उत्पत्ति होती है। वह वस्तुतः अन्य सभी प्राणियों की उत्पत्ति के समान ही केवल सामान्य उत्पत्ति ही मानी जाएगी। अतः माता-पिता द्वारा दिए गए जन्म का कोई विशेष महत्त्व नहीं है।

विशेष—1. कामात् से यहाँ पुत्र-प्राप्ति की कामना अथवा काम भावना दोनों अर्थों का ग्रहण किया जा सकता है। इस जन्म को सामान्य बताया है।

2. अभिजायते — अभि + √ जन् + लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन, आत्मनेपदी (उत्पन्न होता है)।

3. सम्भूतिम् — सम् + √ भू + क्तिन् + द्वितीया विभक्ति, एकवचन (जन्म, उद्भव, उत्पत्ति को)।

मन्वर्थमुक्तावली—कामादिति॥ मातापितरौ यदेनं बालकं कामवशेनान्योन्यमुत्पादयतः सम्भवमात्रं तत्तस्य पश्वादिसाधारणम्। यद्योनौ मातृकुक्षावभिजायतेऽङ्गप्रत्यङ्गानि लभते॥ 147॥

तदनन्तर आचार्य द्वारा प्रदत्त विशेष जन्म के वैशिष्ट्य का कथन किया जाता है—

आचार्यस्त्वस्य यां जातिं विधिवद्वेदपारगः।
उत्पादयति सावित्र्या सा सत्या साजरामरा॥ 148॥

अन्वय—तु वेदपारगः आचार्यः विधिवत् सावित्र्या अस्य याम् जातिम् उत्पादयति, सा सत्या अजरा अमरा (भवति) ॥ 148 ॥

अनुवाद—किन्तु वेदों में पारंगत आचार्य शास्त्रोक्त विधिपूर्वक उपनयन संस्कार (सावित्री) द्वारा इसके जिस स्वरूप को उत्पन्न करता है, वह सत्य, अजर (और) अमर (होता है)।

'चन्द्रिका'—माता-पिता द्वारा सामान्य स्थूल शरीर की उत्पत्ति के बाद जब वेदों के विद्वान् आचार्य द्वारा शास्त्रों में कही गई विधि से उपनयन संस्कार कराने के बाद सावित्री के उपदेश द्वारा जो नया जन्म प्रदान किया जाता है। वस्तुतः यही उस शिशु का सत्य, हमेशा रहने वाला, कभी भी जीर्णशीर्ण न होने वाला वास्तविक जन्म होता है। अतः शिशु को वास्तविक जन्म देने वाला तो आचार्य ही है।

विशेष—1. ज्ञान शरीर की उत्पत्ति आचार्य द्वारा की जाती है, इसीलिए आचार्य भी उसका पिता होता है।

2. ज्ञान-शरीर को अजर, अमर एवं सत्य कहा है।

3. आचार्यः — आ + √ चर् + ण्यत् (आध्यात्मिक गुरु)।

4. जातिम् — √ जन् + क्तिन् (जन्म, उत्पत्ति)।

5. वेदपारगः — वेदों का पूर्णज्ञाता, पारंगत। √ विद् + घञ् = वेदः।

मन्वर्थमुक्तावली—आचार्य इति॥ आचार्यः पुनर्वेदज्ञोऽस्य माणवकस्य यां जातिं यज्जन्म विधिवत्सावित्र्येति साङ्गोपनयनपूर्वकसावित्र्यनुवचनेनोत्पादयति सा जातिः सत्या अजरामरा च। ब्रह्मप्राप्तिफलत्वात्। उपनयनपूर्वकस्य वेदाध्ययनतदर्थज्ञानानुष्ठानैर्निष्कामस्य मोक्षलाभात् ॥ 148 ॥

इसके बाद वेद-ज्ञान प्रदान करने वाले के महत्त्व को प्रतिपादित करते हैं—

अल्पं वा बहु वा यस्य श्रुतस्योपकरोति यः।
तमपीह गुरुं विद्याच्छ्रुतोपक्रियया तया ॥ 149 ॥

अन्वय—यः यस्य अल्पम् वा बहु वा श्रुतस्य उपकरोति, तम् अपि तया श्रुतोपक्रियया इह गुरुम् विद्यात् ॥ 149 ॥

अनुवाद—जो जिसका थोड़ा अथवा बहुत शास्त्र-विषयक उपकार करता है, उसे भी उस शास्त्र सम्बन्धी उपकार के कारण इस संसार में गुरु समझना चाहिए।

'चन्द्रिका'—इस संसार में व्यक्ति केवल एक व्यक्ति से ही ज्ञान प्राप्त नहीं करता, अपितु अनेक परिस्थितियों में अनेक व्यक्तियों से ज्ञान प्राप्त करता है। अतः उसे जिस भी व्यक्ति से थोड़ा अथवा अधिक शास्त्र विषयक ज्ञान प्राप्त हो, जिससे उसका जीवन उपकृत हुआ हो, उस उपकार के कारण उस-उस व्यक्ति गुरु के रूप में समादरणीय मानना चाहिए।

विशेष—1. श्रुत से यहाँ अभिप्राय शास्त्र से ही लेना चाहिए, वेद से नहीं।

2. श्रुतोपक्रियया — श्रुतम् एव उपक्रिया तया (शास्त्र का श्रवणरूप उपकार, उसके द्वारा)।

3. एक 'वा' का प्रयोग पादपूर्ति के लिए हुआ है।

मन्वर्थमुक्तावली—अल्पं वेति॥ श्रुतस्य श्रुतेनेत्यर्थः। उपाध्यायो यस्य शिष्यस्याल्पं वा बहु वा कृत्वा श्रुतेनोपकरोति तमपीह शास्त्रे तस्य गुरुं जानीयात्। श्रुतमेवोपक्रिया तया श्रुतोपक्रियया॥ 149॥

वेद ज्ञान प्रदान करने वाला अल्पायु होते हुए भी वृद्ध का धर्म पिता होता है—

ब्राह्मस्य जन्मनः कर्ता स्वधर्मस्य च शासिता।
बालोऽपि विप्रो वृद्धस्य पिता भवति धर्मतः॥ 150॥

अन्वय—ब्राह्मस्य जन्मनः कर्ता च स्वधर्मस्य शासिता, विप्रः बालः अपि वृद्धस्य धर्मतः पिता भवति॥ 150॥

अनुवाद—वेद-ज्ञान का जन्मदाता और अपने कर्तव्यों की शिक्षा प्रदान करने वाला ब्राह्मण, बालक होते हुए भी आयु-वृद्ध (अन्य व्यक्ति) का धर्म-पिता होता है।

'चन्द्रिका'—यदि कोई ब्राह्मण अल्पायु वाला होते हुए भी अन्य आयु में बढ़े हुए व्यक्ति को वेद विषयक ज्ञान प्रदान करता है तथा उसे अपने-अपने वर्ण के शास्त्र सम्मत कर्तव्यों की शिक्षा प्रदान करता है तो शास्त्रीय दृष्टि से अल्पायु बालक वृद्ध, ज्ञान प्राप्त करने वाले का धर्मपिता कहलाता है।

विशेष—1. आयु की अपेक्षा ज्ञान को अधिक महत्त्व प्रदान किया है।

2. कालिदास ने भी कहा है—ज्ञानवृद्धेषु वयः न समीक्षते।

3. शासिता — √ शास् + तृच्, प्रथमा विभक्ति, एकवचन, शासन करने वाला।

4. यहाँ प्रयुक्त 'विप्र' का अर्थ 'विद्वान्' भी किया जा सकता है।

5. धर्मतः — धर्मः + तसिल् (धर्म की दृष्टि से)।

मन्वर्थमुक्तावली—ब्राह्मस्येति॥ ब्रह्मश्रवणार्थं जन्म ब्राह्ममुपनयनम्। स्वधर्मस्य शासिता-वेदार्थव्याख्याता तादृशोऽपि बालो वृद्धस्य ज्येष्ठस्य पिता भवति। धर्मत इति पितृधर्मास्तस्मिन्न-नुष्ठातव्याः॥ 150॥

❖❖❖

प्रकृतानुरूपार्थवादमाह—

तत्पश्चात् इस विषय में उदाहरण प्रस्तुत करते हैं—

अध्यापयामास पितॄञ्शिशुराङ्गिरसः कविः।
पुत्रका इति होवाच ज्ञानेन परिगृह्य तान्॥ 151॥

अन्वय—आंगिरसः कविः शिशुः पितॄन् अध्यापयामास, ज्ञानेन परिगृह्य (सः) तान् 'पुत्रकाः' इति ह उवाच॥ 151॥

अनुवाद—अंगिरा के पुत्र विद्वान् बालक ने (अपने) पितृजनों को पढ़ाया। ज्ञान प्रदान करने के कारण (उसने) उन्हें हे पुत्रों! इस प्रकार सम्बोधित किया।

'चन्द्रिका'—अंगिरा ऋषि के विद्वान् एवं सत्य के तत्त्व को जानने वाले, आंगिरस नामक अल्पवय वाले बालक ने अपने पितृतुल्य चाचा, ताऊ आदि को तत्त्वज्ञान प्रदान किया। उस अवसर पर अध्यापन करते समय उसने अपने पितृजनों को, ज्ञान के द्वारा शिष्य रूप में स्वीकार करने के कारण हे पुत्रो! इस प्रकार से सम्बोधित किया था, यह इतिहास में प्रसिद्ध है। अतः अल्पवयस् ज्ञानी के सामने अज्ञानी वृद्ध पुत्रवत् ही होता है।

विशेष—1. इतिह अव्यय का प्रयोग इतिहास प्रसिद्ध तथ्य का कथन करने के लिए किया जाता है। वैदिक साहित्य ब्राह्मण एवं उपनिषदों में इसका अत्यधिक प्रयोग हुआ है।

2. आंगिरसः — आंगिरस् + अण् (अंगिरा की सन्तान)।

3. परिगृह्य — परि + √ ग्रह् + ल्यप् (क्त्वा) स्वीकार करके।

4. पुत्रकाः — पुत्र + कन् + बहुवचन, सम्बोधन (प्यारे बच्चों!)

5. कवि शब्द यहाँ विद्वान् अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

मन्वर्थमुक्तावली—अध्यापयामासेति॥ अङ्गिरसः पुत्रो बालः कविर्विद्वान् पितॄन्गौणान् पितृव्यतत्पुत्रादीनधिकवयसोऽध्यापितवान्। ताञ्ज्ञानेन परिगृह्य शिष्यान्कृत्वा पुत्रका इति आजुहाव। इतिह इत्यव्ययं पुरावृत्तसूचनार्थम्॥ 151॥

पुत्र! सम्बोधन से क्रुद्ध चाचाओं ने देवताओं से इसके औचित्य के विषय में प्रश्न किया—

ते तमर्थमपृच्छन्त देवानागतमन्यवः।
देवाश्चैतान्समेत्योचुर्न्याय्यं वः शिशुरुक्तवान्॥ 152॥

अन्वय—आगतमन्यवः ते देवान् तम् अर्थम् अपृच्छन्त च देवाः एतान् समेत्य ऊचुः, वः शिशुः न्याय्यम् उक्तवान्॥ 152॥

अनुवाद—गुस्से में भरे हुए उन्होंने देवताओं से उसका अभिप्राय पूछा और जब देवताओं ने एक स्वर में मिलकर कहा कि आपके पुत्र ने (यह सम्बोधन) न्यायोचित ही कहा है।

'चन्द्रिका'—ज्ञानवृद्ध अपने पुत्र द्वारा स्वयं के लिए पुत्र सम्बोधन सुनकर आंगिरस के चाचा आदि अत्यधिक क्रोधित हुए और इस सम्बोधन के औचित्य के विषय में जानने के लिए देवताओं के पास पहुँचे। उनके पूछने पर सभी देवताओं ने एक स्वर से इस हे पुत्रों! सम्बोधन को न्यायोचित स्वीकार किया तथा ज्ञानवृद्ध इस शिशु को निर्दोष माना।

विशेष—1. न्याय्य — न्याय + यत् (न्यायसंगत, उपयुक्त)।

2. समेत्य — सम् + √ इण् (गतौ) + ल्यप् (क्त्वा) मिलकर।

3. अपने पुत्र के मुख से अपने लिए पुत्र सम्बोधन सुनकर क्रोध आना अत्यन्त स्वाभाविक था।

मन्वर्थमुक्तावली—ते तमर्थमपृच्छन्तेति॥ ते पितृतुल्याः पुत्रका इत्युक्ता अनेन जातक्रोधाः पुत्रकशब्दार्थं देवान्पृष्टवन्तः देवाश्च मिलित्वा एतानवोचन्। युष्मान्यच्छिशुः पुत्रशब्देनोक्तवांस्तद्युक्तम्॥ 152॥

तत्पश्चात् आंगिरस द्वारा पुत्रों! सम्बोधन के औचित्य को सिद्ध करते हुए देवगण बोले—

अज्ञो भवति वै बालः पिता भवति मन्त्रदः।
अज्ञं हि बालमित्याहुः पितेत्येव तु मन्त्रदम्॥ 153॥

अन्वय—वै अज्ञः बालः भवति, मन्त्रदः पिता भवति, हि अज्ञम् बालम् इति, मन्त्रदम् तु पिता इति एव आहुः॥ 153॥

अनुवाद—वस्तुतः ज्ञान से रहित बालक होता है (तथा) मन्त्र प्रदान करने वाला पिता होता है, क्योंकि (शास्त्रों में ऋषियों ने भी) अज्ञानी को बालक और मन्त्र रूप ज्ञान प्रदान करने वाले को पिता इसी प्रकार कहा है।

'चन्द्रिका'—मूर्ख, ज्ञान से हीन व्यक्ति भली ही कितनी ही उम्र का क्यों न हो वह बालक के समान ही होता है। इसके विपरीत ज्ञान प्रदान करने वाला व्यक्ति भले ही उम्र में छोटा हो, वह पिता के समान पूजनीय होता है। यही बात हमारे शास्त्रों में ऋषियों मुनियों द्वारा भी इसी रूप में कही गई है।

विशेष—1. स्वामी दयानन्द भी सत्यार्थ प्रकाश में कहते हैं—कि शरीर के बाल सफेद होने से व्यक्ति बूढ़ा नहीं होता है, विद्वान् लोग युवा होते हुए भी विद्या पढ़े हुए को बड़ा मानते हैं। (दशम उल्लास)।

2. अज्ञः — न जानाति इति, नञ् + √ ज्ञा + क (न जानने वाला)।

3. मन्त्रदः — मन्त्रम् ददाति, इति (मन्त्र रूप ज्ञान अथवा गायत्री मन्त्र को प्रदान करने वाला)।

4. 'वै' अव्यय का प्रयोग 'अवधारण' अर्थ में हुआ है।

मन्वर्थमुक्तावली—अज्ञ इति॥ वैशब्दोऽवधारणे। अज्ञ एव बालो भवति न त्वल्पवयाः।

मन्त्रदः पिता भवति। मन्त्रग्रहणं वेदोपलक्षणार्थम्। यो वेदमध्यापयति व्याचष्टे स पिता। अत्रैव हेतुमाह—यस्मात्पूर्वेऽपि मुनयोऽयं बालमित्यूचुः, मन्त्रदं च पितेत्येवाब्रुवन्नित्याह॥ 153॥

पुनः वेदज्ञान की श्रेष्ठता का प्रतिपादन करते हैं—

न हायनैर्न पलितैर्न वित्तेन न बन्धुभिः।
ऋषयश्चक्रिरे धर्मं योऽनूचानः स नो महान्॥ 154॥

अन्वय—(कोऽपि जनः) न हायनैः, न पलितैः, न वित्तेन, न बन्धुभिः, (महान् भवति) ऋषयः धर्मम् चक्रिरे, नः यः अनूचानः सः महान् (अस्ति)॥ 154॥

अनुवाद—(कोई भी व्यक्ति) न तो अधिक वर्षों से, न श्वेत बालों से, न धन से, न अनेक बन्धुओं से (महान् होता है, अपितु) ऋषियों ने यही नियम बनाया हुआ है कि, हमारे मध्य जो वेद का सर्वोत्कृष्ट विद्वान् है, वही महान् है।

'चन्द्रिका'—व्यक्ति कितने वर्षों की आयु वाला है, उसके बाल श्वेत हुए हैं अथवा नहीं, उसके पास कितना धन है अथवा उसके कितने बन्धु-बान्धव हैं, इन सब बातों से व्यक्ति का महत्त्व निर्धारित नहीं किया जाता है, अपितु ऋषियों, मुनियों द्वारा विरचित शास्त्रों में उस व्यक्ति को महान् माना गया है, जो वेद का उत्कृष्ट विद्वान् होता है।

विशेष—1. 136 श्लोक संख्या में आचार्य मनु ने व्यक्ति की उत्कृष्टता के पाँच तत्त्वों का कथन किया है, किन्तु यहाँ केवल एक प्रमुख तत्त्व वेद-ज्ञान की उत्कृष्टता का ही प्रतिपादन किया है।

2. अनूचानः — अनु + √ वच् + कान (विशेष रूप से वेदों में निष्णात विद्वान्)।

3. हायनैः — हा + ल्यु + तृतीया विभक्ति, बहुवचन, (वर्षों के द्वारा)।

मन्वर्थमुक्तावली—न हायनैरिति॥ न बहुभिर्वर्षैः, न केशश्मश्रुलोमभिः शुक्लैः, न बहुना धनेन, न पितृव्यत्वादिभिर्बन्धुभावैः समुदितैरप्येतैर्न महत्त्वं भवति, किन्तु ऋषय इमं धर्मं कृतवन्तः। यः साङ्गवेदाध्येता सोऽस्माकं महान् संमतः॥ 154॥

इसके बाद विभिन्न वर्णों की श्रेष्ठता के आधार का कथन करते हैं—

विप्राणां ज्ञानतो ज्यैष्ठ्यं क्षत्रियाणां तु वीर्यतः।
वैश्यानां धान्यधनतः शूद्राणामेव जन्मतः॥ 155॥

अन्वय—विप्राणाम् ज्ञानतः, क्षत्रियाणाम् तु वीर्यतः, वैश्यानाम् धन-धान्यतः, शूद्राणाम् जन्मतः एव ज्यैष्ठ्यम् (भवति)॥ 155॥

अनुवाद—ब्राह्मणों की ज्ञान से, क्षत्रियों की तो पराक्रम से, वैश्यों की धन-धान्य से, शूद्रों की जन्म से ही श्रेष्ठता (निर्धारित होती है)।

'चन्द्रिका'—ब्राह्मण वर्ण में उत्पन्न व्यक्ति के पास जितना ज्ञान होगा, उतना ही वह श्रेष्ठ माना जाएगा, किन्तु क्षत्रिय वर्ण के व्यक्ति की श्रेष्ठता का आधार बल एवं

पराक्रम होता है। इसके अतिरिक्त वैश्य वर्ण के व्यक्ति के पास कितना अधिक धन एवं ऐश्वर्य होगा, उतना ही समाज में उसका सम्मान होगा। इसके विपरीत शूद्र व्यक्ति की श्रेष्ठता का आधार उसकी आयु माना गया है।

विशेष—1. ज्ञानतः — ज्ञान + तसिल्, वीर्यतः — वीर्य + तसिल्, धनधान्यतः — धन धान्य + तसिल्, जन्मतः — जन्म + तसिल्। (ज्ञान से, वीर्य से, धन-धान्य से, जन्म से) सभी में तृतीया अर्थ में तसिल् प्रत्यय।

2. ज्यैष्ठयम् — ज्या + इष्ठन् (श्रेष्ठतम्, सर्वोत्तम)।

मन्वर्थमुक्तावली—विप्राणामिति॥ ब्राह्मणानां विद्यया, क्षत्रियाणां पुनर्वीर्येण, वैश्यानां धान्यवस्त्रादिधनेन, शूद्राणामेव पुनर्जन्मना श्रेष्ठत्वम्। सर्वत्र तृतीयार्थे तसिः॥ 155॥

ज्ञान की श्रेष्ठता का पुनः प्रतिपादन करते हैं—

न तेन वृद्धो भवति येनास्य पलितं शिरः।
यो वै युवाप्यधीयानस्तं देवाः स्थविरं विदुः॥ 156॥

अन्वय—येन अस्य शिरः पलितम् तेन वृद्धः न भवति, यः वै युवा अपि अधीयानः देवाः तम् स्थविरम् विदुः॥ 156॥

अनुवाद—जिससे इसका सिर श्वेत हो गया है, उससे (वह) वृद्ध नहीं होता है, जो वस्तुतः युवक होते हुए भी ज्ञान में अधिक है, देवताओं ने उसी को वृद्ध कहा है।

'चन्द्रिका'—किसी व्यक्ति के सिर के बाल श्वेत होने से उसे वृद्ध नहीं कहा जाता है, अपितु भले ही अभी तक वह युवक भी क्यों न हो, यदि वह ज्ञान में बढ़ा हुआ है, शास्त्रों का ज्ञाता है वेदों का अध्ययन किया है तो देवता भी ऐसे व्यक्ति को वृद्ध (स्थविर) स्वीकार करते हैं।

विशेष—1. अधीयानः — अधि + √ इण् (गतौ) + शानच् (वेद पढ़ने वाला)।

2. विदुः — √ विद् (ज्ञाने) + लट् लकार, प्रथम पुरुष, बहुवचन, परस्मैपदी (जानते हैं)। लट् लकार में वेत्ति वित्तः विदन्ति तथा वेद विदतुः विदुः रूप भी चलते है।

3. स्थाविरम् — √ स्था + किरच् (स्थव् आदेश) वृद्ध, पुराना।

4. आयु की अपेक्षा ज्ञान की उत्कृष्टता प्रतिपादित की गई है।

मन्वर्थमुक्तावली—न तेनेति॥ न तेन वृद्धो भवति येनास्य शुक्लकेशं शिरः किन्तु युवापि सन्विद्वांस्तं देवाः स्थविरं जानन्ति॥ 156॥

वेद विषयक ज्ञान से रहित ब्राह्मण की स्थिति स्पष्ट करते हैं—

यथा काष्ठमयो हस्ती यथा चर्ममयो मृगः।
यश्च विप्रोऽनधीयानस्त्रयस्ते नाम बिभ्रति॥ 157॥

अन्वय—यथा काष्ठमयः हस्ती, यथा चर्ममयः मृगः च यः विप्रः अनधीयानः ते त्रयः नाम बिभ्रति॥ 157॥

अनुवाद—जिस प्रकार लकड़ी का हाथी, जिस प्रकार चर्म निर्मित मृग और जिस ब्राह्मण ने वेदों का अध्ययन नहीं किया है, वे तीनों केवल नाम मात्र ही धारण करते हैं।

'चन्द्रिका'—जिस प्रकार लकड़ी के द्वारा बनाया हुआ हाथी केवल कहने मात्र के लिए हाथी होता है तथा चमड़े में भूसा भरकर रखा गया मृग नाममात्र के लिए मृग होता है। इसमें हाथी अथवा मृग के गुण नहीं होते हैं। ठीक उसी प्रकार ऐसा ब्राह्मण जिसने वेदों का अध्ययन नहीं किया है, शास्त्रों का अध्ययन नहीं किया है, केवल कहने मात्र को ब्राह्मण होता है, क्योंकि ब्राह्मण कुल में जन्म लेने मात्र से व्यक्ति ब्राह्मण नहीं होता है।

विशेष—1. काष्ठमयः — काष्ठ + मयट् (विकार अर्थ में) (काष्ठ से बना हुआ, लकड़ी का)।

2. चर्ममयः — चर्म + मयट् (विकार अर्थ में) चर्म का बना हुआ।

3. अनधीयानः — न अधीयानः, इति वेदाध्ययन न करता हुआ (नञ् समास)।

4. बिभ्रति — धारण करता है। 5. ज्ञानहीन ब्राह्मण को निर्जीव नाममात्र का जीवन धारण करने वाला महत्त्वहीन कहा है।

मन्वर्थमुक्तावली—यथा काष्ठमय इति॥ यथा काष्ठघटितो हस्ती, यथा चर्मनिर्मितो मृगः, यश्च विप्रो नाधीते त्रय एते नाममात्रं दधति नतु हस्त्यादिकार्यं शत्रुवधादिकं कर्तुं क्षमन्ते॥ 157॥

वेदार्थ ज्ञान से रहित ब्राह्मण की निरर्थकता प्रतिपादित करते हैं—

यथा षण्ढोऽफलः स्त्रीषु यथा गौर्गवि चाफला।
यथा चाज्ञेऽफलं दानं तथा विप्रोऽनृचोऽफलः॥ 158॥

अन्वय—यथा षण्ढः स्त्रीषु अफलः, यथा गौः गवि अफला च यथा अज्ञे दानम् अफलम् तथा अनृचः विप्रः अफलः (भवति)॥ 158॥

अनुवाद—जिस प्रकार नपुंसक स्त्रियों में निष्फल (होता है), जिस प्रकार बैल गाय में निष्फल (है) और जिस प्रकार मूर्ख में दान निष्फल (है), वैसे ही वेदज्ञान से रहित ब्राह्मण (भी) निष्फल (होता है)।

'चन्द्रिका'—जिस प्रकार नपुसंक व्यक्ति स्त्रियों की काम भावना शान्त करने एवं उनमें सन्तानोत्पत्ति रूप फल को प्राप्त कराने में समर्थ नहीं होता। इसी प्रकार बैल जिसे नपुंसक कर दिया जाता है। गायों में सन्तान उत्पन्न करने में समर्थ नहीं होता। अतः निष्फल है। इसी प्रकार जैसे अज्ञानी, मूर्ख व्यक्ति को दान देना निष्फल है। ठीक उसी प्रकार जिसने वेद का अध्ययन नहीं किया जिसने विद्वत्ता प्राप्त नहीं की, इस प्रकार के ब्राह्मण का जन्म भी व्यर्थ ही है।

विशेष—1. षण्ढः — सन् + ढ (षत्वादेश) नपुंसक।

2. गौः शब्द यहाँ बैल के लिए प्रयुक्त मानना चाहिए, उसे नपुंसक, एक विशेष प्रक्रिया द्वारा किया जाता है।

3. अफलम् — न फलम्, इति (नञ् समास) निष्फल, व्यर्थ।

4. ब्राह्मण के लिए वेद के ज्ञान की महता प्रतिपादित की गई है।

मन्वर्थमुक्तावली—यथा षण्ढ इति॥ यथा नपुंसकः स्त्रीषु निष्फलः, यथा च स्त्रीगवी गव्यामेव निष्फला, यथा चाज्ञे दानमफलं, तथा ब्राह्मणोऽप्यनधीयानो निष्फलः श्रौत-स्मार्तकर्मानर्हतया तत्फलरहितः॥ 158॥

तत्पश्चात् उपदेश की शैली का उल्लेख करते हैं—

अहिंसयैव भूतानां कार्यं श्रेयोनुशासनम्।
वाक्चैव मधुरा श्लक्ष्णा प्रयोज्या धर्ममिच्छता॥ 159॥

अन्वय—धर्मम् इच्छता भूतानाम् श्रेयः अहिंसया एव अनुशासनम् कार्यम्, च मधुरा श्लक्ष्णा वाक् एव प्रयोज्या॥ 159॥

अनुवाद—धर्म की इच्छा करने वाले (व्यक्ति) को प्राणियों का कल्याण करने के लिए अहिंसा से ही अनुशासन करना चाहिए और मधुर तथा कोमल वाणी ही प्रयोग करनी चाहिए।

'चन्द्रिका'—जो व्यक्ति धर्म का प्रचार प्रसार एवं उन्नति चाहता है उसे वैर बुद्धि को छोड़कर सभी प्राणियों के कल्याण के लिए हमेशा उपदेश करते हुए मधुर वाणी का उच्चारण करना चाहिए। कभी भी उपदेश देते समय हिंसा का आचरण नहीं करना चाहिए। यदि शिष्यों को अनुशासित करने के लिए दण्ड भी देना पड़े तो रस्सी अथवा पत्तों से युक्त पतली डाल के द्वारा भय दिखाते हुए ही दण्डित करना चाहिए। इसके अतिरिक्त कर्कश वाणी का पूर्णरूप से परित्याग करते हुए कोमल वर्णों का प्रयोग करते हुए धीमे स्वर वाली वाणी का प्रयोग करना चाहिए।

विशेष—1. धर्मनिष्ठ व्यक्ति सभी प्राणियों की कामना करते हुए मधुर वाणी में ही उपदेश प्रदान करे।

2. धर्म के प्रचार प्रसार एवं वेदाध्ययन में हिंसा का पूर्णतया निषेध किया है।

3. अनुशासनम् — अनु + √ शास् + ल्युट् (शिक्षण के नियमों को अवगत कराना)।

4. प्रयोज्या — प्र + √ युज् + ण्यत् + स्त्रीलिङ्ग (प्रयोग करने योग्य है)।

5. श्लक्ष्णा — कोमल वर्णों से युक्त।

6. अहिंसा — न हिंसा इति (नञ् समास) यहाँ नञ् का प्रयोग 'अभाव' अर्थ में न होकर 'अल्प' अर्थ में समझना चाहिए।

मन्वर्थमुक्तावली—अहिंसयैवेति॥ भूतानां शिष्याणां प्रकरणाच्छ्रेयोर्थमनुशासनमनति-

हिंसया कर्तव्यम्। 'रज्ज्वा वेणुदलेन वा' इत्यल्पहिंसाया अभ्यनुज्ञानात्। वाणी मधुरा प्रीतिजननी श्लक्ष्णा या नोच्चैरुच्यते सा शिष्यशिक्षायै धर्मबुद्धिमिच्छता प्रयोक्तव्या॥ 159॥

इदानीं पुरुषमात्रस्य फलं धर्मं वाङ्मनःसंयममाह—

तत्पश्चात् वाणी और मन की शुद्धि पर बल देते हैं—

यस्य वाङ्मनसी शुद्धे सम्यक्गुप्ते च सर्वदा।
स वै सर्वमवाप्नोति वेदान्तोपगतं फलम्॥ 160॥

अन्वय—यस्य वाङ्मनसी सर्वदा शुद्धे च सम्यक् गुप्ते, सः वेदान्तोपगतम् सर्वम् फलम् वै अवाप्नोति॥ 160॥

अनुवाद—जिसके वाणी और मन सदा शुद्ध एवं (विषयों से) ठीक प्रकार से सुरक्षित रहते हैं। वह वेदान्त में प्रतिपादित सम्पूर्ण फल को निश्चय ही प्राप्त करता है।

'चन्द्रिका'—जिस व्यक्ति का मन और वाणी ये दोनों पूर्णतया शुद्ध हैं तथा जो अपने मन को इन्द्रियों के विषयों से पूरी तरह सुरक्षित रखता है। उन पर विषयों का आकर्षण अथवा प्रभाव नहीं होने देता है। वह वेदों के सिद्धान्त रूप फल को अथवा वेदों में प्रतिपादित जीवन के परम लक्ष्य मोक्ष रूप फल को अवश्य ही प्राप्त कर लेता है।

विशेष—1. कुछ विद्वानों ने 'वेदान्तोपगतं फलम्' का अर्थ—श्रुति वाक्यों में कहे गए 'आत्मकल्याण रूप परम फल' किया है। कुल्लूक भट्ट ने इसका 'मोक्ष' अर्थ किया है।

2. वाणी और मन की शुद्धि, इन्द्रियों के नियन्ता मन को नियन्त्रित करने से ही व्यक्ति का कल्याण सम्भव है। इससे उसे अभ्युदय और निःश्रेयस् दोनों की प्राप्त होती है।

3. 'वै' का प्रयोग अवधारण अर्थ की अभिव्यक्ति के लिए हुआ है।

4. अवाप्नोति — अव + √ आप् + लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन (प्राप्त करता है)।

मन्वर्थमुक्तावली—यस्येति॥ अध्यापयितुरेव यस्य वाङ्मनश्चोभयं शुद्धं भवति। वागनृतादिभिरदुष्टा मनश्च रागद्वेषादिभिरदूषितं भवति। एते वाङ्मनसी निषिद्धविषयप्रकरणे सर्वदा यस्य पुंसः सुरक्षिते भवतः स वेदान्तेऽवगतं सर्वं फलं सर्वज्ञत्वं सर्वेशानादिरूपं मोक्षलाभादवाप्नोति॥ 160॥

पुनः वाणी मधुरता पर बल देते हुए कहते हैं—

नारुंतुदः स्यादार्तोऽपि न परद्रोहकर्मधीः।
ययास्योद्विजते वाचा नालोक्यां तामुदीरयेत्॥ 161॥

अन्वय—आर्तः अपि अरुन्तुदः न स्यात्। पर-द्रोह-कर्म-धीः अपि न (स्यात्)। अस्य यया वाचा उद्विजते, अलोक्याम् ताम् न उदीरयेत्॥ 161॥

अनुवाद—(स्वयं) दुःखी होते हुए भी (दूसरे के) मर्मस्थल पर आघात करने वाला न होवे। दूसरों के प्रति द्वेष बुद्धि वाला भी नहीं (होना चाहिए)। इसकी जिस वाणी से (व्यक्ति) उद्विग्न हो, लोगों के लिए अहितकर ऐसी उस वाणी का उच्चारण नहीं करना चाहिए।

'चन्द्रिका'—भले ही व्यक्ति खुद भी दुःखी क्यों न हो, कितना भी मानसिक रूप से त्रस्त क्यों न हो उसे कभी भी दूसरे के मर्मस्थलों पर चोट करने वाली बात नहीं कहनी चाहिए। कभी दूसरों के साथ द्वेषभाव नहीं रखना चाहिए। साथ ही इस प्रकार की वाणी का उच्चारण भी कभी नहीं करना चाहिए, जिसको सुनकर लोग व्याकुल हो जाएँ, परेशान हो जाएँ तथा जो दूसरों का अहित करने वाली हो। स्वर्गादि की प्राप्ति में बाधक हो।

विशेष—1. मन, वाणी और कर्म की पवित्रता पर बल दिया गया है। यह बात सभी पर लागू होती है, अध्यापक मात्र पर नहीं।

2. अरुन्तुदः — अरुंषि मर्माणि तुदति, इति, अरुस् + √ तुद् (व्यथने) + खश् (मर्मस्थलों का छेदन करने वाला)।

3. आर्तः — आ + √ ऋ (गतिप्रापणयोः) + क्त (प्रपीड़ित)।

4. उदीरयेत् — उद् + √ ईर् (गतौ कम्पने) + विधिलिङ्ग लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन (बोलना चाहिए)।

5. अलोक्याम् — न लोक्याम् इति (नञ् समास) असांसारिक।

6. परद्रोहकर्मधीः — परेषाम् द्रोहः — परद्रोहः तस्मिन् कर्मणि धीः यस्य सः (दूसरे के अपकार में बुद्धि है, जिसकी वह)।

मन्वर्थमुक्तावली—नारुंतुद इति॥ अयमपि पुरुषमात्रस्यैव धर्मो नाध्यापकस्य। आर्तः पीडितोऽपि नारुंतुदः स्यान्न मर्मपीडाकरं तत्त्वदूषणमुदाहरेत्। तथा परस्य द्रोहोऽपकारस्तदर्थं कर्मबुद्धिश्च न कर्तव्या। तथा यया वाचास्य परो व्यथते तां मर्मस्पृशमथालोक्यां स्वर्गादिप्राप्तिविरोधिनीं न वदेत्॥ 161॥

ब्रह्मज्ञानी को सम्मान-प्राप्ति के प्रति निरपेक्ष रहना चाहिए, इसका प्रतिपादन करते हैं—

संमानाद्ब्राह्मणो नित्यमुद्विजेत विषादिव।
अमृतस्येव चाकाङ्क्षेदवमानस्य सर्वदा॥ 162॥

अन्वय—ब्राह्मणः सम्मानात् नित्यम् विषात् इव उद्विजेत् च अवमानस्य अमृतस्य इव सर्वदा आकाङ्क्षेत्॥ 162॥

अनुवाद—ब्राह्मण को सम्मान से हमेशा विष के समान उद्विग्न होना चाहिए और अपमान की अमृत के समान हमेशा कामना करनी चाहिए।

'चन्द्रिका'—ब्रह्मज्ञान के प्रति इच्छुक व्यक्ति को न तो सम्मान में प्रसन्न होना

चाहिए और न ही अपमान एवं तिरस्कार होने पर व्याकुल होकर दु:खी होना चाहिए। अत: यदि कहीं पर उसका सम्मान किया जा रहा हो तो उसे विष के समान मानकर उसे त्यागने के लिए तत्पर रहना चाहिए तथा यदि अपमान की सम्भावना हो तो उसका अमृत के समान स्वागत करना चाहिए।

विशेष—1. सम्मान होने पर व्यक्ति सांसारिक मोह-माया में और अधिक धँसता चला जाता है। अत: यह मोक्ष मार्ग में बाधक होने से विष के समान त्याज्य है।

2. इसके विपरीत अपमान होने पर व्यक्ति का संसार से वैराग्य होता है; मोक्ष-मार्ग में साधक होने से अमृत के समान सम्मान्य है।

3. सम्मान को विष के समान तथा अपमान को अमृत के समान बताया गया है। अत: उपमालंकार।

4. आकाङ्क्षेत् — आ + √ काङ्क्ष् + विधिलिङ्ग लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन (कामना करनी चाहिए)।

5. गीता में भी कहा है—"मानापमानयोस्तुल्य:।"

मन्वर्थमुक्तावली—संमानादिति॥ ब्राह्मण: संमानाद्विषादिव सर्वदोद्विजेत संमाने प्रीतिं न कुर्यात्। अमृतस्येव सर्वस्माल्लोकादवमानस्याकाङ्क्षेत्। अवमाने परेण कृतेऽपि क्षमावांस्तत्र खेदं न कुर्यात्। मानावमानद्वन्द्वसहिष्णुत्वमनेन विधीयते॥ 162॥

अवमानसहिष्णुत्वे हेतुमाह—

दूसरे का अपमान करने वाला व्यक्ति नष्ट हो जाता है, इसका कथन करते हैं—

सुखं ह्यवमत: शेते सुखं च प्रतिबुध्यते।
सुखं चरति लोकेऽस्मिन्नवमन्ता विनश्यति॥ 163॥

अन्वय—हि अस्मिन् लोके अवमत: सुखम् शेते च सुखम् प्रतिबुध्यते, सुखम् चरति, अवमन्ता विनश्यति॥ 163॥

अनुवाद—क्योंकि इस संसार में अपमान को प्राप्त व्यक्ति सुखपूर्वक सोता है और सुखपूर्वक जागता है, सुखपूर्वक विचरण करता है, (किन्तु) अपमान करने वाला विनष्ट हो जाता है।

'चन्द्रिका'—यदि व्यक्ति का कोई अपमान करता है तो वह सोचता है कि मैंने तो किसी को दु:ख नहीं दिया, कोई कष्ट नहीं दिया, मैं तो पापी नहीं हूँ, जिसने अपमान किया है, यह उसका कर्म है, उसी को भोगना है। इसलिए अपमानित व्यक्ति सुखपूर्वक निश्चिन्तता से सोता है। उसकी आत्मा पर किसी प्रकार का बोझ नहीं होता। अत: वह सुखपूर्वक जागता है तथा सुखपूर्वक अपने कार्यों को सम्पन्न करता है। इसके विपरीत अपमान करने वाला व्यक्ति अपने पाप से ही नष्ट हो जाता है।

विशेष—1. प्रस्तुत श्लोक का सम्बन्ध पूर्व में आए 'सम्मानात्' इत्यादि के साथ करके भी अर्थ किया जा सकता है।

2. कभी भी किसी का अपमान नहीं करना चाहिए। यदि कोई अपमान करे तो उसे सहर्ष सहन कर लेना चाहिए।

3. अवमतः — अव + √ मन् + क्त (अपमान, अवमानना किया जाने वाला)।

4. प्रतिबुध्यते — प्रति + √ बुध् + लट्लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन, आत्मनेपदी (जागता है)।

5. अवमन्ता — अव + √ मन् + तृच् + प्रथमा विभक्ति, एकवचन (अवमान करने वाला)।

6. विनश्यति — वि + √ नश् + लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन (नष्ट हो जाता है)।

मन्वर्थमुक्तावली—सुखं ह्यवमतः शेत इति॥ यस्मादवमाने परेण कृते तत्र खेदमकुर्वाणः सुखं निद्राति। अन्यथावमानदुःखेन दह्यमानः कथं निद्रां लभते। कथं च सुखं प्रतिबुध्यते। प्रतिबुद्धश्च कथं सुखं कार्येषु चरति। अवमानकर्ता तेन पापेन विनश्यति॥ 163॥

इसके बाद ग्रन्थकार द्विज को ब्रह्मप्राप्ति योग्य तप के आचरण का निर्देश देते हैं—

अनेन क्रमयोगेन संस्कृतात्मा द्विजः शनैः।
गुरौ वसन्संचिनुयाद्ब्रह्माधिगमिकं तपः॥ 164॥

अन्वय—अनेन क्रम-योगेन संस्कृतात्मा द्विजः गुरौ वसन् शनैः ब्रह्मादिगमिकम् तपः संचिनुयात्॥ 164॥

अनुवाद—इस क्रम से संस्कारों से पवित्र आत्मा वाला द्विज गुरु के पास रहता हुआ, धीरे-धीरे ब्रह्मादि को प्राप्त कराने वाले तप को एकत्र करे।

'चन्द्रिका'—इस कहे हुए क्रम के उपाय से जातकर्मादि संस्कारों से लेकर उपनयन संस्कार पर्यन्त संस्कारों द्वारा परिष्कृत आत्मा वाला द्विज-ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र अपने गुरु के आश्रम में निवास करते हुए वेदज्ञान से प्राप्त होने योग्य, मोक्ष प्राप्ति के साधक तप का धीरे-धीरे संचयन करे।

विशेष—1. वेदज्ञान के लिए संस्कारों द्वारा परिष्कृत होना एवं गुरु के सान्निध्य की अनिवार्यता प्रतिपादित की गई है।

2. संस्कृतात्मा — संस्कृतः आत्मा यस्य सः (सम् + √ कृ + क्त) (परिष्कृत आत्मा वाला)।

3. वसन् — √ वस् + शतृ (निवास करते हुए)।

4. संचिनुयात् — सम् + √ चि (चयने) + विधिलिङ्ग लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन (एकत्र करना चाहिए)।

5. ब्रह्मादि गमिकम् — ब्रह्म + आदि + गमिकम् (गम् + ठक्) ब्रह्मादि की प्राप्ति कराने वाला।

मन्वर्थमुक्तावली—अनेनेति॥ अनेन क्रमकथितोपायेन जातकर्मादिनोपनयनपर्यन्तेन संस्कृतो द्विजो गुरुकुले वसन् शनैरत्वरया वेदग्रहणार्थं तपोऽभिहिताभिधास्यमाननियमकलापरूपमनुतिष्ठेत्। विध्यन्तरसिद्धस्याप्ययमर्थवादोऽध्ययनाङ्गत्वबोधनाय॥ 164॥

तत्पश्चात् वेदाध्ययन की विधि का उल्लेख किया जाता है—

तपोविशेषैर्विविधैर्व्रतैश्च विधिचोदितैः।
वेदः कृत्स्नोऽधिगन्तव्यः सरहस्यो द्विजन्मना॥ 165॥

अन्वय—द्विजन्मना विधिचोदितैः तपः विशेषैः व्रतैः सरहस्यः कृत्स्नः वेदः अधिगन्तव्यः॥ 165॥

अनुवाद—द्विज वर्ण में उत्पन्न (व्यक्ति) के द्वारा धर्मशास्त्रों में निर्दिष्ट विशिष्ट तपों से तथा (अनेक प्रकार के) व्रतों द्वारा गूढ़ अर्थ सहित सम्पूर्ण वेद का अध्ययन करना चाहिए।

'चन्द्रिका'—ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य इन द्विज वर्ण में उत्पन्न व्यक्तियों को हमारे धर्मशास्त्रों में जिनका विस्तार से उल्लेख किया गया है, उन विधियों से विशिष्ट तपों एवं व्रतों का आचरण करते हुए, वेद में निहित गूढ़ रहस्यों को समझते हुए सम्पूर्ण वेद का अध्ययन करना चाहिए।

विशेष—1. कुछ विद्वानों ने द्विज का अर्थ ब्राह्मण किया है, किन्तु आचार्य मनु ने प्रायः सर्वत्र द्विज का प्रयोग ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य के लिए किया है।

2. सरहस्यः — रहस्येन सहितः (अव्ययीभाव) रहस्य सहित, कुल्लूक भट्ट आदि कुछ विद्वानों ने सरहस्य का अर्थ 'उपनिषद् सहित' किया है। उपनिषदों की प्रमुखता प्रतिपादित करने के लिए अलग से उल्लेख किया गया है।

3. अधिगन्तव्यः — अधि + √ गम् + तव्यत् (अध्ययन करना चाहिए)।

4. विधिचोदितैः — विधिना चोदितः, विधिचोदितः तैः (शास्त्रोक्त विधि के द्वारा प्रेरित) √ चुद् (प्रेरणे) + णिच् + क्त = चोदितः।

मन्वर्थमुक्तावली—तपोविशेषैरिति॥ तपोविशेषैर्नियमकलापैर्विविधैर्बहुप्रकारैश्च 'अध्येष्यमाणस्त्वाचान्तः' इत्यादिनोक्तैः, 'सेवेतेमांस्तु नियमान्' इत्यादिभिर्वक्ष्यमाणैरपि, व्रतैश्चोपनिषन्महानाम्निकादिभिर्विधिदेशितैः स्वगृह्यविहितैः समग्रवेदो मन्त्रब्राह्मणात्मकः सोपनिषत्कोऽप्यध्येतव्यः। रहस्यमुपनिषदः। प्राधान्यख्यापनाय पृथङ्निर्देशः॥ 165॥

पुनः ब्राह्मण के लिए वेदाभ्यास का निर्देश करते हैं—

वेदमेव सदाभ्यस्येत्तपस्तप्स्यन्द्विजोत्तमः।
वेदाभ्यासो हि विप्रस्य तपः परमिहोच्यते॥ 166॥

अन्वय—इह द्विजोत्तमः तपः तपस्यन् सदा वेदम् एव अभ्यसेत्, हि वेदाभ्यासः विप्रस्य परम् तपः उच्यते॥ 166॥

अनुवाद—इस संसार में ब्राह्मण को तप का आचरण करते हुए सदैव वेदों का ही अभ्यास करना चाहिए, क्योंकि वेदाभ्यास ही ब्राह्मण के लिए सर्वोत्कृष्ट तप कहा जाता है।

'चन्द्रिका'—द्विज वर्णों में श्रेष्ठ ब्राह्मण को इस संसार में रहते हुए ब्रह्मचर्य पालन, प्राणायाम, इन्द्रियों को वश में रखना आदि तपों का आचरण करते हुए हमेशा वेदों के अध्ययन, चिन्तन और मनन का अभ्यास करते रहना चाहिए, क्योंकि ऋषियों, मुनियों एवं विद्वानों ने इस लोक में वेदाभ्यास को ही सर्वोत्कृष्ट तप स्वीकार किया है।

विशेष—1. द्विजोत्तमः — द्विजेषु उत्तमः (सप्तमी तत्पुरुष) द्विजों में श्रेष्ठ, ब्राह्मण।

2. तपस्यन् — √ तप् + असुन् + शतृ (तपस्या करते हुए)।

3. अभ्यसेत् — अभि + √ अस् + विधिलिङ्ग लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन (अभ्यास करना चाहिए)।

4. अभ्यासः — अभि + आ + √ अस् + घञ् (बार-बार एक ही कार्य को करना)।

5. उच्यते — √ ब्रू + कर्मवाच्य (कहा जाता है)।

6. वेदाभ्यास को सर्वोत्कृष्ट तप बताया गया है।

मन्वर्थमुक्तावली—वेदमेवेति॥ यत्र नियमानामङ्गत्वमुक्तं तत्कृत्स्नस्वाध्यायाध्ययनमनेन विधत्ते। तपस्तप्स्यंश्चरिष्यन्द्विजो वेदमेव ग्रहणार्थमावर्तयेत्। तस्माद्वेदाभ्यास एव विप्रादेरिह लोके प्रकृष्टं तपो मुनिभिरभिधीयते॥ 166॥

गृहस्थी द्विज के लिए भी वेदाध्ययन की उपयोगिता का कथन करते हैं—

आ हैव स नखाग्रेभ्यः परमं तप्यते तपः।
यः स्रग्व्यपि द्विजोऽधीते स्वाध्यायं शक्तितोऽन्वहम्॥ 167॥

अन्वय—स्रग्वी अपि यः द्विजः शक्तितः अन्वहम् स्वाध्यायम् अधीते, सः आ-नखाग्रेभ्यः एव ह परमं तपः तप्यते॥ 167॥

अनुवाद—माला को धारण करने वाला भी जो द्विज अपनी शक्ति के अनुसार प्रतिदिन वेदाध्ययन करता है। वह अपने पैर के नाखून से लेकर ही वस्तुतः सर्वश्रेष्ठ तप का आचरण करता है।

'चन्द्रिका'—जो ब्राह्मण, क्षत्रिय अथवा वैश्य गृहस्थ धर्म का पालन करने वाला होते हुए भी अपने शरीर की सामर्थ्य के अनुसार प्रयत्नपूर्वक प्रतिदिन वेद का अध्ययन करता है। वह प्राचीन ऋषियों के मत में निश्चय ही अपने पैर के नाखून से लेकर चोटी पर्यन्त सर्वोत्कृष्ट तप का आचरण करता है। अर्थात् ब्रह्मचर्य आश्रम में किए जाने वाले शरीर को कष्ट देने वाले व्रतों आदि के अभाव में भी गृहस्थ आश्रम में रहने वाला व्यक्ति यदि वेदाध्ययन करता है तो वह सर्वोत्कृष्ट तपस्या से प्राप्त होने वाले फल का भागी होता है।

विशेष—1. गृहस्थाश्रम में व्यक्ति माला आदि का जप करता है। ब्रह्मचर्य आश्रम में इसका निषेध किया गया है।

2. अतः गृहस्थी के लिए भी वेदाध्ययन की महत्ता प्रतिपादित की गई है।

3. द्विज शब्द से अभिप्राय ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य वर्ण के व्यक्तियों से है, केवल ब्राह्मण से नहीं।

4. 'ह' अव्यय पद अपने कथन को प्राचीन ऋषियों द्वारा पुष्ट करने की दृष्टि से बल देने के लिए किया गया है।

5. तप्यते — √ तप् + यक् (आगम) + आत्मनेपद (तपस्तपः कर्मकस्यैव 3/1/88) तप का आचरण करता है।

6. स्रग्वी — मालाधारी — √ स्रज् + विनि — स्रज्विन्। यहाँ इसका प्रयोग गृहस्थी के लिए हुआ है।

7. शक्तितः — शक्ति + तसिल् — शक्ति के अनुसार।

मन्वर्थमुक्तावली—आ हैवेति। स्वाध्यायाध्ययनस्तुतिरियम्। ह शब्दः परमशब्दविहितस्यापि प्रकर्षस्य सूचकः। स द्विज आ नखाग्रेभ्य एव चरणनखपर्यन्तं सर्वदेहव्यापकमेव प्रकृष्टतमं तपस्तप्यते। यः स्रग्व्यपि कुसुममालाधार्यपि प्रत्यहं यथाशक्ति स्वाध्यायमधीते। स्रग्व्यपीत्यनेन वेदाध्ययनाय ब्रह्मचारिनियमत्यागमपि स्तुत्यर्थं दर्शयति। तप्यत इति 'तपस्तपः-कर्मकस्यैव' इति यगात्मनेपदे भवतः ॥ 167 ॥

वेदाध्ययन के अभाव में होने वाले परिणाम से अवगत कराते हैं—

योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम्।
स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः ॥ 168 ॥

अन्वय—यः द्विजः वेदम् अनधीत्य अन्यत्र श्रमम् कुरुते, सः जीवन् एव आशु सान्वयम् शूद्रत्वम् गच्छति ॥ 168 ॥

अनुवाद—जो द्विज वर्ण का (व्यक्ति) वेद को न पढ़कर अन्य शास्त्र में परिश्रम करता है। वह जीवित रहता हुआ भी शीघ्र (अपने) वंश सहित शूद्रत्व को प्राप्त कर लेता है।

'चन्द्रिका'—ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य इन द्विज वर्ण में उत्पन्न जो व्यक्ति वेदों का अध्ययन न करके अन्य अर्थशास्त्र आदि शास्त्रों का अध्ययन करते हुए परिश्रम करता है। वह इसी जन्म में शरीर को धारण करता हुआ शीघ्र ही अपने कुल सहित शूद्रत्व को प्राप्त कर लेता है।

विशेष—1. द्विज वर्ण के व्यक्तियों के लिए वेदाध्ययन की उपयोगिता एवं अनिवार्यता प्रतिपादित की है।

2. सान्वयम् — अन्वयेन सहितम् (अव्ययीभाव) वंश सहित।

3. अनधीत्य — न अधीत्य इति (नञ् समास) नञ् + अधि + √ इण् + ल्यप् (न पढ़कर)।

मन्वर्थमुक्तावली—योऽनधीत्येति।। यो द्विजो वेदमनधीत्यान्यत्रार्थशास्त्रादौ श्रमं यत्नातिशयं करोति स जीवन्नेव पुत्रपौत्रादिसहितः शीघ्रं शूद्रत्वं गच्छति। वेदमनधीत्यापि स्मृतिवेदाङ्गाध्ययने विरोधाभावः। अतएव शङ्खलिखितौ—'न वेदमनधीत्यान्यां विद्यामधीयीतान्यत्र वेदाङ्गस्मृतिभ्यः ॥ 168 ॥'

द्विजानां तत्र तत्राधिकारश्रुतेर्द्विजत्वनिरूपणार्थमाह—

तत्पश्चात् द्विज के तीन जन्मों का कथन करते हैं—

मातुरग्रेऽधिजननं द्वितीयं मौञ्जिबन्धने।
तृतीयं यज्ञदीक्षायां द्विजस्य श्रुतिचोदनात् ॥ 169 ॥

अन्वय—द्विजस्य अग्रे मातुः अधिजननम्, द्वितीयम् मौञ्जी बन्धने श्रुतिचोदनात् यज्ञदीक्षायाम् तृतीयम् जन्म ॥ 169 ॥

अनुवाद—द्विज का पहला जन्म माता की कोख से, दूसरा मौञ्जी के बन्धन पर तथा वेद के निर्देशानुसार यज्ञ की दीक्षा में तीसरा जन्म (होता है)।

'चन्द्रिका'—ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य इन तीन द्विज वर्ण के व्यक्तियों का सबसे पहला जन्म माता के गर्भ से संसार में आगमन माना गया है।

दूसरा जन्म, जब गुरु के आश्रम में जाकर वह मौञ्जीबन्धन कराता है, उस समय होता है। इसके अतिरिक्त जब वह शास्त्रों के अनुसार वेद का प्रारम्भ अथवा यज्ञ की दीक्षा प्राप्त करता है, उस समय उसका तीसरा जन्म माना गया है। इस प्रकार द्विज के कुल तीन जन्म होते हैं। अर्थात् वह तीन बार उत्पन्न होता है।

विशेष—1. मौञ्जी बन्धन से यहाँ यज्ञोपवीत संस्कार से अभिप्राय है।

2. मौञ्जिबन्धने — मुञ्ज् + अण् = मौञ्ज (मूँज से बनी करधनी, तगड़ी) + ङीप् = मौञ्जी तस्याः बन्धने।

3. यहाँ 'ङ्यापोः संज्ञाछन्दसोर्बहुलम्' इत्यादि पाणिनीय सूत्र (6/3/63) से मौञ्जी के ईकार को ह्रस्व होकर मौञ्जिबन्धने रूप सम्पन्न हुआ है।

4. प्रस्तुत श्लोक में द्विज के तीन जन्मों—मातृयोनि, उपनयन संस्कार तथा यज्ञ की दीक्षा (वेदाध्ययन) का कथन किया गया है।

5. यद्यपि कुछ विद्वानों ने यज्ञ दीक्षा केवल ब्राह्मणों के लिए मानी है, किन्तु प्रस्तुत श्लोक स्पष्ट रूप से द्विज वर्ण के व्यक्ति के लिए जिसमें वैश्य भी सम्मिलित है, इसका निर्देश करता है।

6. यज्ञदीक्षा का श्रुतियों में भी उल्लेख हुआ है—"**पुन र्वा यदृत्विजो यज्ञिरां कुर्वन्ति यद्दीक्षयन्ति।**"

मन्वर्थमुक्तावली—मातुरग्र इति॥ मातुः सकाशादादौ पुरुषस्य जन्म। द्वितीयं मौञ्जिबन्धने उपनयने। 'ङ्यापोः संज्ञाछन्दसोर्बहुलम्' इति ह्रस्वः। तृतीयं ज्योतिष्टोमादियज्ञ-दीक्षायां वेदश्रवणात्। तथाच श्रुतिः—'पुनर्वा यदृत्विजो यज्ञियं कुर्वन्ति यद्दीक्षयन्ति' इति। प्रथमद्वितीयतृतीयजन्मकथनं चेदं द्वितीयजन्मस्तुत्यर्थं, द्विजस्यैव यज्ञदीक्षायामप्य-धिकारात्॥ 169॥

पुनः उपनयन संस्कार में होने वाले माता एवं पिता का कथन करते हैं—

तत्र यद्ब्रह्मजन्मास्य मौञ्जीबन्धनचिह्नितम्।
तत्रास्य माता सावित्री पिता त्वाचार्य उच्यते॥ 170॥

अन्वय—तत्र अस्य यत् मौञ्जीबन्धनचिह्नितम् ब्रह्मजन्म तत्र अस्य सावित्री माता तु आचार्य पिता उच्यते॥ 170॥

अनुवाद—उनमें इसका जो मौञ्जीबन्धन से लक्षित वेदाध्ययन (अधिकार) रूप जन्म है, उसमें इसकी सावित्री माता होती है और आचार्य पिता कहा जाता है।

'चन्द्रिका'—द्विज के तीन जन्मों 'मातुरग्रे' इत्यादि श्लोक में कथन किया, उन तीन जन्मों में से इस द्विज का मौञ्जीबन्धन रूप उपनयन संस्कार के परिणामस्वरूप वेद के अध्ययन करने के अधिकार को प्राप्त करना रूप जन्म होता है। इसमें उस द्विज की माता सावित्री मन्त्र तथा उस मन्त्र का देने वाला आचार्य ही पिता कहलाता है।

विशेष—1. उपनीत द्विज के द्वितीय जन्म के समय 'सावित्री' को माता तथा आचार्य को पिता बताया गया है।

2. वेदों में शुल्क लिए बिना अध्यापन करने वाला आचार्य होता है।

3. तत् सवितुर्वरेण्यं, भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रोचदयात्। यह तीन पादयुक्त मन्त्र ही सावित्री है।

4. आचार्य — आ + √ चर् + ण्यत्।

5. निरुक्तकार ने आचार्य को इस प्रकार परिभाषित किया है—आचारं ग्राह्यति, आचिनोति अर्थान्।

6. चिह्नितम् — √ चिह्न् + क्त (संकेतित)।

मन्वर्थमुक्तावली—तत्रेति॥ तेषु त्रिषु जन्मसु मध्ये यदेतद्ब्रह्मग्रहणार्थं जन्मोपनयनसं-स्काररूपं मेखलाबन्धनोपलक्षितं तत्रास्य माणवकस्य सावित्री माता, आचार्यश्च पिता। मातृपितृसंपाद्यत्वाज्जन्मनः॥ 170॥

आचार्य को पिता कहे जाने के औचित्य का प्रतिपादन करते हैं—

वेदप्रदानादाचार्यं पितरं परिचक्षते।
न ह्यस्मिन्युज्यते कर्म किंचिदामौञ्जिबन्धनात्॥ 171॥

अन्वय—वेदप्रदानात् आचार्यम् पितरम् परिचक्षते, हि अस्मिन् आमौञ्जिबन्धनात् किञ्चित् कर्म न युज्यते॥ 171॥

अनुवाद—वेद (के ज्ञान) को देने के कारण आचार्य को पिता कहा जाता है, क्योंकि इस (बालक) में मौञ्जीबन्धन से पूर्व कोई (वैदिक) कर्म किया जाना उचित नहीं होता है।

'चन्द्रिका'—द्विज वर्ण का बालक उपनयन संस्कार किए जाने के बाद ही किसी भी वैदिक कर्म को करने का अधिकारी होता है, इससे पूर्व वह किसी भी वेद-सम्बन्धी कर्म को करने में समर्थ नहीं होता है तथा आचार्य उपनयन संस्कार के बाद ही उसे वेद-विषयक-ज्ञान प्रदान करता है। अतः शास्त्रीय व्यवस्था के अनुसार वेद सम्बन्धी ज्ञान देने वाले को आचार्य कहते हैं और इसी दृष्टि से वह उसका पिता भी कहलाता है।

विशेष—1. वस्तुतः आचार्य बालक को वेद-ज्ञान प्रदान कर उसे आध्यात्मिक दृष्टि से नया जीवन प्रदान करता है। इसीलिए उसे पिता कहते हैं।

2. **परिचक्षते** — परि + √ चक्ष् + (लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन, आत्मने) कहा जाता है।

3. उपनयन संस्कार के पश्चात् ही बालक वेद-ज्ञान प्राप्त करने का अधिकारी होता है।

मन्वर्थमुक्तावली—वेदप्रदानादिति॥ वेदाध्यापनादाचार्यं पितरं मन्वादयो वदन्ति। पितृवन्महोपकारफलाद्गौणं पितृत्वम्। महोपकारमेव दर्शयति—न ह्यस्मिन्निति। यस्मादस्मिन्माणवके प्रागुपनयनात्किंचित्कर्म श्रौतं स्मार्तं च न संबध्यते। न तत्राधिक्रियत इत्यर्थः॥ 171॥

तत्पश्चात् उपनयन संस्कार के बाद ही वेदमन्त्रों के उच्चारण का निर्देश करते हैं—

नाभिव्याहारयेद्ब्रह्म स्वधानिनयनादृते।
शूद्रेण हि समस्तावद्यावद्वेदेन जायते॥ 172॥

अन्वय—स्वधा निनयनात् ऋते ब्रह्म न अभिव्याहारयेत् हि यावत् वेदेन जायते तावत् शूद्रेण समः॥ 172॥

अनुवाद—श्राद्ध के मन्त्रों को छोड़कर अन्य वेदमन्त्रों का उच्चारण (उपनयन संस्कार से पहले) नहीं करना चाहिए, क्योंकि जब तक वेद (रूप उपनयन) के द्वारा वह उत्पन्न नहीं होता है, तब तक वह शूद्र के समान (ही होता है)।

'चन्द्रिका'—जब तक द्विज बालक का उपनयन संस्कार सम्पन्न नहीं किया जाता है, तब तक एक प्रकार से वह शूद्र के समान ही होता है। इसलिए इस स्थिति में उसे श्राद्ध-विषयक मन्त्रों को छोड़कर अन्य वेदमन्त्रों का उच्चारण नहीं करना चाहिए, क्योंकि शूद्र के लिए वेद मन्त्रों के उच्चारण का निषेध किया गया है।

विशेष—1. 'जन्मना जायते शूद्रः संस्काराद् द्विज उच्यते', इसी दृष्टि से उपनयन संस्कार के अभाव में उसे शूद्र के समान कहा गया है।

2. श्राद्ध-विषयक मन्त्रों के उच्चारण की उपनयन के अभाव में भी द्विज के लिए अनुमति प्रदान की गई है।

3. पितरों के लिए 'स्वधा' उच्चारण करके आहुति प्रदान की जाती है।

4. निनयनात् — नि + √ नी + ल्युट् (पञ्चमी विभक्ति, एकवचन) अनुष्ठान से।

5. 'ऋते' के योग में 'निनयनात्' में पञ्चमी विभक्ति का प्रयोग।

6. अभिव्याहारेत् — अभि + वि + आ + √ हृ (विधिलिङ्ग लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन) उच्चारण करना चाहिए।

7. इस श्लोक को अर्थ के लिए पूर्व श्लोक के साथ सम्बद्ध करना होगा 'मौञ्जीबन्धन से पहले।'

मन्वर्थमुक्तावली—नाभिव्याहारयेदिति॥ आमौञ्जिबन्धनादित्यनुवर्तते। प्रागुपनयनाद्वेदं नोच्चारयेत्। स्वधाशब्देन श्राद्धमुच्यते। निनीयते। निष्पाद्यते येन मन्त्रजातेन तद्वर्जयित्वा मृतपितृको नवश्राद्धादौ मन्त्रमुच्चारयेत्। तव्द्यतिरिक्तं वेदं नोदाहरेत्। यस्माद्यावद्वेदेन जायते तावदसौ शूद्रेण तुल्यः॥ 172॥

उपनयन के बाद ही द्विज विधिपूर्वक वेदाध्ययन कर सकता है—

कृतोपनयनस्यास्य व्रतादेशनमिष्यते।
ब्रह्मणो ग्रहणं चैव क्रमेण विधिपूर्वकम्॥ 173॥

अन्वय—कृतोपनयनस्य अस्य व्रतादेशनम् च क्रमेण विधिपूर्वकम् ब्रह्मणः ग्रहणम् इष्यते॥ 173॥

अनुवाद—जिसका उपनयन संस्कार सम्पन्न हो चुका है, इसके (लिए ही) व्रतों का आदेश तथा क्रमशः (धर्मशास्त्र के) विधिविधान के अनुसार वेदों का अध्ययन अपेक्षित (कल्याणकारी) होता है।

'चन्द्रिका'—जिस द्विज बालक का मौञ्जीबन्धनादि के साथ उपनयन संस्कार सम्पन्न किया जा चुका है। उसके लिए ही सन्ध्योपासना आदि व्रतों का पालन तथा धर्मशास्त्रों द्वारा बताए गए विधि-विधान के अनुसार वेदों का अध्ययन उचित होता है। इस प्रकार किया गया अध्ययन ही कल्याणों को प्रदान करता है।

विशेष—1. कृतोपनयनस्य-कृतं उपनयनं यस्य सः तस्य (कर दिया गया है उपनयन संस्कार जिसका वह) बहुव्रीहि समास।

2. ग्रहणम् — √ ग्रह् + ल्युट् (ग्रहण करना)।

3. इष्यते — √ इष् + लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन, आत्मनेपद (अभिप्रेत होता है)।

4. ब्रह्म शब्द यहाँ वेद के लिए प्रयुक्त हुआ है।

5. व्रतादि के पालन के लिए उपनयन संस्कार की आवश्यकता प्रतिपादित की है।

6. गृह्यसूत्रों में 'समिधमाधेहि', 'दिवा मा स्वाप्सीः' आदि व्रतों का आदेश दिया गया है।

मन्वर्थमुक्तावली—कृतोपनयनस्येति॥ यस्मादस्य माणवकस्य 'समिधमाधेहि' 'दिवा मा स्वाप्सी:' इत्यादिव्रतादेशनं वेदस्याध्ययनं मन्त्रब्राह्मणक्रमेण 'अध्येष्यमाणस्त्वाचान्त:' इत्यादिविधिपूर्वकमुपनीतस्योपदिश्यते। तस्मादुपनयनात्पूर्वं न वेदमुदाहरेत्॥ 173॥

ब्रह्मचारी द्वारा व्रतों के अनुष्ठान के समय दण्ड, मेखला आदि का कथन करते हैं—

यद्यस्य विहितं चर्म यत्सूत्रं या च मेखला।
यो दण्डो यच्च वसनं तत्तदस्य व्रतेष्वपि॥ 174॥

अन्वय—यस्य यत् चर्म, यत् सूत्रम् विहितम्, च या मेखला, दण्ड: यत् च वसनम् तत् तत् अस्य व्रतेषु अपि (जानीयात्)॥ 174॥

अनुवाद—जिसका जो चर्म, जो सूत्र निर्धारित किया गया है और जो मेखला, दण्ड और जो वस्त्र (कहे गए हैं)। वही वही इसके व्रतों में भी समझना चाहिए।

'चन्द्रिका'—द्विज वर्ण में उत्पन्न व्यक्ति के लिए ब्रह्मचर्य आश्रम में वर्ण के अनुसार निर्धारित चर्म, सूत्र, मेखला, दण्ड और वस्त्रों को ही ब्रह्मचर्य-आश्रम के पश्चात् आरम्भ होने वाले गृहस्थाश्रम में किसी व्रतादि को करते समय धारण करना चाहिए। अर्थात् जैसे ब्राह्मण वर्ण के व्यक्ति के लिए मृगचर्म आदि चिह्न धारण करने का विधान किया गया है। अत: उसे गृहस्थाश्रम में व्रतों का आचरण करते समय इन्हीं निर्धारित चिह्नों को ही धारण करके व्रत सम्पन्न करने चाहिएँ।

विशेष—1. यह व्यवस्था तीनों द्विज वर्णों के लिए की गई है।

2. गृहस्थाश्रम में व्रत पालन करते समय निर्धारित चिह्नों को धारण करने की वर्णानुसार व्यवस्था का कथन किया है।

3. विहितम् — वि + √ धा + क्त (निर्धारित किया गया)।

4. व्रतों से अभिप्राय यहाँ 'गोदानादि व्रतों से' ग्रहण करना चाहिए।

मन्वर्थमुक्तावली—यद्यस्येति॥ यस्य ब्रह्मचारिणो यानि चर्मसूत्रमेखलादण्डवस्त्राण्युपनयनकाले गृह्येण विहितानि, गोदानादिव्रतेष्वपि तान्येव नवानि कर्तव्यानि॥ 174॥

तत्पश्चात् गुरुकुल में ब्रह्मचारी के कर्तव्यों का उल्लेख करते हैं—

सेवेतेमांस्तु नियमान्ब्रह्मचारी गुरौ वसन्।
सन्नियम्येन्द्रियग्रामं तपोवृध्द्यर्थमात्मन:॥ 175॥

अन्वय—तु गुरौ वसन् ब्रह्मचारी आत्मन: तपोवृद्ध्यर्थम् इन्द्रियग्रामम् सन्नियम्य इमान् नियमान् सेवेत॥ 175॥

अनुवाद—किन्तु गुरु के समीप रहता हुआ, ब्रह्मचारी अपने तप की वृद्धि के लिए, इन्द्रियों के समुदाय को भलीप्रकार नियन्त्रित करके इन नियमों का सेवन करे।

'चन्द्रिका'—ब्रह्मचारी चाहे वह किसी भी द्विज वर्ण का हो, गुरुकुल में गुरु के

सान्निध्य में रहते हुए सर्वप्रथम अपने इन्द्रिय-समूह को भली-भाँति नियन्त्रित करे, इससे उसके तप में निश्चय ही वृद्धि होगी। साथ ही जितेन्द्रिय होकर वह नित्य-स्नानादि अग्रिम श्लोक में बताए गए नियमों का पालन ठीक प्रकार करे।

विशेष—1. सन्नियम्य — सम् + नि + √ यम् + ल्यप् (क्त्वा) भली प्रकार नियन्त्रित करके।

2. इन्द्रियग्रामम् — इन्द्रियों का समूह। इसके अन्तर्गत पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ तथा एक मन सभी ग्यारह इन्द्रियों का कथन किया गया है।

3. तप की वृद्धि के लिए इन्द्रियों का नियन्त्रित करना और निर्दिष्ट नियमों के पालन की अनिवार्यता प्रतिपादित की है।

4. वसन् — √ वस् + शतृ — निवास करता हुआ।

5. गुरु के अत्यन्त निकट निवास का कथन करने के लिए 'गुरौ' में सप्तमी विभक्ति, क्योंकि शास्त्रों में शिष्य को गुरु के गर्भ में रहने का कथन भी किया गया है।

मन्वर्थमुक्तावली—सेवेतेति॥ ब्रह्मचारी गुरुसमीपे वसन्निन्द्रियसंयमं कृत्वानुगतादृष्टवृद्ध्यर्थमिमान्नियमाननुतिष्ठेत्॥ 175॥

पुनः गुरुकुल में ब्रह्मचारी को क्या-क्या करना चाहिए कहते हैं—

नित्यं स्नात्वा शुचिः कुर्याद्देवर्षिपितृतर्पणम्।
देवताभ्यर्चनं चैव समिदाधानमेव च॥ 176॥

अन्वय—नित्यम् स्नात्वा शुचिः (भूत्वा) देवर्षिपितृतर्पणम् च देवताभ्यर्चनम् समिदाधानम् च एव कुर्यात्॥ 176॥

अनुवाद—(ब्रह्मचारी को) रोजाना स्नान करके, पवित्र (होकर) देव, ऋषि, पितरों का तर्पण तथा देवताओं का अर्चन तथा अग्निहोत्र ही करना चाहिए।

'चन्द्रिका'—ब्रह्मचारी को गुरुकुल में प्रतिदिन स्नान करके अपने शरीर को सर्वप्रथम पवित्र करना चाहिए तथा उसके पश्चात् देवताओं, ऋषियों एवं पितरों को तर्पण करना चाहिए। पुनः विष्णु, शिव आदि देवताओं की प्रतिमा आदि का पूजन करना चाहिए तथा उसके बाद यज्ञ-हवन आदि सम्पन्न करना चाहिए।

विशेष—1. ब्रह्मचारी के लिए प्रतिदिन स्नान करके पवित्र रहने का निर्देश दिया गया है। गौतम ने धर्मसूत्र में ब्रह्मचारी के सुख स्नान का निषेध किया है—"नाप्सु श्लाघमान् स्नायात्।"

2. उसकी तीन क्रियाओं—तर्पण, अर्चन तथा हवन की अनिवार्यता प्रतिपादित की है।

3. स्नात्वा— √ स्ना + क्त्वा (स्नान करके) यह स्नान त्रिकालिक प्रातः, दोपहर तथा सायं तीनों समय में करने का भी उल्लेख मिलता है।

4. तर्पणम् — √ तृप् + ल्युट् (तृप्त करना) स्नानादि के पश्चात् अंजलि से जल देना चाहिए।

5. अर्चनम् — √ अर्च् + ल्युट् (पूजा करना)।

6. समिदाधानम् — समिदाया: आधानम् (षष्ठी तत्पुरुष) समिदा का आधान आग्निहोत्र।

मन्वर्थमुक्तावली—नित्यमिति॥ प्रत्यहं स्नात्वा देवर्षिपितृभ्य उदकदानं, प्रतिमादिषु हरिहरादिदेवपूजनं, सायंप्रातश्च समिद्धोमं कुर्यात्। यस्तु गौतमीये स्नाननिषेधो ब्रह्मचारिण: स सुखस्नानविषय:। अतएव बौधायन:—'नाप्सु श्लाघमान: स्नायात्'। विष्णुनात्र 'कालद्वयम-भिषेकाग्निकार्यकरणमप्सु दण्डवन्मज्जनम्' इति ब्रुवाणेन वारद्वयं स्नानमुपदिष्टम्॥ 176॥

ब्रह्मचारी के लिए निषेधों का कथन करते हैं—

वर्जयेन्तमधु मांसं च गन्धं माल्यं रसान्स्त्रिय:।
शुक्तानि यानि सर्वाणि प्राणिनां चैव हिंसनम्॥ 177॥

अन्वय—(ब्रह्मचारी) मधु, मांसम्, गन्धम्, माल्यम्, रसान्, स्त्रिय: यानि शुक्तानि सर्वाणि च प्राणिनाम् हिंसनम् एव वर्जयेत्॥ 177॥

अनुवाद—ब्रह्मचारी को मधु, मांस, गन्ध, माला, रस, स्त्रियाँ, जो (विभिन्न प्रकार की) खटाई आदि हैं, वे सब तथा प्राणियों की हिंसा का भी परित्याग करना चाहिए।

'चन्द्रिका'—ब्रह्मचर्य आश्रम में गुरु के समीप निवास करने वाले ब्रह्मचारी को मद्य-पान, मांस-भक्षण, विविध प्रकार की सुगन्धियों—कर्पूर-चन्दन, कस्तूरी, सेन्ट आदि का प्रयोग, पुष्प माला को धारण करना, षड्रस (मधुर, अम्ल, लवण, कटु, कषाय और तिक्त) युक्त पदार्थों का प्रयोग, सुन्दरियों का सान्निध्य, सम्पर्क, भोगादि तथा ऐसे पदार्थ जिनका सड़ाकर निर्माण किया जाता है, जैसे सिरका आदि एवं प्राणियों की हिंसा, इन सभी का पूर्णरूप से परित्याग करना चाहिए।

विशेष—1. वर्जयेत् — √ वृज् + विधिलिङ्ग लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन (छोड़ देना चाहिए)।

2. हिंसनम् — √ हिंस् + ल्युट् (हिंसा करना)।

3. गन्ने आदि का मधुररस एक विशेष प्रकार की विधि से कुछ समय तक रखा जाता है तो उसमें विशेष प्रकार का खटास एवं कसैलापन उत्पन्न हो जाता है। इसी प्रकार के सिरके आदि के लिए यहाँ 'शुक्त' पद का प्रयोग हुआ है।

4. प्रस्तुत श्लोक में गिनाए गए भोग-पदार्थों का ब्रह्मचर्यावस्था में पूर्णतया निषेध किया है।

मन्वर्थमुक्तावली—वर्जयेदिति॥ क्षौद्रं मांसं च न खादेत्। गन्धं च कर्पूरचन्दनकस्तूरि-कादि वर्जयेत्। एषां च गन्धानां यथासम्भवं भक्षणमनुलेपनं च निषिद्धम्। माल्यं च न धारयेत्।

उद्रिक्तरसांश्च गुडादीन्न खादेत्। स्त्रियश्च नोपेयात्। यानि स्वभावतो मधुरादिरसानि कालवशेनोद-कवासादिना चाम्लयन्ति तानि शुक्तानि न खादेत्। प्राणिनां हिंसा न कुर्यात्॥ 177॥

इसी क्रम में ब्रह्मचारी के लिए कुछ अन्य निषेधों का कथन करते हैं—

अभ्यङ्गमञ्जनं चाक्ष्णोरुपानच्छत्रधारणम्।
कामं क्रोधं च लोभं च नर्तनं गीतवादनम्॥ 178॥

अन्वय—(सः) अभ्यङ्गम् अक्ष्णोः अञ्जनम् च उपानत् छत्रधारणम् कामम्, क्रोधम् च लोभम् च नर्तनम् गीतवादनम् (वर्जयेत्) ॥ 178॥

अनुवाद—(उसे) उबटन, आँखों में काजल और जूते (पहनना), छत्र धारण करना, काम, क्रोध, लोभ तथा नृत्य, गीत एवं संगीत को (छोड़ देना चाहिए)।

'चन्द्रिका'—ब्रह्मचारी को अपने शरीर में तेल मालिश करना, उबटन आदि लगाना, नेत्रों में काजल आदि का प्रयोग, जूते धारण करना, छाता आदि धारण करना, इन सब बातों का परित्याग कर देना चाहिए। साथ ही उसे काम, क्रोध, लोभ इन सभी मन के विकारों से भी दूर रहना चाहिए तथा नाचना, गाना, बजाना आदि को भी छोड़ देना चाहिए।

विशेष—1. ब्रह्मचारी को इन सभी व्यसनों से दूर रहने का निर्देश दिया गया है।

2. अभ्यङ्गम् — अभि + √ अञ्ज् + घञ् (तेल मालिश करना, उबटनादि लगाना)।

3. कुछ विद्वानों ने 'अभ्यङ्गम्' का अर्थ अंगों का मर्दन अर्थात् बिना कारण उपस्थेन्द्रिय का स्पर्श करना किया है।

4. काम, क्रोध तथा लोभ का कथन करने से मोह, भय, शोक, ईर्ष्या, द्वेष आदि दुर्गुणों की अभिव्यक्ति भी 'च' के द्वारा हो रही है।

5. 'वर्जयेत्' क्रिया पद की अनुवृत्ति इससे पूर्व प्रयुक्त श्लोक 'वर्जयेन्मधु' से करनी होगी।

6. गीता में काम, क्रोध एवं लोभ को नरक का द्वार बताया गया है—

"त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।"

7. नर्तनम् — √ नृत् + ल्युट् (नाचना)।

8. ब्रह्मचारी भले ही राजा का पुत्र हो उसके लिए भी इन सबका निषेध किया है।

मन्वर्थमुक्तावली—अभ्यङ्गमिति॥ तैलादिना शिरःसहितदेहमर्दनलक्षणं, कज्जलादि-भिश्च चक्षुषोरञ्जनं, पादुकायाश्छत्रस्य च धारणं, कामं मैथुनातिरिक्तविषयाभिलाषातिशयम्। मैथुनस्य स्त्रिय इत्यनेनैव निषिद्धत्वात्। क्रोधलोभनृत्यगीतवीणापणवादि वर्जयेत्॥ 178॥

इसी क्रम में आगे कहते हैं—

द्यूतं च जनवादं च परिवादं तथानृतम्।
स्त्रीणां च प्रेक्षणालम्भमुपघातं परस्य च॥ 179॥

अन्वय—(सः) द्यूतम्, जनवादम् च परिवादम् तथा अनृतम् च स्त्रीणाम् प्रेक्षण, आलम्भम् च परस्य उपघातम् (परिवर्जयेत्)॥ 179॥

अनुवाद—(उसको) जुआ, लोगों के साथ झगड़ा और दूसरों की निन्दा करना तथा असत्य सम्भाषण और स्त्रियों को देखना, उनका आलिंगन एवं दूसरे का अपकार करना (इन सबका) परित्याग कर देना चाहिए।

'चन्द्रिका'—ब्रह्मचारी कभी भी जुआ नहीं खेले, दूसरों के साथ अनावश्यक अकारण झगड़ा न करे, ईर्ष्या आदि के कारण दूसरों की निन्दा न करे, कभी भी असत्य भाषण न करे, स्त्रियों की ओर दृष्टिपात न करे, उनका स्पर्श, आलिंगन आदि भी न करें, क्योंकि इससे ब्रह्मचारी का ब्रह्मचर्य विचलित होता है। साथ ही उसे कभी दूसरे का अपकार भी नहीं करना चाहिए।

विशेष—1. स्त्रियों का सान्निध्य ब्रह्मचर्य में सबसे बड़ा बाधक है। अतः मनु द्वारा उनके साथ बोलना, स्पर्श करना यहाँ तक की उनकी ओर देखने तक का भी निषेध किया गया है।

2. द्यूतम् — √ दिव् + क्त (ऊठ्) जुआ खेलना। आचार्य मनु का इस विषय में कथन है—**अप्राणिभि र्यत्क्रियते तल्लोके द्यूतमुच्यते (मनु. 9/223)**

3. जनः — √ जन् + अच्। वादः — √ वद् + घञ् (लोगों के साथ झगड़ा)।

4. प्रेक्षण — प्र + √ ईक्ष् + ल्युट् = देखना।

मन्वर्थमुक्तावली—द्यूतं चेति॥ अक्षक्रीडां, जनैः सह निरर्थवाक्कलहं, परस्य दोषवादं, मृषाभिधानं, स्त्रीणां च मैथुनेच्छया सानुरागेण प्रेक्षणालिङ्गनं, परस्य चापकारं वर्जयेत्॥ 179॥

पुनः ब्रह्मचारी के लिए कहते हैं—

एकः शयीत सर्वत्र न रेतः स्यन्दयेत्क्वचित्।
कामाद्धि स्कन्दयन्रेतो हिनस्ति व्रतमात्मनः॥ 180॥

अन्वय—सर्वत्र एकः शयीत, क्वचित् रेतः न स्कन्दयेत् हि कामात् रेतः स्कन्दयन् आत्मनः व्रतम् हिनस्ति॥ 180॥

अनुवाद—सभी स्थानों पर अकेला शयन करे, कहीं वीर्य का स्खलन नहीं करना चाहिए, क्योंकि कामवासना से वीर्यपात करते हुए (वह) अपने व्रत को नष्ट कर डालता है।

'चन्द्रिका'—ब्रह्मचारी को हमेशा अकेले ही सोना चाहिए। यहाँ तक की अपने माता-पिता, भाई बहन अथवा सहपाठी के साथ भी शयन नहीं करना चाहिए। उसे अपने वीर्य की प्रयत्नपूर्वक रक्षा करनी चाहिए, उसका कहीं भी पतन नहीं करना चाहिए, क्योंकि स्वेच्छा से अथवा कामवासना से वीर्यपात करने पर उसका ब्रह्मचर्य-व्रत खण्डित हो जाता है।

विशेष—1. ब्रह्मचारी के लिए वीर्य-रक्षण का बलपूर्वक निर्देश किया गया है।

2. किसी दूसरे के साथ सोने पर ब्रह्मचर्य के खण्डित होने की सम्भावना रहती है। व्रत से यहाँ 'ब्रह्मचर्य व्रत' से अभिप्राय है।

3. रेतः — √ री + असुन्, तुट् च (वीर्य, धातु शुक्र) इसो शरीर का सर्वश्रेष्ठ अंश माना जाता है।

4. शयीत — √ शी + विधिलिङ्ग लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन आत्मने (सोना चाहिए)।

5. स्कन्दयेत् — √ स्कन्द् + विधिलिङ्ग लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन (छोड़ना, टपकाना चाहिए)।

6. स्कन्दयन् — स्कन्द् + शतृ (छोड़ता हुआ)।

7. हिनस्ति — √ हिंस् + लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन (नष्ट कर देता है)।

मन्वर्थमुक्तावली—एक इति॥ सर्वत्र नीचशय्यादावेकाकी शयनं कुर्यात्। इच्छया न स्वशुक्रं पातयेत्। यस्मादिच्छया स्वमेहनाच्छुक्रं पातयन्स्वकीयव्रतं नाशयति। व्रतलोपे चावकीर्णिप्रायश्चितं कुर्यात्॥ 180॥

तत्पश्चात् अनिच्छापूर्वक वीर्यपात के प्रायश्चित् का प्रतिपादन करते हैं—

स्वप्ने सिक्त्वा ब्रह्मचारी द्विजः शुक्रमकामतः।
स्नात्वार्कमर्चयित्वा त्रिः पुनर्मामित्यृचं जपेत्॥ 181॥

अन्वय—ब्रह्मचारी द्विजः स्वप्ने अकामतः शुक्रम् सिक्त्वा, स्नात्वा अर्कम् अर्चयित्वा 'पुन र्माम' इति ऋचं त्रिः जपेत्॥ 181॥

अनुवाद—ब्रह्मचारी द्विज स्वप्न में अनिच्छापूर्वक वीर्य के गिर जाने पर, स्नान करके सूर्य का पूजन करके 'पुनर्माम' इत्यादि ऋग्वेद के मन्त्र को तीन बार जपे।

'चन्द्रिका'—यदि द्विज वर्ण के ब्रह्मचारी का किसी कारणवश स्वप्न में उसके न चाहते हुए वीर्यपात हो जाए तो उसे प्रातः उठकर सर्वप्रथम जल के द्वारा स्नान करना चाहिए तथा भगवान् सूर्य को प्रणाम करने के पश्चात् शास्त्रोक्त-विधि से पूजन करके, ऋग्वेद में प्रयुक्त 'पुनर्माम' इत्यादि मन्त्र का तीन बार जप करना चाहिए। ऐसा करने से उसके वीर्यदोष का निवारण हो जाएगा।

विशेष—1. अनिच्छापूर्वक स्वप्न में भी ब्रह्मचारी के वीर्यपतन को दोष प्रतिपादित किया है।

2. सिक्त्वा — √ सिच् + क्त्वा (सींचकर)।

3. अन्जाने भी वीर्यपतन के दोष के प्रायश्चित का उल्लेख हुआ है।

4. अकामतः — न कामतः इति (नञ् तत्पुरुष) काम + तसिल् = कामतः (न चाहते हुए)।

5. स्नात्वा — √ स्ना + क्त्वा (स्नान करके)।

6. अर्चयित्वा — √ अर्च् + क्त्वा (पूजन करके)।

मन्वर्थमुक्तावली—स्वप्न इति॥ ब्रह्मचारी स्वप्नादावनिच्छया रेत: सिक्त्वा कृतस्नानश्चन्दनाद्यनुलेपनपुष्पधूपादिभि: सूर्यमभ्यर्च्य 'पुनर्मामैत्विन्द्रियम्' इत्येतामृतं वारत्रयं पठेत् इदमत्र प्रायश्चित्तम्॥ 181॥

तत्पश्चात् ब्रह्मचारी के दैनिक कर्तव्यों का कथन करते हैं—

उदकुम्भं सुमनसो गोशकृन्मृत्तिकाकुशान्।
आहरेद्यावदर्थानि भैक्षं चाहरहश्चरेत्॥ 182॥

अन्वय—उदकुम्भम् सुमनस: गोशकृत् मृत्तिका कुशान् यावत् अर्थानि आहरेत् च भैक्षम् अह: अह: चरेत्॥ 182॥

अनुवाद—पानी का घड़ा, पुष्प, गाय का गोबर, मिट्‌टी और कुश जितनी आवश्यकता हो (उतनी ही) लानी चाहिए और भिक्षाटन प्रतिदिन करना चाहिए।

'चन्द्रिका'—ब्रह्मचारी का कर्तव्य है कि वह अपने आचार्य की आवश्यकतानुसार केवल उतनी ही मात्रा में इन वस्तुओं का वन से आहरण करे। जैसे—जल भर कर घड़ा, आवश्यकतानुसार पूजा के लिए ताजे पुष्प, पृथ्वी पर लीपने के लिए गाय का गोबर, पवित्र स्थान से मिट्टी तथा यज्ञ में काम आने वाली पवित्र कुशा घास। ऐसा नहीं कि ब्रह्मचारी एक ही बार में ये सभी वस्तुएँ लाकर अत्यधिक मात्रा में आश्रम में रख दे। ठीक इसी प्रकार ब्रह्मचारी को गुरु की आज्ञानुसार प्रतिदिन जाकर भिक्षाटन करके गुरु को अर्पित करना चाहिए।

विशेष—1. यज्ञशाला की साफ-सफाई एवं पवित्रता बनाए रखने के लिए गाय का गोबर और पवित्र मिट्टी का 'लेप' किया जाता है।

2. 'यावदर्थानि' का अभिप्राय 'आचार्य की आवश्यकता के अनुसार' से है।

3. यज्ञ-स्थल की पवित्रता के लिए गाय का गोबर अनिवार्य बताया गया है।

4. आहरेत् — आ + √ हृ + विधिलिङ्ग लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन (लेकर आए, लाना चाहिए)।

5. भैक्षम् — भिक्षा + अण् (भिक्षा में प्राप्त)।

6. चरेत् — √ चर् + विधिलिङ्ग लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन (विचरण करे)।

मन्वर्थमुक्तावली—उदकुम्भमिति॥ जलकलशपुष्पगोमयमृत्तिकाकुशान्यावदर्थानि यावद्भि: प्रयोजनानि आचार्यस्य तावन्त्याचार्यर्थमाहरेत्। अतएवोदकुम्भमित्यत्रैकत्वमप्यविवक्षितम्। प्रदर्शनं चैतत्। अन्यदप्याचार्योपयुक्तमुपाहरेद्भैक्षं च प्रत्यहमर्जयेत्॥ 182॥

ब्रह्मचारी को भिक्षाटन किस के घर से करना चाहिए, इसका प्रतिपादन करते हैं—

वेदयज्ञैरहीनानां प्रशस्तानां स्वकर्मसु।
ब्रह्मचार्याहरेद्भैक्षं गृहेभ्यः प्रयतोऽन्वहम्॥ 183॥

अन्वय—ब्रह्मचारी वेदयज्ञैः अहीनानाम् स्वकर्मसु प्रशस्तानाम् (मनुष्याणाम्) गृहेभ्यः अन्वहम् प्रयतः भैक्षम् आहरेत्॥ 183॥

अनुवाद—ब्रह्मचारी को वेद एवं यज्ञों से युक्त, अपने कार्यों में प्रशस्त (लोगों) के घरों से प्रतिदिन प्रयत्नपूर्वक भिक्षा (के अन्न) का आहरण करना चाहिए।

'चन्द्रिका'—ब्रह्मचारी को इस प्रकार के लोगों के घरों से भिक्षा मांगनी चाहिए, जिनके यहाँ वेद का अध्ययन किया जाता हो तथा यहाँ पञ्चमहायज्ञों का आयोजन किया जाता हो, साथ ही वे अपने-अपने कर्तव्यों का पालन अत्यन्त सावधानी से करते हों अर्थात् अपने कार्यों में निपुण हों।

विशेष—1. इस प्रकार के व्यक्तियों के घर से भिक्षाटन का निर्देश दिया गया है, जहाँ वेदों का अध्ययन तथा यज्ञों का आयोजन किया जाता हो।

2. यज्ञ से यहाँ 'पञ्च-महायज्ञों' से अभिप्राय ग्रहण करना चाहिए।

3. 'प्रयतः' का कुछ विद्वानों ने 'पवित्र होकर' अर्थ भी किया है।

मन्वर्थमुक्तावली—वेदयज्ञैरिति॥ वेदयज्ञैश्चात्यक्तानां स्वकर्मसु दक्षाणां गृहेभ्यः प्रत्यहं ब्रह्मचारी सिद्दान्नभिक्षासमूहमाहरेत्॥ 183॥

तत्पश्चात् भिक्षा-विषयक नियमों का कथन करते हैं—

गुरोः कुले न भिक्षेत न ज्ञातिकुलबन्धुषु।
अलाभे त्वन्यगेहानां पूर्वं पूर्वं विवर्जयेत्॥ 184॥

अन्वय—गुरोः कुले भिक्षेत न, ज्ञातिकुलबन्धुषु न (भिक्षेत) अन्य गेहानाम् अलाभे तु पूर्वम् पूर्वम् विवर्जयेत्॥ 184॥

अनुवाद—गुरु के कुल में भिक्षा नहीं माँगनी चाहिए, ज्ञातिकुल में और बन्धुओं के कुल में (भी भिक्षाटन नहीं करना चाहिए)। अन्य घरों में प्राप्ति के अभाव में तो पूर्व-पूर्व का परित्याग करना चाहिए।

'चन्द्रिका'—ब्रह्मचारी को अपने गुरु के कुल में भिक्षाटन के लिए नहीं जाना चाहिए। इसके अतिरिक्त अपने सगे-सम्बन्धियों, मामा आदि के परिवारों में भी भिक्षा के लिए नहीं जाना चाहिए। इसी प्रकार अपने धनी मित्रादि के घर से भी भिक्षा नहीं लेनी चाहिए, किन्तु यदि किसी परिस्थिति में अन्यत्र भिक्षा प्राप्त न हो तो पूर्व-पूर्व के घरों को छोड़ते हुए बाद के घरों से भिक्षा ले लेनी चाहिए अर्थात् इस प्रकार आपत्काल की स्थिति में सर्वप्रथम मित्रों, परिचितों के घर से भिक्षा लेवे और यदि वहाँ भी न मिले तो सम्बन्धियों के यहाँ से लेवे, किन्तु यदि उनके यहाँ भी भिक्षा प्राप्त न हो तो अन्त में ब्रह्मचारी गुरु के परिवार में जाकर भिक्षा की याचना कर सकता है।

विशेष—1. सामान्य एवं आपत्कालीन भिक्षाटन का विधान किया गया है।

2. विवर्जयेत् — वि + √ वर्ज् + विधिलिङ्ग लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन (छोड़ देना चाहिए)।

3. अलाभे — न लाभे, इति (नञ् समास) प्राप्त न होने पर।

मन्वर्थमुक्तावली—गुरोःकुल इति॥ आचार्यस्य सपिण्डेषु, बन्धुषु, मातुलादिषु च न भिक्षेत। तद्गृहव्यतिरिक्तभिक्षायोग्यगृहाभावे चोक्तेभ्यः पूर्वं पूर्वं वर्जयेत्। ततश्च प्रथमं बन्धून्भिक्षेत। तत्रालम्भे ज्ञातीन्। तत्रालाभे गुरोरपि ज्ञातीन्भिक्षेत॥ 184॥

भिक्षाटन के नियमों का पुनः उल्लेख करते हैं—

सर्वं वापि चरेद्ग्रामं पूर्वोक्तानामसंभवे।
नियम्य प्रयतो वाचमभिशस्तांस्तु वर्जयेत्॥ 185॥

अन्वय—पूर्वोक्तानाम् असम्भवे प्रयतः, वाचम् नियम्य, अभिशस्तान् तु वर्जयेत्, सर्वम् ग्रामम् चरेत्॥ 185॥

अनुवाद—पूर्व में कहे गए (घरों से भी भिक्षा-प्राप्ति) असम्भव होने पर प्रयत्नपूर्वक (अपनी) वाणी को नियन्त्रित करके, पापी लोगों को तो छोड़ देना चाहिए (तथा) सारे गाँव में भिक्षाटन करना चाहिए।

'चन्द्रिका'—पूर्व के (183वें) श्लोक में कहे गए (गुरु, ज्ञाति और बन्धु आदि) घरों के अभाव में वेदाध्ययन एवं यज्ञ करने वाले लोगों के न मिलने पर ब्रह्मचारी को सारे गाँव में भिक्षाटन करना चाहिए, किन्तु उस गाँव में रहने वाले पापकर्म में लिप्त लोगों के यहाँ भिक्षा लेने के लिए नहीं जाना चाहिए अर्थात् भिक्षाटन के समय पापियों के घरों का परित्याग कर देना चाहिए।

विशेष—1. पापी, अभिशप्त, अपमानित लोगों के यहाँ से भिक्षा-ग्रहण का निषेध किया गया है।

2. प्रयतः — प्र + √ यम् + क्त (प्रयत्नपूर्वक, पवित्र, जितेन्द्रिय)।

3. नियम्य — नि + √ यम् + ल्यप् (नियन्त्रित करके)।

4. अभिशस्तान् — अभि + √ शंस् + क्त (अभिशप्त, अपमानित, पापी)।

5. गत्यर्थक धातु √ चर् के योग में ग्रामम् में द्वितीया विभक्ति।

मन्वर्थमुक्तावली—सर्वं वेति॥ पूर्वं 'वेदयज्ञैरहीनानाम्' इत्यनेनोक्तानामसंभवे सर्वं वा ग्राममुक्तगुणरहितमपि शुचिर्मौनी भिक्षेत। महापातकाद्यभिशस्तांस्त्यजेत्॥ 185॥

तत्पश्चात् ब्रह्मचारी के लिए समिधा आहरणादि का कथन करते हैं—

दूरादाहृत्य समिधः संनिदध्याद्विहायसि।
सायंप्रातश्च जुहुयात्ताभिरग्निमतन्द्रितः॥ 186॥

अन्वय—दूरात् समिधः आहृत्य विहायसि सन्निदध्यात्, अतन्द्रितः ताभिः प्रातः सायम् अग्निम् जुहुयात्॥ 186॥

अनुवाद—दूर से समिधाएँ लाकर (उन्हें) छप्परादि पर रखना चाहिए (और) आलस्य रहित होकर उनके द्वारा प्रातःकाल एवं सायंकाल अग्निहोत्र करना चाहिए।

'चन्द्रिका'—ब्रह्मचारी को सदैव आश्रम स्थल से दूर वन में जाकर ही यज्ञ के लिए लकड़ियाँ लानी चाहिएँ और तथा आश्रम में लाकर उन्हें इधर-उधर नहीं डालना चाहिए, अपितु छप्पर या मचान आदि पर रखना चाहिए तथा उसके बाद प्रतिदिन प्रातःकाल और सायंकाल सन्ध्या के समय पूर्णतया आलस्य-रहित होकर दो बार अग्नि प्रज्वलित करके हवन करना चाहिए।

विशेष—1. आश्रम के निकट के वृक्षों से समिधा आहरण का निषेध किया गया है, इसका प्रमुख कारण आश्रम के निकट के पेडों की सुरक्षा प्रतीत होता है।

2. विहायसि — वि + √ हय् + असुन् + सप्तमी विभक्ति, एकवचन (आकाश में) आकाश से अभिप्राय यहाँ किसी ऊँचे स्थान टाँड़, छप्पर आदि से लेना चाहिए।

3. आहृत्य — आ + √ हृ + ल्यप् (क्त्वा) लाकर।

4. सन्निदध्यात् — सम् + नि + √ धा + विधिलिङ्ग लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन (स्थापित करना चाहिए)।

5. अतन्द्रितः — न तन्द्रितः, इति (नञ् समास) आलस्यरहित हुआ।

6. सायं प्रातः से अभिप्राय सायंकालीन सन्ध्या तथा प्रातःकालीन सन्ध्या से ग्रहण करना चाहिए।

मन्वर्थमुक्तावली—दूरादिति॥ दूराद्विभ्यः परिगृहीतवृक्षेभ्यः समिध आनीय आकाशे धारणाशक्तः पटलादौ स्थापयेत्। ताभिश्च समिद्भिः सायंप्रातरनले होमं कुर्यात्॥ 186॥

स्वस्थ होते हुए भी किसी कारणवश अग्निहोत्र आदि न कर पाने के प्रायाश्चित् का विधान करते हैं—

अकृत्वा भैक्षचरणमसमिध्य च पावकम्।
अनातुरः सप्तरात्रमवकीर्णिव्रतं चरेत्॥ 187॥

अन्वय—अनातुरः (ब्रह्मचारी) सप्तरात्रम् भैक्षचरणम् अकृत्वा च पावकम् असमिध्य अवकीर्णव्रतम् चरेत्॥ 187॥

अनुवाद—रोगरहित (ब्रह्मचारी) सात रात्रियों तक भिक्षावृत्ति न कर सके और अग्निहोत्र कर्म भी न कर सके (तो उसे) अवकीर्ण नामक व्रत का आचरण करना चाहिए।

'चन्द्रिका'—यदि ब्रह्मचारी पूर्ण रूप से स्वस्थ हो, किसी प्रकार के रोगादि से ग्रस्त न हो तथा किसी कारणवश भी वह सात दिन तक भिक्षावृत्ति के लिए न जा सके और न ही वह समिधाओं से अग्निहोत्र आदि सम्पन्न कर सके तो इसके प्रायाश्चित् रूप में उसे 'अवकीर्ण' नामक व्रत का आचरण करना चाहिए।

विशेष—1. अकृत्वा — न कृत्वा इति (नञ् समास) न करके।

2. अनातुरः — न आतुरः, इति (नञ् समास) स्वस्थ।

3. भिक्षाटन एवं अग्निहोत्र सात दिन तक न करने का प्रायाश्चित 'अवकीर्ण' नामक व्रत को बताया गया है।

4. सप्तरात्रम् से अभिप्राय सात दिनों से है।

5. रोगादि से ग्रस्त होने पर इस प्रकार के प्रायश्चित की सम्भवतः आवश्यकता नहीं है, इसी कारण 'अनातुरः' का प्रयोग किया है।

मन्वर्थमुक्तावली—अकृत्वेति॥ भिक्षाहारं, सायंप्रातः समिद्धोमं, अरोगो नैरन्तर्येण सप्तरात्रमकृत्वा लुप्तव्रतो भवति। ततश्चावकीर्णिप्रायश्चितं कुर्यात्॥ 187॥

इसके पश्चात् ब्रह्मचारी द्वारा एक स्थान पर अन्न-भक्षण का निषेध करते हैं—

भैक्षेण वर्तयेन्नित्यं नैकान्नादी भवेद् व्रती।
भैक्षेण व्रतिनो वृत्तिरुपवाससमा स्मृता॥ 188॥

अन्वय—व्रती नित्यम् भैक्षेण वर्तयेत्, एकान्नादी न भवेत्, व्रतिनः भैक्षेण वृत्तिः उपवाससमा स्मृता॥ 188॥

अनुवाद—ब्रह्मचारी को प्रतिदिन भिक्षाटन करना चाहिए, (उसे) एक व्यक्ति का अन्न खाने वाला नहीं होना चाहिए। ब्रह्मचारी का भिक्षा द्वारा जीवन-यापन उपवास के समान माना गया है।

'चन्द्रिका'—ब्रह्मचर्य व्रत को धारण करने वाले ब्रह्मचारी को कभी भी केवल एक ही व्यक्ति द्वारा दिए गए अन्न को खाने वाला नहीं होना चाहिए, अपितु उसे नित्य प्रति भिक्षाटन करके ही अपनी आजीविका चलानी चाहिए। जो ब्रह्मचारी रोजाना भिक्षाटन करता है, उसे उपवास के समान फल की प्राप्ति होती है। अतः उसे प्रतिदिन भिक्षावृत्ति का आचरण करना चाहिए।

विशेष—1. भिक्षाटन को उपवास के समान फल देने वाला बताया गया है।

2. ब्रह्मचारी के लिए एक स्थान पर एक ही व्यक्ति द्वारा दिए गए अन्न से जीविका चलाने का निषेध किया गया है।

3. एकान्नादी — एकस्य अन्नस्य आदी (एक व्यक्ति द्वारा दिए अन्न को खाने वाला)।

4. वृत्तिः — √ वृत्त + क्तिन् (जीविका)।

5. स्मृता — √ स्मृ + क्त + टाप् (कही गई है)।

6. व्रती — व्रत + इनि — व्रतिन्, प्रथमा विभक्ति, एकवचन (ब्रह्मचारी, ब्रह्मचर्य का पालन करने वाला)।

मन्वर्थमुक्तावली—भैक्षेणेति॥ ब्रह्मचारी न एकान्नमद्यात्किंतु बहुगृहाहृतभिक्षासमूहेन प्रत्यहं जीवेत्। यस्माद्भिक्षासमूहेन ब्रह्मचारिणो वृत्तिरुपवासतुल्या मुनिभिः स्मृता॥ 188॥

पुन ब्रह्मचारी के लिए एक स्थान पर भोजन का निर्देश करते हैं—

व्रतवद्देवदैवत्ये पित्र्ये कर्मण्यथर्षिवत्।
काममभ्यर्थितोऽश्नीयाद्व्रतस्य न लुप्यते॥ 189॥

अन्वय—देवदैवत्ये अभ्यर्थितः व्रतवत्, अथ पित्र्ये कर्मणि ऋषिवत् कामम् अश्नीयात्। अस्य व्रतम् न लुप्यते॥ 189॥

अनुवाद—देवताओं के निमित्त (आयोजित कार्यों में) सादर आमन्त्रित हुआ व्रत के अनुसार और पितृकर्म में ऋषि के समान इच्छानुसार भोजन करना चाहिए, (ऐसा करने से) इसका व्रत नष्ट नहीं होता है।

'चन्द्रिका'—ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन करने वाला व्यक्ति देवताओं को निमित्त मानकर आयोजित यागादि कार्यों में आदरपूर्वक आमन्त्रित किया गया हो तो वहाँ वह व्रत की प्रकृति के अनुसार भोजन कर सकता है। इसी प्रकार श्राद्धादि में विधिवत् आमन्त्रित हुआ वह ऋषियों की तरह इच्छानुसार भोजन कर सकता है। इससे उसका ब्रह्मचर्य व्रत नष्ट नहीं होता है।

विशेष—1. देवकार्य एवं पितृकार्यों में आमन्त्रित होने की स्थिति में ही ब्रह्मचारी के लिए एक स्थान पर भोजन करने का विधान किया गया है। इससे उसका व्रत प्रभावित नहीं होता है।

2. दैवत्ये — देवता + ष्यञ् (किसी देवता को लक्ष्य करके किये गये आयोजन में)।

3. पित्र्ये — पितुः इदम् — पितृ + यत् (रीङ् आदेश) (पितरों के कार्य में, श्राद्धकर्म में)।

4. कामम् — इच्छानुसार (मधुमांसादि के त्यागपूर्वक)।

5. अभ्यर्थितः — अभि + √ अर्थ् + क्त (प्रार्थना किया गया)।

6. अश्नीयात् — √ अश् (भक्षणे) + विधिलिङ्ग लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन (खाना चाहिए)।

7. याज्ञवल्क्य का भी इस विषय में कथन है—

ब्रह्मचर्ये स्थितो नैकमन्नमद्यादनापदि।
ब्राह्मण काममश्नीयाद् श्राद्धे व्रतमपीडयन्॥

8. प्रस्तुत श्लोक पूर्व श्लोक (188) की व्यवस्था के अपवाद स्वरूप में प्रस्तुत किया गया है।

मन्वर्थमुक्तावली—व्रतवदिति॥ पूर्वनिषिद्धस्यैकान्नभोजनस्यायं प्रतिप्रसवः। देवदैवत्ये कर्मणि देवतोद्देशेनाभ्यर्थितो ब्रह्मचारी व्रतवदिति व्रतविरुद्धमधुमांसादिवर्जितमेकस्याप्यन्नं यथेप्सितं भुञ्जीत। अथ पित्रुद्देशेनाभ्यर्थितो भवति तदा ऋषिर्यतिः सम्यग्दर्शनसम्पन्नत्वात्स इव

मधुमांसवर्जितमेकस्याप्यन्नं यथेप्सितं भुञ्जीत इति स एवार्थो वैदग्ध्येनोक्तः, तथापि भैक्षवृत्तिनियमरूपं व्रतमस्य लुप्तं न भवति याज्ञवल्क्योऽपि श्राद्धेऽभ्यर्थितस्यैकान्नभोजनमाह— 'ब्रह्मचर्ये स्थितो नैकमन्नमद्यादनापदि। ब्राह्मणः काममश्नीयाच्छ्राद्धे व्रतमपीडयन्।।' इति। विश्वरूपेण तु 'व्रतमस्य न लुप्यते' इति पश्यता ब्रह्मचारिणो मांसभक्षणमनेन मनुवचनेन विधीयत इति व्याख्यातम्।। 189।।

एक स्थान पर भोजन के विषय में ही अग्रिम व्यवस्था का निर्देश करते हैं—

ब्राह्मणस्यैव कर्मैतदुपदिष्टं मनीषिभिः।
राजन्यवैश्ययोस्त्वेवं नैतत्कर्म विधीयते।। 190।।

अन्वय—मनीषिभिः एतत् कर्म ब्राह्मस्य एव उपदिष्टम्, राजन्यवैश्ययोः तु एवम् एतत् कर्म न विधीयते।। 190।।

अनुवाद—विद्वानों द्वारा यह कार्य ब्राह्मण (ब्रह्मचारी) के लिए ही कहा गया है। क्षत्रिय एवं वैश्य (ब्रह्मचारी) के लिए तो इस कर्म का विधान नहीं किया गया है।

'चन्द्रिका'—यह जो देवकार्य एवं पितृकार्य में एक स्थान पर भोजन का विधान पूर्व श्लोक में बताया गया, यह व्यवस्था केवल ब्राह्मण ब्रह्मचारी पर ही लागू होती है। क्षत्रिय एवं वैश्य वर्ण के ब्रह्मचारी पर यह व्यवस्था लागू नहीं होती अर्थात् उसे एक स्थान पर किसी भी स्थिति में भोजन नहीं करना चाहिए।

विशेष—1. ब्राह्मणों के लिए आचार्य मनु अनेक स्थलों पर विशेष नियमों का उल्लेख करते हैं। इसी कारण उन पर कुछ विद्वान् ब्राह्मणवादी होने का आरोप लगाते हैं।

2. केवल ब्राह्मण ब्रह्मचारी ही देवकार्य एवं पितृकार्यों में भोजन कर सकता है, क्षत्रिय अथवा वैश्य ब्रह्मचारी नहीं, उन्हें तो केवल भिक्षावृत्ति ही करनी चाहिए।

3. मनीषिभिः — विद्वानों द्वारा इसका अभिप्राय प्राचीन शास्त्रकारों से ग्रहण करना चाहिए।

4. उपदिष्टम् — उप + √ दिश् + क्त (उपदेश दिया है)।

मन्वर्थमुक्तावली—ब्राह्मणस्यैवेति।। ब्राह्मणक्षत्रियविशां त्रयाणामेव ब्रह्मचारिणां भैक्षाचरणविधानात् 'व्रतवत्' इत्यनेन तदपवादरूपमेकान्नभोजनमुपदिष्टं क्षत्रियवैश्ययोरपि पुनरुक्तेन पर्युदस्यते। एतदेकान्नभोजनरूपं कर्म तद्ब्राह्मणस्यैव वेदार्थविद्भिर्विहितं। क्षत्रियवैश्ययोः पुनर्न चैतत्कर्मेति ब्रूते।। 190।।

तत्पश्चात् ब्रह्मचारी के लिए गुरु का हित-चिन्तन तथा आज्ञापालन का कथन करते हैं—

चोदितो गुरुणा नित्यमप्रचोदित एव वा।
कुर्यादध्ययने यत्नमाचार्यस्य हितेषु च।। 191।।

अन्वय—गुरुणा चोदितः वा अप्रचोदितः एव अध्ययने च आचार्यस्य हितेषु नित्यम् यत्नम् कुर्यात्।। 191।।

अनुवाद—गुरु द्वारा प्रेरित हुए अथवा बिना प्रेरित हुए ही (ब्रह्मचारी को) अध्ययन में और आचार्य के हितों में हमेशा ही प्रयत्न करते रहना चाहिए।

'चन्द्रिका'—ब्रह्मचारी को चाहे वह किसी भी वर्ण का क्यों न हो, हमेशा अपने आचार्य के लिए हितकर कार्यों को करने के लिए उद्यत रहना चाहिए तथा अध्ययन कार्य में स्वयं की इच्छा से अथवा आचार्य के आदेश द्वारा लगे रहना चाहिए। कहने का तात्पर्य यह है कि उसे अपने आचार्य की आज्ञानुसार तो अध्ययनादि कार्य करने ही चाहिएँ, अपितु स्वविवेक से भी अध्ययन एवं आचार्य हित-चिन्तन करना चाहिए।

विशेष—1. चोदितः — √ चुद् + णिच् + क्त (प्रेरित किया गया)।

2. अप्रचोदितः — न प्रचोदितः इति (नञ् समास) नञ् + प्र + √ चुद् + णिच् + क्त (प्रेरणा के अभाव में)।

3. ब्रह्मचारी के लिए आचार्य-हित-चिन्तन और अध्ययन की महत्ता प्रतिपादित की है।

मन्वर्थमुक्तावली—चोदित इति॥ आचार्येण प्रेरितो न प्रेरितो वा स्वयमेव प्रत्यमध्ययने गुरुहितेषु चोद्योगं कुर्यात्॥ 191॥

इसके बाद गुरु के प्रति ब्रह्मचारी के व्यवहार का कथन करते हैं—

शरीरं चैव वाचं च बुद्धीन्द्रियमनांसि च।
नियम्य प्राञ्जलिस्तिष्ठेद्वीक्षमाणो गुरोर्मुखम्॥ 192॥

अन्वय—शरीरम् च वाचम् व बुद्धीन्द्रियमनांसि च नियम्य प्राञ्जलिः गुरोः मुखम् वीक्षमाणः एव तिष्ठेत्॥ 192॥

अनुवाद—(ब्रह्मचारी को) शरीर, वाणी, ज्ञानेन्द्रिय और मन को नियन्त्रित करके हाथ जोड़कर गुरु के मुख को देखते हुए ही (उसके सामने) खड़ा रहना चाहिए।

'चन्द्रिका'—ब्रह्मचारी को अध्ययन करते समय गुरु के सामने अपने मन, वाणी, ज्ञानेन्द्रियों तथा शरीर को पूर्णतया नियन्त्रित करके खड़े रहना चाहिए साथ ही दोनों हाथों को जोड़कर, गुरु के मुख की ओर ही अपनी दृष्टि रखनी चाहिए, क्योंकि इधर-उधर देखने से उसका ध्यान बँटता है तथा अशिष्टता के अन्तर्गत भी आता है।

विशेष—1. अध्ययन करते समय मन, वचन और कर्म से स्थिर होने की अनिवार्यता प्रतिपादित की है।

2. हाथ जोड़ने से विनम्र-भाव की अभिव्यक्ति हो रही है।

3. 'मुख की ओर देखना' ध्यान की एकाग्रता के लिए कहा गया है।

4. नियम्य — नि + √ यम् + ल्यप् (क्त्वा) नियन्त्रित करके।

5. कुछ विद्वानों ने 'तिष्ठेत्' का अर्थ 'बैठना चाहिए' किया है, किन्तु इसका 'सम्मुख खड़ा रहना' अर्थ अधिक संगत प्रतीत होता है।

मन्वर्थमुक्तावली—शरीरं चेति॥ देहवाग्बुद्धीन्द्रियमनांसि नियम्य कृताञ्जलिर्गुरुमुखं पश्यंस्तिष्ठेन्नोपविशेत्॥ 192॥

तत्पश्चात् ब्रह्मचारी के अन्य शिष्टाचारों का उल्लेख करते हैं—

नित्यमुद्धृतपाणिः स्यात्साध्वाचारः सुसंयतः।
आस्यतामिति चोक्तः सन्नासीताभिमुखं गुरोः॥ 193॥

अन्वय—(ब्रह्मचारी) नित्यम् उद्धृतपाणिः, साध्वाचारः, सुसंयतः स्यात् च (गुरुणा) 'आस्यताम्' इति उक्तः सन् गुरोः अभिमुखम् आसीत॥ 193॥

अनुवाद—(ब्रह्मचारी) हमेशा (उत्तरीय से) हाथ बाहर निकालकर, सदाचारपरायण एवं पूर्णतया अनुशासित रहे तथा (गुरु द्वारा) 'बैठ जाओ' इस प्रकार कहे जाने पर गुरु के सामने बैठे।

'चन्द्रिका'—गुरु के सामने जाने पर ब्रह्मचारी को सर्वप्रथम अपना हाथ उत्तरीय वस्त्र से बाहर निकाल कर रखना चाहिए तथा सज्जनों के समान व्यवहार करता हुआ वह पूर्णरूप से शिष्ट एवं अनुशासित होकर खड़ा रहे। जब गुरु के द्वारा कहा जाए कि 'बैठ जाओ' तभी उसके सामने शिष्टतापूर्वक बैठे, गुरु के कहे बिना उसके सामने बैठना नहीं चाहिए, अपितु खड़े रहना चाहिए।

विशेष—1. उद्धृत पाणिः — उद्धृतः पाणिः यस्य सः (बहुव्रीहि) (उत्तरीय से हाथ बार निकाल कर)।

2. सुसंयतः — सु + सम् + √ यम् + क्त (भलीप्रकार नियन्त्रित)।

3. उक्तः — √ वच् + क्त (कहा गया)।

4. गुरु के सम्मुख सावधानीपूर्वक शिष्ट एवं विनम्र आचरण का निर्देश दिया गया है।

5. आसीत — √ आस् + विधिलिङ्ग लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन, आत्मनेपदी (बैठना चाहिए)।

मन्वर्थमुक्तावली—नित्यमिति॥ सततमुत्तरीयवाद्बहिष्कृतदक्षिणबाहुः, शोभनाचारः, वस्त्रावृतदेहः, आस्यतामिति गुरुणोक्तः सन् गुरोरभिमुखं यथा भवति तथा आसीत॥ 193॥

गुरु के सान्निध्य में ब्रह्मचारी के लिए कुछ अन्य शिष्टाचारों का कथन करते हैं—

हीनान्नवस्त्रवेषः स्यात्सर्वदा गुरुसन्निधौ।
उत्तिष्ठेत्प्रथमं चास्य चरमं चैव संविशेत्॥ 194॥

अन्वय—(सः) सर्वदा गुरुसन्निधौ हीनान्नवस्त्रवेषः एव स्यात्, अस्य प्रथमम् उत्तिष्ठेत् च चरमम् संविशेत्॥ 194॥

अनुवाद—(उसे) हमेशा गुरु के निकट कम अन्न, वस्त्र और वेषवाला ही होना चाहिए। इससे पहले उठना चाहिए और बाद में सोना चाहिए।

'चन्द्रिका'—ब्रह्मचारी शिष्य गुरु के निकट रहते हुए हमेशा गुरु की अपेक्षा कम भोजन करे, कम वस्त्रों को धारण करे तथा गुरु की अपेक्षा कम उत्कृष्ट वस्त्र पहने अर्थात् वेषभूषा में शिष्य को गुरु की अपेक्षा बढ़चढ़ कर दिखाई नहीं देना चाहिए। साथ ही गुरु के सोकर उठने से पहले सोकर उठना चाहिए और गुरु के सो जाने के बाद ही सोने का उपक्रम करना चाहिए।

विशेष—1. शिष्य को गुरु के निकट रहते हुए ध्यान रखने योग्य बातों का उल्लेख किया है।

2. गुरु के समक्ष अधिक अन्न खाना, अच्छे वस्त्रादि पहनने का निषेध किया है।

3. उत्तिष्ठेत् — उत् + √ स्था + विधिलिङ्ग लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन (उठना चाहिए)।

4. संविशेत् — सम् + √ विश् + विधिलिङ्ग लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन (सोने के लिए प्रवेश करे)।

मन्वर्थमुक्तावली—हीनान्नवस्त्रेति॥ सर्वदा गुरुसमीपे गुर्वपेक्षया त्ववकृष्टान्नवस्त्रप्रसाधनो भवेत्। गुरोश्च प्रथमं रात्रिशेषे शयनादुत्तिष्ठेत्, प्रदोषे च गुरौ सुप्ते पश्चाच्छयीत॥ 194॥

गुरु के प्रति अन्य शिष्टाचारों का प्रतिपादन करते हैं—

प्रतिश्रवणसंभाषे शयानो न समाचरेत्।
नासीनो न च भुञ्जानो न तिष्ठन्न पराङ्मुखः॥ 195॥

अन्वय—प्रतिश्रवणसंभाषे न शयानः, न आसीनः, न भुञ्जानः च न पराङ्मुखः तिष्ठन् समाचरेत्॥ 195॥

अनुवाद—गुरु की आज्ञा सुनना या वार्तालाप (के विषय में) न तो सोते हुए, न बैठे हुए, न खाते हुए और न मुँह फेर कर खड़े हुए आचरण करे।

'चन्द्रिका'—यदि ब्रह्मचारी को गुरु कोई आदेश दे रहा है अथवा उससे कोई वार्तालाप कर रहा है तो उस समय शिष्ट ब्रह्मचारी को न तो सोने का उपक्रम करना चाहिए, न ही बैठे रहना चाहिए, न ही भोजन करना चाहिए और न ही गुरु की ओर से मुँह फेरकर खड़े होना चाहिए, अपितु पूर्णतया ध्यानपूर्वक गुरु की ओर मुख करके खड़े होकर गुरु से साथ बातचीत करे और उनके द्वारा दिए गए आदेश को ध्यानपूर्वक सुने।

विशेष—1. गुरु से वार्तालाप करते समय भोजन करना, बैठे रहना, सोना, मुँह फेरकर खड़ा होना ये सभी अशिष्ट आचरण के अन्तर्गत आते हैं।

2. प्रतिश्रवण संभाषे — आज्ञा सुनने तथा वार्तालाप करने में।

3. समाचरेत् — सम् + आ + √ चर् + विधिलिङ्ग, प्रथम पुरुष, एकवचन (आचरण करें)।

4. आसीनः — आ + √ सद् + क्त (बैठे हुए)।

5. भुञ्जानः — √ भुज् + शानच् (खाते हुए)।

6. तिष्ठन् — √ स्था + शतृ (खड़े हुए)।

मन्वर्थमुक्तावली—प्रतिश्रवणेति॥ प्रतिश्रवणमाज्ञाङ्गीकरणं, संभाषणं च गुरोः। शय्यायां सुप्तः, आसनोपविष्टो, भुञ्जानः तिष्ठन्, विमुखश्च न कुर्यात्॥ 195॥

कथं तर्हि कुर्यात्तदाह—

पुनः गुरु के प्रति शिष्य के कर्तव्यों का कथन करते हैं—

आसीनस्य स्थितः कुर्यादभिगच्छंस्तु तिष्ठतः।
प्रत्युद्गम्य त्वाव्रजतः पश्चाद्धावंस्तु धावतः॥ 196॥

अन्वय—आसीनस्य स्थितः, तिष्ठतः तु अभिगच्छन्, तु आव्रजतः प्रत्युद्गम्य, तु धावतः पश्चात् धावन् कुर्यात्॥ 196॥

अनुवाद—बैठे हुए (गुरु) से खड़ा होकर, खड़े हुए से तो उसके सामने जाकर, किन्तु अपनी ओर आते हुए से शीघ्रतापूर्वक उनके निकट जाकर, जबकि दौड़ते हुए के पीछे दौड़ते हुए (गुरु से वार्तालाप) करना चाहिए।

'चन्द्रिका'—गुरु के साथ वार्तालाप करते समय, यदि वे आसन पर बैठे हुए हों तो स्वयं उनके समक्ष खड़ा होकर, यदि वे खड़े हुए हों तो उस स्थिति में उनके सामने जाकर, किन्तु यदि वे बातचीत करने के लिए अपनी ओर आते दिखाई दें तो शीघ्रतापूर्वक उनके पास जाकर उनसे बातचीत करे, यही शिष्ट व्यवहार है। इसके विपरीत यदि उस समय गुरु दौड़ रहे हों तो शिष्य को भी उनके साथ दौड़ते हुए बात करनी चाहिए।

विशेष—1. आसीनस्य — √ आस् + शानच् (ईदासः (7/2/83) से शानच् के आन् को ईन आदेश) षष्ठी विभक्ति, एकवचन (बैठे हुए के)।

2. स्थितः — √ स्था + क्त (खड़ा हुआ)।

3. अभिगच्छन् — अभि + √ गम् + शतृ (जाते हुए)।

4. प्रत्युद्गम्य — प्रति + उत् + √ गम् + ल्यप् (उसके पास शीघ्र जाकर)।

5. धावन् — √ धाव् + शतृ (दौड़ते हुए)।

6. न केवल गुरु शिष्य में, अपितु बड़ों के साथ बातचीत करते समय भी इस प्रकार का आचरण शिष्ट श्रेणी में आता है।

मन्वर्थमुक्तावली—आसीनस्येति॥ आसनोपविष्टस्य गुरोराज्ञां ददतः स्वयमासादुत्थितः, तिष्ठतो गुरोरादिशतस्तदभिमुखं कतिचित्पदानि गत्वा, यथा गुरुरागच्छति तथाप्यभिमुखं गत्वा, यदा तु गुरुर्धावन्नादिशति तदा तस्य पश्चाद्धावन्प्रतिश्रवणसंभाषे कुर्यात्॥ 196॥

इसी विषय पर अन्य निर्देश प्रदान करते हैं—

पराङ्मुखस्याभिमुखो दूरस्थस्यैत्य चान्तिकम्।
प्रणम्य तु शयानस्य निदेशे चैव तिष्ठतः॥ 197॥

अन्वय—पराङ्मुखस्य अभिमुखः च दूरस्थस्य अन्तिकम् एत्य, तु शयानस्य च तिष्ठतः प्रणम्य एव निदेशे (वार्तालापम् च समाचरेत्)।॥ 197॥

अनुवाद—मुँह फेरे हुए (गुरु) के सामने जाकर और दूर स्थित के पास जाकर, किन्तु सोए हुए एवं बैठे हुए होने पर समीप जाकर प्रणाम करके ही (आदेश श्रवण और वार्तालाप करना चाहिए)।

'चन्द्रिका'—यदि गुरु के आदेश को सुनना हो या फिर उनके साथ बातचीत करनी हो तो गुरु के मुँह फेर कर खड़े हुए होने पर उनके सम्मुख जाकर, दूर खड़े हुए के पास में जाकर, सोए हुए अथवा बैठे हुए के पास जाकर, प्रणाम करके, विनम्रतापूर्वक ही उनकी आज्ञा को ध्यानपूर्वक सुनना चाहिए या उनसे वार्तालाप करना चाहिए।

विशेष—1. दूरस्थस्य — दूरे स्थितः — दूरस्थः तस्य (दूर स्थित के)।

2. अन्तिकम् — समीप में।
3. एत्य — √ इण् (गतौ) + ल्यप् (जाकर)।
4. शयानस्य — √ शी + शानच् - शयानः, तस्य (सोते हुए के)।
5. निदेशे — नि + √ दिश् + घञ् - निदेशः, तस्मिन् (आदेश में)।
6. प्रणम्य — प्र + √ नम् + ल्यप् (क्त्वा) प्रणाम करके।

मन्वर्थमुक्तावली—पराङ्मुखस्येति॥ पराङ्मुखस्य वादिशतः संमुखस्थो, दूरस्थस्य गुरोः समीपमागत्य, शयानस्य गुरोः प्रणम्य प्रह्वो भूत्वा, निदेशे निकटेऽवतिष्ठतो गुरोरादिशतः प्रह्वीभूयैव प्रतिश्रवणसंभाषे कुर्यात्॥ 197॥

तत्पश्चात् गुरु के समक्ष शिष्य के आसन की स्थिति का उल्लेख करते हैं—

नीचं शय्यासनं चास्य सर्वदा गुरुसन्निधौ।
गुरोस्तु चक्षुर्विषये न यथेष्टासनो भवेत्॥ 198॥

अन्वय—च गुरुसन्निधौ अस्य शय्यासनम् सर्वदा नीचम् भवेत्, गुरोः चक्षुः विषये तु यथेष्टासनः न भवेत्॥ 198॥

अनुवाद—गुरु के निकट होने पर इस (ब्रह्मचारी) की शय्या और आसन हमेशा नीचा ही रहना चाहिए एवं गुरु की आँखों के सामने तो (कभी भी) इच्छानुसार आसन पर नहीं बैठना चाहिए।

'चन्द्रिका'—यदि गुरु और शिष्य पास-पास सोते और बैठते हों तो हमेशा गुरु का आसन ऊँचा और शिष्य का आसन नीचा रहना चाहिए। ठीक यही स्थिति बिस्तर, चारपाई या शय्या के साथ भी होनी चाहिए। अर्थात् गुरु की शय्या ऊँचे स्थान पर या ऊँची एवं शिष्य की नीची होनी चाहिए। यदि गुरु आसपास ही हों तथा शिष्य पर उनकी

दृष्टि पड़ रही हो तो शिष्य को ऐसी स्थिति में मनमाने आसन पर मनमाने ढंग से नहीं बैठना चाहिए। मर्यादाओं का ध्यान रखते हुए ही आसन ग्रहण करना चाहिए।

विशेष—1. गुरु का स्थान ऊँचा होता है, आसन एवं शय्या के विषय में सदैव इस बात का ध्यान रखना चाहिए।

2. यथेष्टासनः — स्वेच्छानुसारं आसनं यस्य सः (ब्रहुवीहि) (इच्छानुसार आसन है, जिसका वह)।

3. यथा + √ इष् + क्त — यथेष्ट + आसनः (इच्छानुसार आसन वाला)।

4. **चक्षुर्विषये** — जहाँ तक गुरु की दृष्टि जाती हो, वहाँ तक।

मन्वर्थमुक्तावली—नीचमिति॥ गुरुसमीपे चास्य गुरुशय्यासनापेक्षया नीचे एव शय्यासने नित्यं स्याताम्। यत्र च देशे समासीनं गुरुः पश्यति न तत्र यथेष्टचेष्टां चरणप्रसारादिकां कुर्यात्॥ 198॥

इसके बाद गुरु के विषय में ब्रह्मचारी के अन्य कर्तव्यों को कहते हैं—

नोदाहरेदस्य नाम परोक्षमपि केवलम्।
न चैवास्यानुकुर्वीत गतिभाषितचेष्टितम्॥ 199॥

अन्वय—परोक्षम् अपि अस्य केवलम् नाम न उदाहरेत् च अस्य गति-भाषित-चेष्टितम् एव न अनुकुर्वीत॥ 199॥

अनुवाद—परोक्ष में भी इस (गुरु) के केवल नाम का उच्चारण नहीं करना चाहिए और इसकी चाल, वाणी और चेष्टाओं की भी नकल नहीं करनी चाहिए।

'चन्द्रिका'—गुरु के नाम का यदि अप्रत्यक्ष रूप में उनके पीछे उच्चारण करना पड़े तो कभी भी केवल उनके नाम का उच्चारण नहीं करना चाहिए, अपितु उनके नाम के साथ आदरसूचक शब्द श्री, उपाध्याय, आचार्य आदि शब्दों का प्रयोग करते हुए ही उनका नाम लेना चाहिए। इसके अतिरिक्त अपने गुरु के बोलने, चलने तथा अन्य किसी भी प्रकार की चेष्टाओं का अनुकरण भी शिष्य को नहीं करना चाहिए।

विशेष—1. गुरु का विशेषणों से रहित नामोच्चारण एवं उसकी नकल करना अशिष्टता के अन्तर्गत आते हैं।

2. अनुकुर्वीत — अनु + √ कृ + विधिलिङ्ग लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन (अनुकरण करना चाहिए)।

मन्वर्थमुक्तावली—नोदाहरेदिति॥ अस्य गुरोः परोक्षमपि उपाध्यायाचार्यादिपूजावचनोपपदशून्यं नाम नोच्चारयेत्। नतु गुरोर्गमनभाषितचेष्टितान्यकुर्वीत गुरुगमनादिसदृशान्यात्मनो गमनादीन्युपहासबुद्ध्या न कुर्वीत॥ 199॥

गुरु-निन्दा करना अथवा सुनना दोनों का निषेध करते हुए कहते हैं—

गुरोर्यत्र परीवादो निन्दा वापि प्रवर्तते।
कर्णौ तत्र पिधातव्यौ गन्तव्यं वा ततोऽन्यतः॥ 200॥

अन्वय—यत्र गुरोः परीवादः वा निन्दा अपि प्रवर्तते, तत्र कर्णौ पिधातव्यौ वा ततः अन्यतः गन्तव्यम् ॥ 200 ॥

अनुवाद—जहाँ गुरु के दोषों का कथन अथवा निन्दा की जा रही हो, वहाँ (अपने) दोनों कानों को बन्द कर लेना चाहिए अथवा वहाँ से अन्यत्र चला जाना चाहिए।

'चन्द्रिका'—जिस स्थान पर दुर्जनों द्वारा अपने गुरु के दोषों का कथन किया जा रहा हो अथवा उनकी किसी भी प्रकार से निन्दा की जा रही हो। श्रेष्ठ शिष्य को ऐसे स्थान पर अपने दोनों कानों को, दोनों हाथों से बन्द कर लेना चाहिए और यदि ऐसी स्थिति न हो तो उस स्थान को छोड़कर अन्यत्र स्थान पर चले जाना चाहिए। अर्थात् कभी भी सद्शिष्य को गुरु-निन्दा का श्रवण नहीं करना चाहिए।

विशेष—1. **परीवादः** — जो व्यक्ति में दोष हो उसका कथन करना परीवाद कहलाता है—**"विद्यामानदोषस्याभिधानं परीवादः।"**

2. **निन्दा** — जो दोष व्यक्ति में न हो उसका कथन निन्दा कहलाता है—**"अविद्यमानदोषाभिधानं निन्दा।"**

3. गन्तव्यम् — √ गम् + तव्यत् (चला जाना चाहिए)।

4. अन्यतः — अन्य + तसिल् (अन्यत्र, दूसरी जगह)।

5. प्रवर्तते — प्र + √ वृत् + लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन (की जा रही हो)।

मन्वर्थमुक्तावली—गुरोर्यत्रेति ॥ विद्यमानदोषस्याभिधानं परीवादः, अविद्यमानदोषाभिधानं निन्दा। यत्र देशे गुरोः परीवादो निन्दा च वर्तते तत्र स्थितेन शिष्येण कर्णौ हस्तादिना तिरोधातव्यौ। तस्माद्वा देशाद्देशान्तरं गन्तव्यम् ॥ 200 ॥

इदानीं शिष्यकर्तृकपरीवादकृतफलमाह—

गुरु-निन्दा के फल का कथन करते हैं—

परीवादात्खरो भवति श्वा वै भवति निन्दकः।
परिभोक्ता कृमिर्भवति कीटो भवति मत्सरी ॥ 201 ॥

अन्वय—परिवादात् खरः भवति, निन्दकः वै श्वा भवति, परिभोक्ता कृमिः भवति, मत्सरी कीटः भवति ॥ 201 ॥

अनुवाद—परीवाद से (व्यक्ति) गधा बनता है, निन्दा करने वाला वस्तुतः कुत्ता होता है। (गुरु के धन का) भोग करने वाला कीड़ा बनता है। (गुरु से) ईर्ष्या करने वाला कीट बनता है।

'चन्द्रिका'—यदि कोई शिष्य गुरु के किसी भी प्रकार के दोष का कथन करता है तो वह अगले जन्म में गधा बनता है। यदि गुरु की निन्दा करता है तो वह कुत्ता बनता है। इसके अतिरिक्त यदि कोई शिष्य गुरु के धन का भोग करता है तो छोटा

कीड़ा (कृमि) बनता है, किन्तु गुरु के साथ ईर्ष्या-भाव रखने वाला शिष्य बड़ा कीड़ा बनता है।

विशेष—1. कुछ विद्वानों ने इस श्लोक को प्रक्षिप्त माना है।

2. गुरु का परिवाद, निन्दा, ईर्ष्या तथा उसके धन के भोग का निषेध किया गया है।

3. निन्दकः — √ निन्द् + ण्वुल् (निन्दा करने वाला)।

4. 'वै' का प्रयोग 'अवधारण' अर्थ की अभिव्यक्ति के लिए हुआ है।

5. परिभोक्ता — परि + √ भुज् + तृच् (भोग करने वाला)।

6. कृमि — छोटे आकार वाले कीड़े को तथा कीट — थोड़ा बड़े आकार वाले कीड़ों को कहते हैं।

मन्वर्थमुक्तावली—परीवादादिति॥ गुरोः परीवादाच्छिष्यो मृतः खरो भवति। गुरोर्निन्दकः कुक्कुरो भवति। परिभोक्ता अनुचितेन गुरुधनेनोपजीवकः कृमिर्भवति। मत्सरी गुरोरुत्कर्षासहनः कीटो भवति। कीटः कृमिभ्यः किंचित्स्थूलो भवति॥ 201॥

पुनः गुरु के प्रति शिष्य के कर्तव्यों का उल्लेख करते हैं—

दूरस्थो नार्चयेदेनं न क्रुद्धो नान्तिके स्त्रियाः।
यानासनस्थश्चैवैनमवरुह्याभिवादयेत्॥ 202॥

अन्वय—(शिष्यः) एनम् दूरस्थः च अर्चयेत्, क्रुद्धः न (अर्चयेत्), स्त्रियाः अन्तिके न (अर्चयेत्) च यानासनस्थः अवरुह्य एव एनम् अभिवादयेत्॥ 202॥

अनुवाद—(शिष्य) इस (गुरु) की दूर स्थित होकर पूजा न करे, क्रुद्ध होकर (पूजा) न करे, स्त्रियों के समीप रहते हुए (पूजा) न करे, और सवारी या आसन पर स्थित हुआ (उससे) उतरकर ही इस (गुरु) का अभिवादन करे।

'चन्द्रिका'—शिष्य गुरु को कभी भी दूर से नमस्कार न करे, अपितु पास जाकर ही प्रणाम करे। इसी प्रकार क्रोध की अवस्था में भी गुरु को प्रणाम नहीं करना चाहिए, क्योंकि इस स्थिति में उसे मर्यादाओं का ध्यान नहीं होगा। इसके अतिरिक्त यदि गुरु अपनी स्त्रियों के पास बैठे हों तब भी उन्हें प्रणाम नहीं करना चाहिए। ऐसा करने से धृष्टता होगी और यदि शिष्य किसी वाहन पर सवार हो तो प्रणाम करते समय वाहन से पहले उतर जाना चाहिए। ठीक उसी प्रकार आसन पर बैठा हुआ होने पर उससे उठकर अथवा उतरकर गुरु को अभिवादन करना चाहिए।

विशेष—1. अर्चयेत् — √ अर्च् + विधिलिङ्ग लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन (पूजन करना चाहिए)।

2. यहाँ पूजन से अभिप्राय प्रणाम करने से ही ग्रहण करना चाहिए।

3. दूरस्थः — दूरे स्थितः (दूर स्थित हुआ)।

4. यानासनस्थः — याने आसने वा तत्र स्थितः (यान अथवा आसन पर स्थित)।

5. अवरुह्य — अव + √ रुह + ल्यप् (उतर कर)।

मन्वर्थमुक्तावली—दूरस्थ इति॥ दूरस्थः शिष्योऽन्यं नियुज्य माल्यवस्त्रादिना गुरुं नार्चयेत्। स्वयं गमनाशक्तौ त्वदोषः। क्रुद्धः कामिनीसमीपे च स्थितं स्वयमपि नार्चयेत्। यानासनस्थश्च शिष्यो यानासनादवतीर्य गुरुमभिवादयेत्। यानासनस्थश्चैवैनं प्रत्युत्थायेत्यनेन यानासनादुत्थानं विहितमनेन तु यानासनत्याग इत्यपुनरुक्तिः॥ 202॥

गुरु के प्रति शिष्य के अन्य कर्तव्यों का पुनः कथन करते हैं—

प्रतिवातेऽनुवाते च नासीत गुरुणा सह।
असंश्रवे चैव गुरोर्न किंचिदपि कीर्तयेत्॥ 203॥

अन्वय—प्रतिवाते च अनुवाते गुरुणा सह न आसीत, च गुरोः असंश्रवे किञ्चित्, अपि न कीर्तयेत्॥ 203॥

अनुवाद—(शिष्य को) प्रतिकूल एवं अनुकूल वायु के चलने पर गुरु के साथ नहीं बैठना चाहिए तथा गुरु को सुनाई न देने की अवस्था में कुछ कहना भी नहीं चाहिए।

'चन्द्रिका'—यदि गुरु के अंगों का स्पर्श करती हुई वायु शिष्य की ओर बह रही हो ऐसी अनुकूल वायु के चलते रहने पर तथा यदि शिष्य के अंगों का स्पर्श करके वायु गुरु की ओर बह रही हो, ऐसी प्रतिकूल वायु के चलते रहने पर, शिष्य को गुरु के साथ नहीं बैठना चाहिए। साथ ही ऐसे स्थान पर भी नहीं बैठना चाहिए, जहाँ से कुछ बोलने पर गुरु को कुछ सुनाई न दे। अतः शिष्य को ऐसे स्थान पर बैठना चाहिए, जहाँ से वह गुरु की बात को स्पष्टतया सुन सके तथा गुरु, शिष्य द्वारा कही गई बात को स्पष्ट रूप से सुन सके।

विशेष—1. 'सहयुक्तेऽप्रधाने' सूत्र से गुरुणा में सह के योग में तृतीया विभक्ति।

2. असंश्रवे — न संश्रवे इति (नञ् समास) नञ् + सम् + √ श्रु + अप् + सप्तमी विभक्ति, एकवचन (सुनाई न देने की अवस्था में)।

3. प्रतिकूल एवं अनुकूल वायु का कथन भी एक-दूसरे की बात सुनने में बाधा की दृष्टि से ही किया गया है।

मन्वर्थमुक्तावली—प्रतिवात इति॥ प्रतिगतोऽभिमुखीभूतः शिष्यस्तदा गुरुदेशाच्छिष्य-देशमागच्छति स प्रतिवातः, यः शिष्यदेशाद्गुरुदेशमागच्छति सोऽनुवातः, तत्र गुरुणा समं नासीत। तथाऽविद्यमानः संश्रवो यत्र तस्मिन्नसंश्रवे। गुरुर्यत्र न शृणोतीत्यर्थः। तत्र गुरुगतमन्यगतं वा न किंचित्कथयेत्॥ 203॥

तत्पश्चात् शिष्य, गुरु के साथ किन स्थानों पर बैठ सकता है, इसका कथन करते हैं—

गोऽश्वोष्ट्रयानप्रासादप्रस्तरेषु कटेषु च।
आसीत गुरुणा सार्धं शिलाफलकनौषु च॥ 204॥

अन्वय—गो-अश्व-उष्ट्रयान-प्रासाद-प्रस्तरेषु च कटेषु च शिला-फलकनौषु गुरुणा सार्धम् आसीत॥ 204॥

अनुवाद—बैलगाड़ी, घोड़ागाड़ी, ऊँटगाड़ी, महलों एवं घरों में बिछाए जाने वाले आस्तरणों (बिछोनों) पर और पत्थर, तख्ता, नौका पर (शिष्य) गुरु के साथ बैठे जाए।

'चन्द्रिका'—यदि गुरु और शिष्य को एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाते हुए बैलगाड़ी, घोड़ागाड़ी तथा ऊँटगाड़ी आदि किसी भी वाहन पर बैठना पड़े तो शिष्य गुरु के साथ बैठ सकता है। इसके अतिरिक्त महल में अथवा घर में बिछाए गए बिछौने पर भी शिष्य गुरु के साथ बैठने में समर्थ है। इसी प्रकार पत्थर, नौका तथा तख्ते आदि पर भी गुरु के पास शिष्य बैठ सकता है। शास्त्रीय दृष्टि से इसमें कोई आपत्ति नहीं है।

विशेष—1. 'सहयुक्तेऽप्रधाने' सूत्र से 'सार्धम्' के योग में गुरुणा में तृतीया विभक्ति का प्रयोग।

2. 'यान' शब्द का गो, अश्व और उष्ट्र शब्द के साथ प्रयोग करके अर्थ करना होगा।

3. श्लोक में परिगणित स्थानों पर गुरु के साथ बैठना दोष-युक्त नहीं है।

4. आसीत— √ आस् + विधिलिङ्ग लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन, आत्मने. (बैठने में समर्थ है) सम्भावना में विधिलिङ्ग लकार का प्रयोग हुआ है।

मन्वर्थमुक्तावली—गो इति॥ यानशब्दः प्रत्येकमभिसंबध्यते। बलीवर्दयाने, घोटकप्रयुक्ते याने, उष्ट्रयुक्तयाने, रथकाष्ठादौ, प्रासादोपरि, प्रस्तरे, कटे च तृणादिनिर्मिते, शिलायां, फलके च दारुघटितदीर्घासने, नौकायां च गुरुणा सह आसीत॥ 204॥

पुनः अपने गुरु के, गुरु के प्रति व्यवहार एवं कर्तव्यों का कथन किया जाता है—

गुरोर्गुरौ सन्निहिते गुरुवद्वृत्तिमाचरेत्।
न चानिसृष्टो गुरुणा स्वान्गुरूनभिवादयेत्॥ 205॥

अन्वय—गुरोः गुरौ सन्निहिते गुरुवत् वृत्तिम् आचरेत् च गुरुणा अनिसृष्टः स्वान् गुरून् न अभिवादयेत्॥ 205॥

अनुवाद—गुरु के (भी) गुरु के समीप होने पर (उनसे) गुरु के समान व्यवहार करना चाहिए और गुरु की अनुमति के अभाव में अपने गुरुओं (बड़ों) के प्रणाम नहीं करना चाहिए।

'चन्द्रिका'—यदि गुरु के भी गुरु (आचार्य) एक साथ बैठे हुए हों तो उनके साथ भी अपने गुरु के समान ही व्यवहार करना चाहिए तथा यदि गुरु के आश्रम में अपने बड़े माता-पिता, सगे-सम्बन्धी मिलने के लिए आएँ, तो उन्हें गुरु की आज्ञा प्राप्त होने पर ही प्रणाम करना चाहिए, स्वयं उठकर नहीं।

विशेष—1. गुरु के गुरु को अध्यापन के अभाव में भी सम्माननीय माना गया है।

2. आश्रम में प्रत्येक क्रिया-कलाप गुरु की अनुमति से ही करनी चाहिए। इसकी अभिव्यञ्जना हो रही है।

3. **अनिसृष्टः** —न निसृष्टः, इति (नञ् समास) अनुमति के अभाव में।

4. नञ् + नि + √ सृज् + क्त — अनिसृष्टः।

5. वृत्तिः — √ वृत् + क्तिन् (व्यवहार)।

मन्वर्थमुक्तावली—गुरोर्गुराविति॥ आचार्यस्याचार्ये सन्निहिते आचार्य इव तस्मिन्नप्य-भिवादिकां वृत्तिमनुतिष्ठेत्। तथा गुरुगृहे वसन् शिष्य आचार्येणानियुक्तो न स्वान्गुरून्मातृपितृ-व्यादीनभिवादयेत्॥ 205॥

पुनः ब्रह्मचारी के कर्त्तव्यों का कथन करते हैं—

विद्यागुरुष्वेतदेव नित्या वृत्तिः स्वयोनिषु।
प्रतिषेधत्सु चाधर्मान्हितं चोपदिशत्स्वपि॥ 206॥

अन्वय—विद्यागुरुषु, स्वयोनिषु च अधर्मान् प्रतिषेधत्सु च हितम् उपदिशत्सु अपि नित्या एतत् एव वृत्तिः (करणीया)॥ 206॥

अनुवाद—ज्ञान प्रदान करने वाले गुरुओं में, अपने कुल के (श्रेष्ठ पुरुषों) में और अधर्म का निषेध करने वालों में तथा हितकारी उपदेश देने वालों में भी हमेशा यही व्यवहार करना चाहिए।

'चन्द्रिका'—अब तक जिस प्रकार के व्यवहार का कथन शिष्य द्वारा गुरुओं के प्रति किया गया, वैसा ही व्यवहार किसी भी प्रकार का ज्ञान प्रदान करने वाले गुरुओं के प्रति, अपने वंश के उत्कृष्ट गुणसम्पन्न श्रेष्ठ-पुरुषों के प्रति, तथा अनुचित कार्यों का निषेध करने वालों के प्रति एवं हितकारी उपदेश प्रदान करने वालों के प्रति भी करना चाहिए। अतः उसका पृथक् से यहाँ उलेख नहीं किया गया है।

विशेष—1. विद्या गुरु से अभिप्राय यहाँ आचार्य के अतिरिक्त उपाध्याय आदि ज्ञान प्रदान करने वाले गुरुओं से लेना चाहिए।

2. स्वयोनिषु —से पितृव्यादि से अभिप्राय ग्रहण करना चाहिए।

3. अधर्म से रोकने वाले तथा धर्मतत्त्व का उपदेश देने वाले हितेच्छुओं को भी समादरणीय कोटि में रखा गया है।

मन्वर्थमुक्तावली—विद्येति॥ आचार्यव्यतिरिक्ता उपाध्याया विद्यागुरवः तेष्वेतदेवेति सामान्योपक्रमः। किं तदाचार्य इव नित्या सार्वकालिकी वृत्तिर्विधेया। तथा स्वयोनिष्वपि पितृव्यादिषु तद्वृत्तिः। अधर्मान्निषेधत्सु धर्मतत्त्वं चोपदिशत्सु गुरुवद्वर्तितव्यम्॥ 206॥

कुछ अन्य स्थलों पर भी गुरु के समान व्यवहार का निर्देश करते हैं—

श्रेयःसु गुरुवद्वृत्तिं नित्यमेव समाचरेत्।
गुरुपुत्रेषु चार्येषु गुरोश्चैव स्वबन्धुषु॥ 207॥

अन्वय—(ब्रह्मचारी) श्रेयःसु, आर्येषु, गुरुपुत्रेषु च गुरोः स्वबन्धुषु च नित्यम् गुरुवत् एव वृत्तिम् समाचरेत्॥ 207॥

अनुवाद—(ब्रह्मचारी को) श्रेष्ठ पुरुषों में, शिष्टों में, गुरु के पुत्रों में, गुरु के तथा अपने बन्धु-बान्धवों में हमेशा ही गुरु के समान व्यवहार करना चाहिए।

'चन्द्रिका'—शिष्य को गुरु के समान ही कुछ अन्य व्यक्तियों के प्रति भी पूज्य व्यवहार करना चाहिए। जैसे—विद्या एवं तप के कारण जो लोग श्रेष्ठ एवं अग्रणी हों। मन, वचन एवं कर्म से जो सज्जन हों तथा जो गुरु के पुत्र हों एवं अपने तथा गुरु से आयु आदि में बढ़े हुए बन्धु-बान्धव हों। ये सभी गुरु के समान व्यवहार के योग्य हैं।

विशेष—1. समाचरेत् — सम् + आ + √ चर् + विधिलिङ्ग लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन (आचरण करना चाहिए)।

2. समाज में कुछ अन्य लोग भी गुरु के समान वन्दनीय हैं, यहाँ उनका कथन किया गया है।

3. गुरुपुत्रेषु — गुरोः पुत्रः — गुरुपुत्रः, तेषु (षष्ठी तत्पुरुष) गुरु के पुत्रों में।

4. गुरु के प्रसंग में आयु को ही प्रमुखता प्रदान करनी चाहिए, अर्थात् इन्हें आयु में अधिक होने पर ही सम्मान प्रदान करना चाहिए।

मन्वर्थमुक्तावली—श्रेयःस्विति॥ श्रेयःसु विद्यातपःसमृद्धेषु, आर्येष्विति गुरुपुत्रविशेषणम्। समानजातिगुरुपुत्रेषु गुरोश्च ज्ञातिष्वपि पितृव्यादिषु सर्वदा गुरुवद्वृत्तिमनुतिष्ठेत्। गुरुपुत्रश्चात्र शिष्याधिकवयाश्च बोद्धव्यः। शिष्यबालसमानवयसामनन्तरं शिष्यस्य वक्ष्यमाणत्वात्॥ 207॥

गुरुपुत्र किस अवस्था में सम्मान का अधिकारी है, इसे कहते हैं—

बालः समानजन्मा वा शिष्यो वा यज्ञकर्मणि।
अध्यापयन्गुरुसुतो गुरुवन्मानमर्हति॥ 208॥

अन्वय—बालः, समानजन्मा वा शिष्य वा गुरुसुतः अध्यापयन् यज्ञकर्मणि गुरुवत् मानम् अर्हति॥ 208॥

अनुवाद—आयु में छोटा या समान आयु वाला अथवा शिष्य भी गुरु का पुत्र अध्यापन करता हुआ (एवं) यज्ञ-कार्य सम्मादित करता हुआ गुरु के समान सम्मान के योग्य होता है।

'चन्द्रिका'—गुरु का पुत्र यदि अध्यापन कार्य कर रहा हो अथवा यज्ञ-कर्म सम्मादित करते हुए ऋत्विक् के कर्त्तव्यों का निर्वाह कर रहा हो अथवा न भी कर रहा हो तो ऐसी स्थिति में आयु में छोटा होते हुए भी अथवा समान आयु वाला होते हुए भी अथवा अपने द्वारा अध्यापन किया गया शिष्य होते हुए भी, गुरु के समान ही सम्मान का अधिकारी होता है।

विशेष—1. गुरु-पुत्र की अध्यापन एवं ऋत्विक् कर्म में महत्ता प्रतिपादित की है।

2. समानजन्मा — समानं जन्म यस्य सः (बहुव्रीहि) समान है जन्म जिसका, समवयस्क।

3. शिष्यः — √ शास् + क्यप् (एतिस्तुशास्वृदृजुषः क्यप्–3/1/109 सूत्र से क्यप् प्रत्यय)।

4. गुरुसुतः — गुरोः सुतः (षष्ठी तत्पुरुष) गुरु का पुत्र।

मन्वर्थमुक्तावली—बाल इति॥ कनिष्ठः सवया वा ज्येष्ठोऽपि वा शिष्योऽध्यापयन्न-ध्यापनसमर्थः। गृहीतवेद इत्यर्थः। स यज्ञकर्मणि ऋत्विगनृत्विग्वा यज्ञदर्शनार्थमागतो गुरुवत्पूजा-मर्हति॥ 208॥

आचार्यवदित्यविशेषेण पूजायां प्राप्तायां विशेषमाह—

पुनः गुरु-पुत्र विषयक कुछ बातों का निषेध करते हैं—

उत्सादनं च गात्राणां स्नापनोच्छिष्टभोजने।
न कुर्याद्गुरुपुत्रस्य पादयोश्चावनेजनम्॥ 209॥

अन्वय—(ब्रह्मचारी) गुरुपुत्रस्य गात्राणाम् उत्सादनमु, स्नापन-उच्छिष्टभोजने च पादयोः अवनेजनम् च न कुर्यात्॥ 209॥

अनुवाद—(ब्रह्मचारी को) गुरु-पुत्र के शरीर के अंगों को दबाना (उसे) स्नान कराना और उसका जूठा भोजन करना तथा पैरों का धोना (क्रियाएँ) नहीं करनी चाहिएँ।

'चन्द्रिका'—ब्रह्मचारी को गुरु के पुत्र के शरीर के अंगों का तेल उबटनादि की मालिश करते हुए कभी मर्दन नहीं करना चाहिए। इसीप्रकार न उसे कभी स्नान कराना चाहिए और न ही कभी उसका जूठा भोजन ही करना चाहिए। इसके अतिरिक्त कभी भी उसके पैरादि अंगों को जल से धोना भी नहीं चाहिए।

विशेष—1. गुरुपुत्र की सेवा करना ब्रह्मचारी का कर्तव्य नहीं होता, इसका प्रतिपादन किया गया है। विशेष रूप से कुछ क्रियाओं का कठोरता से निषेध किया गया है।

2. अवनेजनम् — अव + √ निज् + ल्युट् (जल से प्रक्षालन)।

3. उत्सादनम् — उत् + √ सद् + णिच् + ल्युट् (मर्दन करना, उबटनादि लगाना)।

4. स्नापनम् — √ स्ना + णिच् + ल्युट् (पुक् आगम) स्नान कराना।

मन्वर्थमुक्तावली—उत्सादनमिति॥ गात्राणामुत्सादनमुद्वर्तनं, उच्छिष्टस्य भक्षणं, पाद-योश्च प्रक्षालनं गुरुपुत्रस्य न कुर्यात्॥ 209॥

तत्पश्चात् गुरु-पत्नी के विषय में ब्रह्मचारी के कर्तव्यों का कथन करते हैं—

गुरुवत्प्रतिपूज्याः स्युः सवर्णा गुरुयोषितः।
असवर्णास्तु संपूज्याः प्रत्युत्थानाभिवादनैः॥ 210॥

अन्वय—सवर्णाः गुरुयोषितः गुरुवत् प्रतिपूज्याः स्युः तु असवर्णाः प्रत्युत्थान-अभिवादनैः सम्पूज्याः॥ 210॥

अनुवाद—समानवर्ण वाली गुरु-पत्नियाँ गुरु के समान सम्माननीय होती हैं, किन्तु भिन्नवर्ण वाली (स्त्रियाँ) स्वागतार्थ उठकर तथा अभिवादन के द्वारा (ही) आदर के योग्य होती हैं।

'चन्द्रिका'—गुरु की जो पत्नी उनके वर्ण अथवा जाति की हों उनका ब्रह्मचारी को गुरु के समान ही सम्मान करना चाहिए। उनकी आज्ञा का पालन करना चाहिए, किन्तु उनकी ऐसी पत्नी जो उनके वर्ण की नहीं हैं, उनका केवल अपने स्थान से उठकर तथा अभिवादन करके ही आदर की भावना प्रदर्शित करनी चाहिए।

विशेष—1. इस श्लोक से ऐसा प्रतीत होता है कि मनु के समय में गुरु के समान-वर्ण वाली तथा असमान वर्ण वाली दोनों ही प्रकार की एकाधिक पत्नियाँ होती थीं।

2. गुरु-पत्नी के आदर के सम्बन्ध में भी मनु ने वर्ण को महत्ता प्रदान की है।

3. प्रत्युत्थान — प्रति + उत् + √ स्था + ल्युट् (किसी के आने पर स्वागत के लिए खड़ा होना)।

4. सम्पूज्या: — सम् + √ पूज् + ण्यत् (स्त्री., प्र.वि. बहुवचन) समादरणीय।

5. असवर्णा: — न सवर्णा:, इति (नञ् समास) जो सवर्ण न हों, ऐसीं।

6. गुरुयोषित: — गुरो: योषित: (षष्ठी तत्पुरुष) गुरु की पत्नियाँ।

7. योषित् — यौति मिश्री भवति — √ युष् (मिश्रणे) + इति (स्त्री.)।

मन्वर्थमुक्तावली—गुरुवदिति॥ सवर्णा गुरुपत्न्या: गुरुवदाज्ञाकरणादिना पूज्या भवेयु:। असवर्णा: पुन: केवलप्रत्युत्थानाभिवादनै: ॥ 210 ॥

शिष्य द्वारा गुरुपत्नी के सम्बन्ध में कुछ बातों का निषेध करते हैं—

अभ्यञ्जनं स्नापनं च गात्रोत्सादनमेव च।
गुरुपत्न्या न कार्याणि केशानां च प्रसाधनम् ॥ 211 ॥

अन्वय—(ब्रह्मचारिणा) गुरुपत्न्या: अभ्यञ्जनम्, स्नापनम् च गात्रोत्सादनम्, केशानां प्रसाधनम् च न कार्याणि ॥ 211 ॥

अनुवाद—(ब्रह्मचारी द्वारा) गुरु की पत्नी के शरीर के अंगों की मालिश, स्नान, शरीर के अंगों पर उबटन लगाना और केशों को सजाना (आदि क्रियाएँ) नहीं की जानी चाहिएँ।

'चन्द्रिका'—ब्रह्मचारी कभी भी अपने गुरु की पत्नी के कहने पर भी उसके शरीर के अंगों पर तेलादि की मालिश न करे और न ही कभी उसे स्नान कराए तथा न कभी उसके शरीर पर उबटन आदि सुगन्धित पदार्थों का लेप करे और न कभी उसके केशों का फूल आदि लगाते हुए शृंगार ही करे।

विशेष—1. ये सभी क्रियाएँ उसके ब्रह्मचर्यव्रत को खण्डित करने वाली हैं। अत: इनका निषेध किया गया है।

2. प्रसाधनम् — प्र + √ साध् + ल्युट् (सजाना, अलंकृत करना)।

3. गुरुपत्न्या: — गुरो: पत्न्या: तस्या: (षष्ठी तत्पुरुष) गुरु की पत्नी के।

मन्वर्थमुक्तावली—अभ्यञ्जनमिति॥ तैलादिना देहाभ्यङ्ग:, स्नापनं गात्राणां चोद्वर्तनं,

केशानां च मालादिना प्रसाधनमेतानि गुरुपत्न्या न कर्तव्यानि। केशानामिति प्रदर्शनमात्रार्थं देहस्यापि चन्दनादिना प्रसाधनं न कुर्यात् ॥ 211 ॥

इसके पश्चात् गुरुपत्नी के सम्बन्ध में अन्य निर्देशों का कथन करते हैं—

गुरुपत्नी तु युवतिर्नाभिवाद्येह पादयोः।
पूर्णविंशतिवर्षेण गुणदोषौ विजानता ॥ 212 ॥

अन्वय—इह पूर्णविंशतिवर्षेण गुणदोषौविजानता युवतिः गुरुपत्नी तु पादयोः न अभिवाद्या ॥ 212 ॥

अनुवाद—इस संसार में जिसने बीस वर्ष पूर्ण कर लिए हैं, गुण और दोषों को जानने वाले (ब्रह्मचारी के द्वारा) युवा-अवस्था वाली, गुरु-पत्नी तो चरणस्पर्श करके अभिवादन के योग्य नहीं होती है।

'चन्द्रिका'—यदि गुरु-पत्नी युवति हो तो, बीस वर्ष की आयु को प्राप्त होने से पूर्ण यौवनसम्पन्न ब्रह्मचारी, इस अवस्था के गुण एवं दोषों को भलीप्रकार समझते हुए, युवति गुरुपत्नी के चरणों को छूकर अभिवादन नहीं करे, किन्तु युवावस्था को जिसने प्राप्त नहीं किया है, ऐसा शिष्य युवति गुरुपत्नी के चरणस्पर्श करके प्रणाम कर सकता है। इसके विपरीत युवक ब्रह्मचारी को तो दूर से पृथ्वी का स्पर्श करके ही अभिवादन करना चाहिए।

विशेष—1. युवावस्था बीस वर्ष की आयु पूर्ण होने पर हो जाती है। इस अवस्था में युवति गुरुपत्नी के 'स्पर्श' से कामविकार की सम्भावना होने से चरणस्पर्श का निषेध किया है।

2. अभिवाद्या — अभि + √ वद् + ण्यत् + टाप् (अभिवादन करने योग्य स्त्री.)।

3. गुण दोषों से यहाँ युवावस्था के गुणदोष अथवा स्त्री के गुणदोष अथवा काम-विकार के गुणदोषों से अभिप्राय ग्रहण किया जा सकता है।

4. युवन् + ति → युवतिः (यूनस्तिः सूत्र से स्त्रीलिंग में ति प्रत्यय)।

मन्वर्थमुक्तावली—गुरुपत्नी त्विति॥ युवतिर्गुरुपत्नी पादयोरुपसंगृह्य अभिवादनदोषगुणज्ञेन यूना नाभिवाद्या। पूर्णविंशतिवर्षत्वं यौवनप्रदर्शनार्थम्। बालस्य पादयोरभिवादनमनिषिद्धम्। यूनस्तु भूमावभिवादनं वक्ष्यति। ॥ 212 ॥

पुनः स्त्री-स्वभाव के दोषों का उल्लेख करते हुए तथा उनसे सावधान करते हुए कहते हैं—

स्वभाव एष नारीणां नराणामिह दूषणम्।
अतोऽर्थान्न प्रमाद्यन्ति प्रमदासु विपश्चितः ॥ 213 ॥

अन्वय—नराणाम् दूषणम् इह नारीणाम् एषः स्वभावः, अतः अर्थान् विपश्चितः प्रमदासु प्रमाद्यन्ति न ॥ 213 ॥

अनुवाद—पुरुषों को दूषित करना इस संसार में स्त्रियों का यह स्वभाव है। इस कारण बुद्धिमान् व्यक्ति स्त्रियों के विषय में असावधानी नहीं करते हैं।

'चन्द्रिका'—इस संसार में स्त्रियों के स्वभाव के विषय में यह प्रसिद्ध है कि वे पुरुषों को दूषित करती हैं। अर्थात् पुरुषों के ब्रह्मचर्यव्रत को खण्डित करने का वे स्वार्थवश सतत् प्रयास करती हैं। इस कारण इस तथ्य से सुपरिचित विद्वान् व्यक्ति कभी भी उनकी बातों में नहीं आते हैं, अपितु प्रत्येक क्षण उनके साथ व्यवहार करते हुए सावधान रहते हैं।

विशेष—1. पुरुषों को दूषित करने में स्त्रियों को मुख्य कारण माना है।

2. प्रमदा — प्रकृष्टः मदः यस्यां सा (बुहव्रीहि) प्र + √ मद् + अच् + टाप् + प्रमदा।

3. दूषणम् — √ दुष् + ल्युट् = दूषित।

4. प्रमाद्यन्ति — प्र + √ मद् + लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन (प्रमाद, असावधानी करते हैं)।

मन्वर्थमुक्तावली—स्वभाव इति॥ स्त्रीणामयं स्वभावः यदिह शृङ्गारचेष्टया व्यामोह्य पुरुषाणां दूषणम्। अतोऽर्थादस्माद्धेतोः पण्डिताः स्त्रीषु न प्रमत्ता भवन्ति॥ 213॥

पुनः स्त्रियों के सम्बन्ध में कहते हैं—

अविद्वांसमलं लोके विद्वांसमपि वा पुनः।
प्रमदा ह्युत्पथं नेतुं कामक्रोधवशानुगम्॥ 214॥

अन्वय—हि लोके काम-क्रोध-वशानुगम् अविद्वांसम् वा पुनः विद्वांसम् अपि प्रमदाः उत्पथम् नेतुम् अलम्॥ 214॥

अनुवाद—क्योंकि इस संसार में काम-क्रोध के वशीभूत मूर्ख अथवा यहाँ तक की विद्वान् को भी स्त्रियाँ कुमार्क पर ले जाने में समर्थ होती हैं।

'चन्द्रिका'—इस संसार में व्यक्ति ने भले ही अनेक शास्त्रों का अध्ययन किया हो अथवा वह पूर्णतया मूर्ख ही क्यों न हों, यदि वह काम-क्रोध के वशीभूत होता है। जितेन्द्रिय नहीं होता, तो उसे स्त्रियाँ अपने कुटिल स्वभाव के कारण अत्यन्त सरलता से कुमार्ग पर ले जाती हैं।

विशेष—1. जिसने इन्द्रियों को अपने वश में कर लिया है उस पर स्त्रियाँ प्रभावी नहीं होतीं, यह अभिव्यक्ति हो रही है।

2. काम-क्रोध व्यक्ति के सबसे बड़े शत्रु होते हैं। अतः व्यक्ति को इनसे सदैव दूर रहना चाहिए।

3. कुमार्ग पर ले जाने के सम्बन्ध में स्त्रियों की सामर्थ्य की प्रतीति हो रही है।

4. शास्त्रों का अध्ययन काम-दोष के समक्ष निरर्थक होता है।

5. नेतुम् — √ नी + तुमुन् (ले जाने के लिए)।

6. उत्पथम् — उत्क्रान्तः पन्था यस्य सः, तम् (कुमार्ग)।

मन्वर्थमुक्तावली—अविद्वांसमिति ॥ विद्वानहं जितेन्द्रिय इति बुद्धया न स्त्रीसन्निधिर्वि-धेयः। यस्मादविद्वांसं विद्वांसमपि वा पुनः पुरुषं देहधर्मात्कामक्रोधवशानुयायिनं स्त्रिय उत्पथं नेतुं समर्थाः ॥ 214 ॥ अत आह—

इसके बाद स्त्रियों के साथ एकान्तवास का निषेध करते हैं—

मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा न विविक्तासनो भवेत्।
बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति ॥ 215 ॥

अन्वय—मात्रा, स्वस्रा वा दुहित्रा (अपि) विविक्तासनः न भवेत्, इन्द्रियग्रामः बलवान्, विद्वांसम् अपि कर्षति ॥ 215 ॥

अनुवाद—माता, बहिन अथवा पुत्री के (साथ भी) एकान्त में नहीं बैठना चाहिए, (क्योंकि) इन्द्रियों का समुदाय बलवान् है। (वह) विद्वान् को भी आकृष्ट कर लेता है।

'चन्द्रिका'—इन्द्रियों की विशेषता है कि वे अपने विषय की ओर आकर्षित होती हैं। इनमें भी काम (Sex) सर्वाधिक प्रभावशाली होता है। किसी व्यक्ति ने कितना भी शास्त्रों का अध्ययन किया हो, उसे भी ये इन्द्रियाँ अपनी ओर आसानी से आकर्षित कर लेती हैं। अतः ऐसी स्थिति में व्यक्ति को चाहिए कि वह अपनी माता, बहन अथवा पुत्री के साथ भी एकान्त स्थान में न रहे, क्योंकि उसके मन में कभी भी विकार की सम्भावना हो सकती है। काम-विकार सम्बन्धों को नहीं देखता है।

विशेष—1. मात्रा, स्वस्रा, दुहित्रा में तृतीयाविभक्ति का प्रयोग 'सह' अर्थ की अभिव्यक्ति के लिए किया गया है। यद्यपि 'सह' पद का श्लोक में प्रयोग नहीं हुआ है।

2. इन्द्रियग्रामः — इन्द्रियाणाम् समूहः (इन्द्रियों का समूह) षष्ठी तत्पुरुष।

3. कर्षति — √ कृष् + लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन (आकर्षित करता है)।

मन्वर्थमुक्तावली—मात्रेति ॥ मात्रा, भगिन्या, दुहित्रा, निर्जनगृहादौ नासीत। यतोऽति-बल इन्द्रियगणः शास्त्रनियमितात्मानमपि पुरुषं परवशं करोति ॥ 215 ॥

युवा गुरु-पत्नी को युवा-शिष्य द्वारा अभिवादन के प्रकार का उल्लेख किया जाता है—

कामं तु गुरुपत्नीनां युवतीनां युवा भुवि।
विधिवद्वन्दनं कुर्यादसावहमिति ब्रुवन् ॥ 216 ॥

अन्वय—कामम् तु युवा युवतीनाम् गुरु-पत्नीमान्, 'असौ अहम् इति' ब्रुवन् विधिवत् भुवि वन्दनम् कुर्यात् ॥ 216 ॥

अनुवाद—उचित तो यही है कि युवा (ब्रह्मचारी) को युवती गुरुपत्नी का 'वह मैं हूँ' इस प्रकार कहते हुए विधिपूर्वक भूमि पर (ही झुककर) अभिवादन करना चाहिए।

'चन्द्रिका'—यदि गुरु की पत्नी युवती हो तो युवावस्था वाले ब्रह्मचारी शिष्य को

उसका अभिवादन चरणस्पर्श करके नहीं करना चाहिए, अपितु दूर से 'वह मैं' इस प्रकार अपने नाम का उच्चारण करते हुए पृथ्वी पर ही स्पर्श करते हुए झुककर अभिवादन करना चाहिए।

विशेष—1. यदि किसी व्यक्ति का नाम मणिवर्मा है तो उसे युवती गुरुपत्नियों को 'अभिवादये मणिवर्माहं भो:! इस प्रकार कहकर दूर-से ही भूमि का स्पर्श करते हुए प्रणाम कर लेना चाहिए।

2. युवक द्वारा युवती के स्पर्श से कामादि विकारों की सम्भावना के कारण युवति गुरुपत्नी के चरणस्पर्श का निषेध किया है।

3. गुरुपत्नीनाम् — गुरो: पत्नी गुरुपत्नी (षष्ठी तत्पुरुष) तेषाम् (गुरुपत्नियों के)।

4. ब्रुवन् — √ ब्रू + शतृ (बोलते हुए)।

5. वन्दनम् — √ वन्द् + ल्युट् (अभिवादन)।

मन्वर्थमुक्तावली—कामं त्विति॥ कामं तु गुरुपत्नीनां युवतीनां स्वयमपि युवा यथोक्तविधिना 'अभिवादयेऽमुकशर्माहं भो:' इति ब्रुवन्पादग्रहणं विना यथेष्टभिवादनं कुर्यात्॥ 216॥

पुन: ब्रह्मचारी के कर्तव्यों का कथन करते हैं—

विप्रोष्य पादग्रहणमन्वहं चाभिवादनम्।
गुरुदारेषु कुर्वीत सतां धर्ममनुस्मरन्॥ 217॥

अन्वय—सताम् धर्मम् अनुस्मरन् विप्रोष्य (शिष्य:) गुरुदारेषु पादग्रहणम् (कुर्यात्) च अन्वहम् अभिवादनम् कुर्वीत॥ 217॥

अनुवाद—सज्जनों के धर्म का स्मरण करते हुए, प्रवास से लौटकर (शिष्य को) गुरुपत्नियों के चरण-स्पर्श करने चाहिएँ और रोजाना (केवल) अभिवादन करना चाहिए।

'चन्द्रिका'—ब्रह्मचारी शिष्य जब प्रवास से लौटे तो सज्जनों द्वारा आचरण किए जाने वाले श्रेष्ठधर्म का स्मरण करते हुए अर्थात् मन में यह विचार करते हुए कि गुरुस्त्रियों को अभिवादन करना श्रेष्ठव्यक्ति का कर्तव्य है, उनका चरणस्पर्श करके प्रणाम करना चाहिए, किन्तु प्रतिदिन तो वह उनका केवल अभिवादन कर सकता है। अत: रोजाना गुरुपत्नियों के चरणस्पर्श आवश्यक नहीं हैं।

विशेष—1. प्रतिदिन गुरुपत्नियों के चरणस्पर्श का निषेध करते हुए केवल प्रवास से लौटने पर ही चरणस्पर्श का प्रावधान किया गया है। प्रतिदिन केवल अभिवादन पर्याप्त है।

2. स्त्रियों के प्रति आचार्य मनु का आदर-भाव परिलक्षित हो रहा है।

3. विप्रोष्य — वि + प्र + √ वस् + ल्यप् (प्रवास से लौटकर)।

4. अनुस्मरन् — अनु + √ स्मृ + शतृ (स्मरण करता हुआ)।

5. पादग्रहणम् — पादयो: ग्रहणम् (षष्ठी तत्पुरुष) चरणस्पर्श।

6. अन्वहम् — (अनु + अहन्) रोजमर्रा, प्रतिदिन।

7. अभिवादनम् — अभि + √ वद् + ल्युट् (नमस्कार, सम्मान सहित)।

मन्वर्थमुक्तावली—विप्रोष्येति॥ प्रवासादागत्य सव्येन सव्यं दक्षिणेन च दक्षिणमित्युक्त-विधिना पादग्रहणं प्रत्यहं भूमावभिवादनं च गुरुपत्नीषु युवा कुर्यात्। शिष्टानामयमाचार इति जानन्तु॥ 217॥ उक्तस्य शुश्रूषाविधेः फलमाह—

इसके बाद गुरुसेवा के फल को कहते हैं—

यथा खनन्खनित्रेण नरो वार्यधिगच्छति।
तथा गुरुगतां विद्या शुश्रूषुरधिगच्छति॥ 218॥

अन्वय—यथा खानित्रेण खनन् नरः वारि अधिगच्छति तथा शुश्रूषः गुरुगताम् विद्याम् अधिगच्छति॥ 218॥

अनुवाद—जिस प्रकार फावड़े से खोदता हुआ मनुष्य जल को प्राप्त कर लेता है, उसीप्रकार (गुरु की) सेवा करने वाला (शिष्य) गुरु में रहने वाली विद्या को प्राप्त कर लेता है।

'चन्द्रिका'—जिस प्रकार व्यक्ति कुदाली आदि से परिश्रमपूर्वक पृथ्वी को खोदता हुआ जल रूप फल को प्राप्त कर लेता है, ठीक उसीप्रकार गुरु की सेवा करने का इच्छुक शिष्य गुरु के अन्दर रहने वाली विद्यारूप फल को प्राप्त कर लेता है।

विशेष—1. जलप्राप्ति रूप फल का विद्याप्राप्ति रूप फल के साथ सुन्दरसाम्य स्थापित करने के कारण उपमालंकार, लक्षण—**"प्रस्फुटं सुन्दरं साम्यमुपमेत्याभिधीयते।"**

2. अधिगच्छति — अधि + √ गम् + लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन (प्राप्त कर लेता है)।

3. खनन् — √ खन् + (खनु अवदारणे) + शतृ = खोदता हुआ।

4. खनित्रेण — √ खन् + इत्र (तृतीया विभक्ति, एकवचन) कुदाल, गैंती, खुरपा, फावडा।

5. विद्या को गुरु-सेवा-भाव द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है।

मन्वर्थमुक्तावली—यथेति॥ यथा कश्चिन्मनुष्यः खनित्रेण भूमिं खनन् जलं प्राप्नोति, एवं गुरौ स्थितां विद्यां गुरुसेवापरः शिष्यः प्राप्नोति॥ 218॥ ब्रह्मचारिणः प्रकारत्रयमाह—

सूर्योदय से पूर्व एवं सूर्यास्त के बाद ग्राम में त्रिविध ब्रह्मचारी के ठहरने का निषेध करते हैं—

मुण्डो वा जटिलो वा स्यादथवा स्याच्छिखाजटः।
नैनं ग्रामेऽभिनिम्लोचेत्सूर्यो नाभ्युदियात्क्वचित्॥ 219॥

अन्वय—(ब्रह्मचारी) मुण्डः वा जटिलः वा अथवा शिखाजटः वा स्यात्, एनम् सूर्यः ग्रामे न अभिनिम्लोचेत् न क्वचित् अभ्युदियात् वा ॥ 219 ॥

अनुवाद—(ब्रह्मचारी) मुड़े सिर वाला हो अथवा जटाधारी हो या केवल शिखा रूप जटा को धारण करने वाला हो, इसे गाँव में न तो सूर्य अस्त होना चाहिए और न (कभी) उदय ही होना चाहिए।

'चन्द्रिका'—सर्वप्रथम ग्रन्थकार तीन प्रकार के ब्रह्मचारियों का कथन करते हैं—**प्रथम**—जो सिर के बालों को पूरी तरह से मुँडवा दे। **द्वितीय**—जिसने सिर के बालों का मुण्डन न कराया हो तथा **तृतीय**—जिसने केवल शिखा को बड़े आकार में ही धारण किया हो, अन्य बालों को कटवाया हो। इन तीनों ही श्रेणियों के ब्रह्मचारियों के लिए गाँव में रहते सूर्यास्त एवं सूर्योदय का निषेध करते हैं। अर्थात् इन ब्रह्मचारियों को किसी भी प्रयोजन से सूर्यास्त के बाद गाँव में नहीं रुकना चाहिए। इसी प्रकार सूर्योदय के पश्चात् ही गाँवों में भिक्षाटन आदि के लिए जाना चाहिए।

विशेष—1. रात्रि के समय गाँव में ब्रह्मचारी की स्थिति का कठोरतापूर्वक निषेध किया गया है। इससे उसके ब्रह्मचर्यव्रत के खण्डित होने की सम्भावना है। साथ ही संध्योपासनादि के लिए वन में जाना ही उचित है।

2. **अभिनिम्लोचेत्** — अभि + नि + √ म्लुच् (म्लुचु गत्यर्थे) विधिलिङ्ग लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन (सूर्यास्त करना चाहिए)।

3. अभ्युदियात् — अभि + उत् + √ इण् (गतौ) विधिलिङ्ग लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन (उदय होना चाहिए)।

4. एकं 'वा' पद का पादपूर्ति के लिए प्रयोग हुआ है।

5. ब्रह्मचारी के केशों के आधार पर तीन श्रेणियों का उल्लेख किया गया है।

6. कुछ विद्वानों ने इसका अभिप्राय—'ब्रह्मचारी को किसी स्थान पर सोते हुए सूर्योदय और सूर्यास्त नहीं होना चाहिए, ग्रहण किया है।

मन्वर्थमुक्तावली—मुण्डो वेति॥ मुण्डितमस्तकः, शिरःकेशजटावान्वा, शिखैव वा जटा जाता यस्य वा परे शिरःकेशा मुण्डितास्तथा वा भवेत्। एनं ब्रह्मचारिणं क्वचिद्ग्रामे निद्राणं, उत्तरत्र शयानमिति दर्शनात्सूर्यो नाभिनिम्लोचेन्नास्तमियात् ॥ 219 ॥

अत्र प्रायश्चित्तमाह—

तत्पश्चात् सोते हुए सूर्योदय या सूर्यास्त होने पर प्रायश्चित् को कहते हैं—

तं चेदभ्युदियात्सूर्यः शयानं कामचारतः।
निम्लोचेद्वाप्यविज्ञानाज्जपन्नुपवसेद्दिनम् ॥ 220 ॥

अन्वय—चेत् कामचारतः शयानम् तम् सूर्यः अभ्युदियात् अपि वा अविज्ञानात् निम्लोचेत्, दिनम् जपन् उपवसेत् ॥ 220 ॥

अनुवाद—यदि इच्छानुसार सोते हुए उस (ब्रह्मचारी) को सूर्योदय हो जाए अथवा अज्ञानवश सूर्यास्त हो जाए (तो उसे) पूरे दिन (गायत्री का) जाप करते हुए उपवास करना चाहिए।

'चन्द्रिका'—ब्रह्मचारी को हमेशा सूर्योदय से पहले शय्या का परित्याग करना चाहिए तथा सूर्यास्त के समय कभी नहीं सोना चाहिए, किन्तु भूलवश अथवा आलस्य के कारण उसे सोते हुए सूर्योदय अथवा सूर्यास्त हो जाता है तो उसे दिनभर सावित्री का तीनों व्याहृतियों के साथ जप करते हुए उपवास करना चाहिए।

विशेष—1. आचार्य गौतम ने इसके लिए दिनभर उपवास के बाद एक समय रात्रि-भोजन एवं सावित्री-जप का विधान किया है—**"सूर्याभ्युदितो ब्रह्मचारी तिष्ठेदहर भुञ्जानोभ्य-स्तमितश्च रात्रिं जपन् सावित्रीम्।"**

2. कामचारतः—कामेन चरति, इति कामचार + तसिल् (स्वेच्छाचारी, विषयासक्त)।

3. शयानम् — √ शी (शयने) + शानच् (द्वितीया विभक्ति, एकवचन) सोते हुए को।

4. 'अपि वा' का प्रयोग 'विकल्प' अर्थ की अभिव्यक्ति के लिए हुआ है।

5. उपवसेद् — उप + √ वस् + विधिलिङ्ग लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन (उपवास करना चाहिए)।

मन्वर्थमुक्तावली—तं चेदिति॥ तं चेत्कामतो निद्राणं निद्रोपवशत्वेन सूर्योऽभ्युदियाद-स्तमियात्तदा सावित्रीं जपन्नुभयत्रापि दिनमुपवसन् रात्रौ भुञ्जीत। अभिनिर्मुक्तस्योत्तरेऽहनि उपवासजपौ। 'अभिरभागे' इति कर्मप्रवचनीयसंज्ञा, ततः कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया। सावित्रीजपं तु गोतमवचनात्। तदाह गोतमः—'सूर्याभ्युदितो ब्रह्मचारी तिष्ठेत् अहरभुञ्जानोऽ-भ्यस्तमितश्च रात्रिं जपन्सावित्रीम्'। ननु गोतमवचनात्सूर्याभ्युदितस्यैव दिनाभोजनजपावुक्तौ, अभ्यस्तमितस्य तु रात्र्यभोजनजपौ, नैतत् अपेक्षायां व्याख्यासंदेहे वा मुन्यन्तरविवृतमन्वर्थमन्व-यमाह नतु स्फुटं मन्वर्थं स्मृत्यन्तरदर्शनादन्यथा कुर्मः। अतएव जपापेक्षायां गोतमवचनात्सावित्री-जपमभ्युपेय एव नतूभयत्र स्फुटं मनूक्तं दिनोपवासजपावपाकुर्मः। तस्मादभ्यस्तमितस्य मानवगो-तमीयप्रायश्चित्तविकल्पः ॥ 220 ॥ अस्य तु प्रायश्चित्तविधेरर्थवादमाह—

पुनः सूर्योदय, सूर्यास्त के समय सोने के प्रायाश्चित की अनिवार्यता का कथन करते हैं—

सूर्येण ह्यभिनिर्मुक्तः शयानोऽभ्युदितश्च यः।
प्रायश्चित्तमकुर्वाणो युक्तः स्यान्महतैनसा ॥ 221 ॥

अन्वय—हि यः शयानः सूर्येण अभिनिर्मुक्तः च अभ्युदितः, प्रायश्चितम् अकुर्वाणः (सः) महता एनसा युक्तः स्यात् ॥ 221 ॥

अनुवाद—क्योंकि जो सोते हुए सूर्यास्त एवं सूर्योदय करता है, प्रायश्चित् न करता हुआ (वह) महान् पाप से युक्त हो जाता है।

'चन्द्रिका'—यदि ब्रह्मचारी किसी भी कारणवश सूर्यास्त के समय अथवा सूर्योदय के समय सोता है और अहंकारवश, उपेक्षा अथवा अन्य किसी वजह से उसका प्रायश्चित् रूप व्रत एवं गायत्री का जप नहीं करता है तो वह महान् पाप से युक्त हो जाता है।

विशेष—1. प्रायश्चित् की अनिवार्यता प्रतिपादित की गई है।

2. अभिनिर्मुक्तः — अभि + निर् + √ मुच् + क्त (सूर्यास्त के समय सोया हुआ)।

3. अभ्युदितः — अभि + उद् + √ इण् (गतौ) + क्त (सूर्योदय के समान सोया हुआ)।

4. प्रायश्चितम् — प्रायो नाम तपः प्रोक्तं चित्तं निश्चय उच्यते, तपोनिश्चय संयोगात् प्रायश्चित्तमितीर्यते-हेमाद्रि (अथवा प्रायस्य पापस्य चित्तं विशोधनं यस्मात्)।

5. अकुर्वाणः — न कुर्वाणः इति (नञ् समास) नञ् + √ कृ + शानच् (न करता हुआ)।

6. युक्तः — √ युज् + क्त।

मन्वर्थमुक्तावली—सूर्योणेति॥ यस्मात्सूर्येणाभिनिर्मुक्तोऽभ्युदितश्च निद्राणः प्रायश्चित्त-मकुर्वन्महता पापेन युक्तो नरकं गच्छति। तस्माद्यथोक्तप्रायश्चित्तं कुर्यात्॥ 221॥

यस्मादुक्तप्रकारेण संध्यातिक्रमे महत्पापमतः—

तत्पश्चात् ब्रह्मचारी के अन्य कर्तव्यों का उल्लेख करते हैं—

आचम्य प्रयतो नित्यमुभे संध्ये समाहितः।
शुचौ देशे जपञ्जप्यमुपासीत यथाविधि॥ 222॥

अन्वय—आचम्य प्रयतः समाहितः नित्यम् शुचौ देशे जप्यम् जपन् उभे सन्ध्ये यथा-विधि उपासीत॥ 222॥

अनुवाद—आचमन करके, इन्द्रियों को वश में किए हुए, एकाग्रचित्त हुआ (ब्रह्मचारी) प्रतिदिन पवित्र स्थान पर जप के योग्य (जप्य-गायत्री) को जपता हुआ दोनों सन्ध्याओं में विधिपूर्वक उपासना करे।

'चन्द्रिका'—ब्रह्मचारी सदा ही किसी शुद्ध एवं पवित्र स्थान पर बैठकर सर्वप्रथम आचमन करे तथा अपनी कर्मेन्द्रियों, ज्ञानेन्द्रियों को नियन्त्रित कर अपने मन को भी एकाग्र करे एवं शास्त्रोक्त विधि से प्रातःकालीन सन्ध्या एवं सायंकालीन संध्या दोनों में गायत्री मन्त्र का जाप करते हुए उपासना करे। यह ब्रह्मचारी का प्रतिदिन का कर्तव्य है, इसकी भी उसे कभी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए।

विशेष—1. ब्रह्मचारी के लिए दोनों संध्याओं में गायत्री के जप की अनिवार्यता प्रतिपादित की है।

2. 'जप्यम्' से यहाँ 'गायत्री' अर्थ ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि धर्मशास्त्रों में गायत्री मन्त्र को ही जप के योग्य बताया गया है।

3. गायत्री जप में स्थान की पवित्रता, मन की एकाग्रता एवं इन्द्रियों का वश में होना अत्यावश्यक है।

4. आचम्य — आ + √ चम् (चमु अदने) + ल्यप् (क्त्वा) आचमन करके।

5. समाहितः — सम् + आ + √ धा + क्त (एकनिष्ठ, एकाग्रचित्त)।

6. जपन् — √ जप् + शतृ + (जपता हुआ)।

मन्वर्थमुक्तावली—आचम्येति॥ आचम्य पवित्रो नित्यमनन्यमनाः शुचिदेशे सावित्रीं जपन्नुमे संध्ये विधिवदुपासीत॥ 222॥

पुनः आचरण में मनोनुकूलता तथा कल्याणकारिता का प्रतिपादन करते हैं—

यदि स्त्री यद्यवरजः श्रेयः किंचित्समाचरेत्।
तत्सर्वमाचरेद्युक्तो यत्र वास्य रमेन्मनः॥ 223॥

अन्वय—यदि स्त्री, यदि अवरजः किञ्चित् श्रेयः समाचरेत् वा यत्र अस्य मनः रमेत्, तत् सर्वम् युक्तः आचरेत्॥ 223॥

अनुवाद—यदि स्त्री (अथवा) यदि निकृष्ट जाति का (कोई) कुछ भी कल्याणकारी आचरण करे अथवा जहाँ इसका मन लगे, वह सब शास्त्र-सम्मत आचरण करना चाहिए।

'चन्द्रिका'—ब्रह्मचारी को क्या-क्या कार्य करने चाहिएँ, इस विषय में ग्रन्थकार दो प्रमुख आधारों का कथन करते हैं—प्रथम, ऐसा कार्य जो कल्याणकारी हो, उसे करने में सदैव उत्साहित रहना चाहिए, भले ही उन कार्यों का प्रारम्भ किसी गुरु-पत्नी, स्त्री अथवा निकृष्ट वर्ण में उत्पन्न व्यक्ति द्वारा किया गया हो। उनके विषय में ऐसा नहीं सोचना चाहिए कि यह किसी स्त्री द्वारा किया गया है अथवा निम्नवर्ण के व्यक्ति द्वारा। इसके अतिरिक्त जिन कार्य को करने में मन प्रसन्नता का अनुभव करे, उन्हें भी निसंकोच करना चाहिए।

विशेष—1. 'युक्तः' से अभिप्राय शास्त्रसम्मत कार्यों से है, भले ही व्यक्ति को शास्त्र विरुद्ध कार्य करना अच्छा लगे, किन्तु उन्हें नहीं करना चाहिए।

2. अवरजः — न वरः, इति, अवरः तस्मिन् जायते (निकृष्ट वर्ण में उत्पन्न शूद्र आदि)।

3. श्रेयस् — अतिशयेन प्रशस्यम् — ईयसुन्, श्रादेश (अपेक्षाकृत अच्छा, कल्याणकारी)।

4. समाचरेत् — सम + आ + √ चर् + विधिलिङ्ग, प्रथम पुरुष, एकवचन (आचरण करना चाहिए)।

मन्वर्थमुक्तावली—यदीति॥ यदि स्त्री शूद्रो वा किंचिच्छ्रेयोऽनुतिष्ठति तत्सर्वं युक्तोऽनुतिष्ठेत्। यत्र च शास्त्रनिषिद्धे मनोऽस्य तुष्यति तदपि कुर्यात्॥ 223॥

श्रेय एव हि धर्मार्थौ तद्दर्शयति—

तत्पश्चात् पुरुषार्थ चतुष्टय में से प्रथम तीनों का महत्त्व प्रतिपादित करते हैं—

धर्मार्थावुच्यते श्रेयः कामार्थौ धर्म एव च।
अर्थ एवेह वा श्रेयस्त्रिवर्ग इति तु स्थितिः ॥ 224 ॥

अन्वय—इह धर्मार्थौ श्रेयः उच्यते, कामार्थौ (श्रेयः उच्यते) च धर्म एव श्रेयः उच्यते, अर्थः एव श्रेयः (उच्यते), तु त्रिवर्गः श्रेयः, इति स्थितिः ॥ 224 ॥

अनुवाद—इस संसार में (कुछ) धर्म और अर्थ को कल्याणकारी कहते हैं, (कुछ) काम और अर्थ को (कल्याणकारी मानते हैं) और (कुछ) धर्म को ही श्रेयष्कर कहते हैं (तथा कुछ) धन को ही श्रेष्ठ (मानते हैं), किन्तु त्रिवर्ग (धर्म अर्थ और काम) ही वस्तुतः कल्याणकारी है, यह वस्तुस्थिति है।

'चन्द्रिका'—पुरुषार्थ चतुष्टय—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष में उपयोगिता की दृष्टि से अलग-अलग विद्वानों ने अन्यान्य को महत्ता प्रदान की है। इसी विषय में विद्वानों के वैमत्य को प्रतिपादित करने के बाद अपने मत को उद्धृत करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि वस्तुतः धर्म, अर्थ और काम इन तीनों का ही मनुष्य के जीवन में अत्यधिक महत्त्व है। अतः तीनों ही श्रेयष्कर हैं, कोई एक अथवा कोई दो नहीं।

कुछ विद्वानों की दृष्टि में मनुष्य को केवल धर्म और अर्थ इन दो पुरुषार्थों का सेवन करना चाहिए। इससे उसे कल्याणों की प्राप्ति होती है। इसके विपरीत कुछ अन्य विद्वानों के मत में 'काम' और 'अर्थ' इन दो पुरुषार्थों का सेवन ही व्यक्ति के लिए कल्याणकारी है, किन्तु इनके अतिरिक्त कुछ विद्वान् एकमात्र धर्म को, तो कुछ एकमात्र अर्थ को ही मनुष्य के लिए हितकारी एवं उन्नति प्रदान करने वाला मानते हैं।

यहाँ तक अन्य विद्वानों के मत एवं विचारों का प्रतिपादन करके श्लोक के अन्तिम चरण में व्यवस्था देते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि वस्तुतः ये सभी मत उचित नहीं हैं, अपितु पुरुषार्थ-चतुष्टय का त्रिवर्ग-अर्थात् धर्म, अर्थ और काम तीनों ही उपयोगी एवं कल्याणों को देने वाले हैं। अतः मनुष्य को इन तीनों का समान रूप से सेवन करना चाहिए। यही प्रशस्य स्थिति है।

विशेष—1. जीवन में धर्म-अर्थ और काम इन तीनों की ही अनिवार्य आवश्यकता एवं उपयोगिता प्रतिपादित की है।

2. 'अर्थ और काम' इन दोनों को चार्वाक दर्शन के अनुयायियों ने महत्ता प्रदान की है—**''यावज्जीवेत् सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा धृतं पिबेत्।''**

3. स्थितिः — √ स्था + क्तिन् (वस्तुस्थिति)।

मन्वर्थमुक्तावली—धर्मार्थाविति ॥ धर्मार्थौ श्रेयोऽभिधीयते कामहेतुत्वादिति केचिदाचार्या मन्यन्ते। अन्ये त्वर्थकामौ सुखहेतुत्वाच्छ्रेयोऽभिधीयते। धर्म एवेत्यपरे। अर्थकामयोरभ्यु-

पायत्वात्। अर्थ एवेह लोके श्रेय इत्यन्ये। धर्मकामयोरपि साधनत्वात्। संप्रति स्वमतमाह— धर्मार्थकामात्मकः परस्पराविरुद्धस्त्रिवर्ग एव पुरुषार्थतया श्रेय इति विनिश्चयः। एवं च बुभुक्षून्प्रत्युपदेशो न मुमुक्षून्। मुमुक्षूणां तु मोक्ष एव श्रेय इति षष्ठे वक्ष्यते॥ 224॥

इसके बाद आचार्य एवं माता-पिता के अपमान का निषेध करते हुए कहते हैं—

आचार्यश्च पिता चैव माता भ्राता च पूर्वजः।
नार्तेनाप्यवमन्तव्या ब्राह्मणेन विशेषतः॥ 225॥

अन्वय—आर्तेन अपि आचार्यः पिता च माता च पूर्वजः, भ्राता च न अवमन्तव्याः विशेषतः ब्राह्मणेन तु न॥ 225॥

अनुवाद—दुःखी व्यक्ति को भी आचार्य, माता, पिता और बड़े भाई का अपमान नहीं करना चाहिए। विशेष रूप से ब्राह्मण को तो (कभी भी अपमान) नहीं (करना चाहिए)।

'चन्द्रिका'—व्यक्ति कितना भी दुःखी अथवा मानसिक रूप से पीड़ित क्यों न हो उसे कभी भी माता, पिता, आचार्य एवं अपने बड़े भाई का अपमान नहीं करना चाहिए। विशेष रूप से ब्राह्मण वर्ण में उत्पन्न व्यक्ति को तो इस विषय में अत्यन्त सावधान रहना चाहिए।

विशेष—1. ब्राह्मण वर्ण में उत्पन्न व्यक्ति के लिए कठोरतापूर्वक आचार्य, पिता-माता तथा बड़े भाई के अपमान का निषेध किया है।

2. आचार्य, पिता, माता और बड़े भाई का क्रम उनके महत्त्व के अनुसार रखा गया है। इस दृष्टि से माता की अपेक्षा पिता का तथा पिता के अपेक्षा आचार्य का महत्त्व अधिक है।

3. आचार्य मनु पितृ-प्रधान संस्कृति के पोषक थे, ऐसा प्रतीत होता है।

4. अवमन्तव्याः — अव + √ मन् + तव्यत् + प्रथमा विभक्ति, बहुवचन (अपमान करना चाहिए)।

मन्वर्थमुक्तावली—आचार्यश्चेति॥ आचार्यो जनको जननी च भ्राता च सगर्भो ज्येष्ठः पीडितेनाप्यमी नावमाननीयाः विशेषतो ब्राह्मणेन यस्मात्॥ 225॥

पुनः आचार्य, पिता, माता और अग्रज भ्राता के महत्त्व का प्रतिपादन करते हैं—

आचार्यो ब्रह्मणो मूर्तिः पिता मूर्तिः प्रजापतेः।
माता पृथिव्या मूर्तिस्तु भ्राता स्वो मूर्तिरात्मनः॥ 226॥

अन्वय—आचार्यः ब्रह्मणः मूर्तिः, पिता प्रजापतेः मूर्तिः माता तु पृथिव्याः मूर्तिः, स्वभ्राता आत्मनः मूर्तिः (भवति)॥ 226॥

अनुवाद—आचार्य ब्रह्म की मूर्ति है, पिता प्रजापति की मूर्ति है, माता तो पृथ्वी की मूर्ति है (तथा) अपना भाई स्वयं की मूर्ति (होती है)।

'चन्द्रिका'—वेद-ज्ञान प्रदान करने वाला आचार्य साक्षात् ब्रह्म की मूर्ति होता है।

इसी प्रकार जन्म देने वाला पिता साक्षात् प्रजापति की मूर्ति होता है। इसके अतिरिक्त जन्मदात्री माता तो साक्षात् पृथ्वी की ही मूर्ति है और अपना भाई स्वयं की प्रतिकृति होता है। इस दृष्टि से व्यक्ति को कभी भी इनका अपमान नहीं करना चाहिए।

विशेष—1. आचार्य, पिता, माता और बड़ा भाई इन्हें अत्यन्त गौरवास्पद बताया है।

2. अपनी ही मूर्ति होने के कारण व्यक्ति को अपने बड़े अथवा छोटे भाई का भी अपमान नहीं करना चाहिए।

3. मूर्तिः — √ मूर्च्छ् + क्तिन् (दृश्यमान आकृति)।

मन्वर्थमुक्तावली—आचार्य इति॥ आचार्यो वेदान्तोदितस्य ब्रह्मणः परमात्मनो मूर्तिः शरीरं, पिता हिरण्यगर्भस्य, माता च धारणात्पृथिवीमूर्तिः, भ्राता च स्वः सगर्भः क्षेत्रज्ञस्य। तस्माद्देवतारूपा एता नावमन्तव्याः॥ 226॥

इसी क्रम में माता-पिता के महत्त्व का पुनः प्रतिपादन करते हैं—

यं मातापितरौ क्लेशं सहेते संभवे नृणाम्।
न तस्य निष्कृतिः शक्या कर्तुं वर्षशतैरपि॥ 227॥

अन्वय—नृणाम् सम्भवे मातापितरौ यम् क्लेशम् सहेते, तस्य निष्कृतिः वर्षशतैः अपि न कर्तुम् शक्या॥ 227॥

अनुवाद—मनुष्यों की उत्पत्ति में माता-पिता जो कष्ट सहन करते हैं, उसका प्रतिकार सैकड़ों वर्षों में भी नहीं किया जा सकता है।

'चन्द्रिका'—सन्तान को जन्म देने में गर्भाधान से लेकर जन्म-पर्यन्त और उसका पालन-पोषण करने में माता-पिता को जो कष्ट उठाना पड़ता है। उस ऋण से व्यक्ति सैकड़ों वर्षों तक सेवा करके भी मुक्त नहीं हो सकता है। अतः व्यक्ति को सदैव अपने माता-पिता की सेवा एवं सम्मान करना चाहिए।

विशेष—1. माता-पिता दोनों में से पिता की अपेक्षा माता का कष्ट-गर्भ में धारण करना, प्रसव वेदना से होने वाला कष्ट, उत्पन्न होने के बाद उसके संरक्षण, मलमूत्र आदि के सम्मार्जन से होने वाला कष्ट, अतिशयता लिए होता है।

2. निष्कृतिः — निस् + √ कृ + क्तिन् (प्रतिकार, प्रत्युपकार)।

3. शक्या — √ शक् + ण्यत् + टाप् (समर्थ है)।

4. सन्तान का पालन पोषण करने के लिए धन कमाना आदि में पिता को कष्ट होता है। अतः माता-पिता दोनों का कथन किया गया है।

मन्वर्थमुक्तावली—यमिति॥ नृणामपत्यानां सम्भवे गर्भाधाने सति अनन्तरं ये क्लेशं मातापितरौ सहेते तस्य वर्षशतैरप्यनेकैरपि जन्मभिरानृण्यं कर्तुमशक्यम्। मातुस्तावस्कुक्षौ धारणदुःखं, प्रसववेदनातिशयो, जातस्य रक्षणवर्धन कष्टं च पितुरधिकान्येव। रक्षासंवर्धनदुःखं, उपनयनात्प्रभृति वेदतदङ्गाध्यापनादिक्लेशातिशय इति सर्वसिद्धं तस्मात्॥ 227॥

पुनः इन तीनों आचार्य, माता, पिता के प्रति सद्व्यवहार का कथन करते हैं—

तयोर्नित्यं प्रियं कुर्यादाचार्यस्य च सर्वदा।
तेष्वेव त्रिषु तुष्टेषु तपः सर्वं समाप्यते॥ 228॥

अन्वय—तयोः नित्यम् च आचार्यस्य सर्वदा प्रियम् कुर्यात् तेषु त्रिषु तुष्टेषु एव सर्वम् तपः समाप्यते॥ 228॥

अनुवाद—उन दोनों (माता-पिता) का प्रतिदिन तथा आचार्य का हमेशा प्रिय करना चाहिए। उन तीनों के सन्तुष्ट होने पर ही सभी तप पूर्ण हो जाते हैं।

'चन्द्रिका'—आचार्य, माता-पिता इन तीनों की आज्ञा का व्यक्ति को सदैव पालन करना चाहिए, इनकी सेवा करनी चाहिए, इनके मनोनुकूल व्यवहार करना चाहिए। कोई भी ऐसा कार्य नहीं करना चाहिए जिससे इन्हें कष्ट की अनुभूति हो, क्योंकि यदि ये तीनों प्रसन्न होते हैं तो व्यक्ति को किसी अन्य तप के आचरण की आवश्यकता नहीं है। इनकी प्रसन्नता से बड़े से बड़े तप का फल भी व्यक्ति को सहज ही प्राप्त हो जाता है।

विशेष—1. तयोः से अभिप्राय माता एवं पिता से ग्रहण करना चाहिए।

2. नित्यम् और सर्वदा में एक पद पादपूर्ति के लिए प्रयुक्त हुआ है।

3. माता-पिता एवं आचार्य की सेवा को चान्द्रायण आदि सभी प्रकार के व्रत एवं तप आदि से बढ़कर प्रतिपादित किया है।

मन्वर्थमुक्तावली—तयोर्नित्यमिति॥ तयोर्मातापित्रोः प्रत्यहमाचार्यस्य च सर्वदा प्रीतिमुत्पादयेत्। यस्मात्तेष्वेव त्रिषु प्रीतेषु सर्वं तपश्चान्द्रायणादिकं फलद्वारेण सम्यक्प्राप्यते मात्रादित्रयतुष्टचैव सर्वस्य तपसः फलं प्राप्यत इत्यादि॥ 228॥

पुनः इस विषय में ही अग्रिम श्लोक का अवतरण करते हैं—

तेषां त्रयाणां शुश्रूषा परमं तप उच्यते।
न तैरभ्यननुज्ञातो धर्ममन्यं समाचरेत्॥ 229॥

अन्वय—तेषाम् त्रयाणाम् शुश्रूषा परमं तपः उच्यते, तैः अभ्यननुज्ञातः अन्यम् धर्मम् न समाचरेत्॥ 229॥

अनुवाद—उन तीनों की सेवा (ही) परम तप कहा गया है, उनकी आज्ञा के अभाव में (व्यक्ति को) अन्य धर्म का आचरण नहीं करना चाहिए।

'चन्द्रिका'—आचार्य, माता और पिता इन तीनों की सेवा करना ही शास्त्रों में सर्वोत्कृष्ट तप प्रतिपादित किया गया है। इसलिए व्यक्ति को सदैव इन तीनों की आज्ञा का पालन करना चाहिए। केवल वे ही कार्य करने चाहिएँ जो इनके मन के अनुकूल हों। इनकी आज्ञा के बिना कोई भी कार्य नहीं करना चाहिए। इनकी प्रसन्नता इनके आज्ञा-पालन में ही निहित है।

विशेष—1. अभ्यननुज्ञातः — अभि + नञ् + √ ज्ञा + क्त (ठीक प्रकार आज्ञा प्राप्त किए बिना)।

2. माता-पिता और आचार्य की सेवा को सर्वोत्कृष्ट तप प्रतिपादित किया है। इनकी सेवा से सभी फलों की प्राप्ति सम्भव है।

मन्वर्थमुक्तावली—तेषामिति॥ तेषां मातापित्राचार्याणां परिचर्या सर्वं तपोमयं श्रेष्ठमित एव सर्वतपः फलप्राप्तेः। यद्यन्यमपि धर्मं कथंचित्करोति तदप्येतत्त्रयानुमतिव्यतिरेकेण न कुर्यात्॥ 229॥

तत्पश्चात् माता-पिता और आचार्य के महत्त्व का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं—

त एव हि त्रयो लोकास्त एव त्रय आश्रमाः।
त एव हि त्रयो वेदास्त एवोक्तास्त्रयोऽग्नयः॥ 230॥

अन्वय—हि ते एव त्रयः लोकाः, ते एव त्रयः आश्रमाः, ते एव त्रयः वेदाः हि ते एव त्रयः अग्नयः उक्ताः॥ 230॥

अनुवाद—क्योंकि वे ही तीन लोक हैं, वे ही तीन आश्रम हैं, वे ही तीन वेद हैं और वे ही तीन अग्नियाँ कही गई हैं।

'चन्द्रिका'—विद्वान् आचार्यों के मत में—माता-पिता और आचार्य ये तीनों ही वस्तुतः भूः, भुवः और स्वः तीन लोक हैं। इसी प्रकार ये तीनों ही ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और वानप्रस्थ ये तीनों आश्रम हैं। ये तीनों ही ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद हैं तथा ये तीनों ही गार्हपत्य, दाक्षिणात्य और आहवनीय ये तीनों अग्नियाँ कही गई हैं।

विशेष—1. प्रस्तुत श्लोक को इस प्रकार भी व्यक्त कर सकते हैं—

	लोक	आश्रम	वेद	अग्नि
(क) पिता →	भूः	→ ब्रह्मचर्याश्रम →	ऋग्वेद →	गार्हपत्य
(ख) माता →	भुवः	→ गृहस्थाश्रम →	यजुर्वेद →	दाक्षिणात्य
(ग) आचार्य →	स्वः	→ वानप्रस्थाश्रम →	सामवेद→	आहवनीय

2. द्वितीय 'हि' को 'अवधारण' अर्थ में प्रयुक्त मानना चाहिए।

3. प्रस्तुत श्लोक में आचार्य, पिता, माता में तीनों लोक आदि का कथन कारण-कार्य रूप भाव की दृष्टि से 'आयुर्घृतम्' के समान ही मानना चाहिए।

मन्वर्थमुक्तावली—त एवेति॥ यस्मात्त एव मातापित्राचार्यास्त्रयो लोकाः लोकत्रयप्राप्तिहेतुत्वात्। कारणे कार्योपचारः। त एव ब्रह्मचर्यादिभावत्रय आश्रमाः। गार्हस्थ्याद्याश्रमत्रयप्रदायकत्वात्। त एव त्रयो वेदाः। वेदत्रयजपफलोपायत्वात्। त एव हि त्रयोऽग्नयोऽभिहितास्त्रेतासंपाद्ययज्ञादिफलदातृत्वात्॥ 230॥

इसी विषय को और अधिक स्पष्ट करते हैं—

पिता वै गार्हपत्योऽग्निर्माताग्निर्दक्षिणः स्मृतः।
गुरुराहवनीयस्तु साग्नित्रेता गरीयसी॥ 231॥

अन्वय—वै पिता गार्हपत्यः अग्निः, माता दक्षिणः अग्निः तु गुरुः आहवनीयः सा अग्नित्रेता गरीयसी स्मृतः॥ 231॥

अनुवाद—वस्तुतः पिता गार्हपत्य अग्नि, माता दक्षिण (नामक) अग्नि और गुरु आहवनीय (अग्नि) है। ये तीनों अग्नि (ही) श्रेष्ठ मानी गयी हैं।

'चन्द्रिका'—शास्त्रीय दृष्टि से वास्तव में पिता को गार्हपत्य अग्नि के रूप में माना गया है तथा माता को दाक्षिणात्य अग्नि का दर्जा दिया गया है। इसके अतिरिक्त आचार्य को आहवनीय अग्नि के रूप में मान्यता प्रदान की गई है। जिस प्रकार इन तीनों गार्हपत्य, दाक्षिणात्य एवं आहवनीय अग्नियों का महत्त्व स्वीकार किया गया है, ये तीनों पवित्र, महत्त्वपूर्ण एवं पूजनीय हैं। ठीक उसी प्रकार माता पिता एवं आचार्य पवित्र, महत्त्वूर्ण एवं पूज्य हैं। अतः हमें उनका सम्मान करना चाहिए।

विशेष—1. 'वै' शब्द का प्रयोग 'अवधारण' अर्थ की अभिव्यक्ति के लिए हुआ है।

2. जिस प्रकार तीनों अग्नियाँ पवित्र मानी गई हैं, वैसे ही माता, पिता एवं आचार्य की पवित्रता की अभिव्यक्ति हो रही है।

3. गरीयसी — गुरु + ईयसुन्, गर् आदेश (गुरु की मध्यमावस्था) अपेक्षाकृत महत्त्वपूर्ण।

4. गार्हपत्यः (गृहपतिना नित्यं संयुक्तः) गृहपति के द्वारा स्थायी रूप से रखे जाने वाली तीन यज्ञाग्नियों में से एक। यह अग्नि पिता से प्राप्त की जाती है एवं सन्तान को सौंप दी जाती है। इसी से यज्ञ में अग्न्याधान किया जाता है। (मनु. 2/231)

5. दक्षिणा-अग्नि — दक्षिण की ओर स्थापित अग्नि, इसे 'अन्वाहार्यपचन' भी कहते हैं। (आप्टेकोश)

6. आहवनीय अग्नि — आ + √ हु + अनीयर्, आहुति देने योग्य, तीन अग्नियों में एक, गार्हपत्य अग्नि से ली हुई अभिमन्त्रित अग्नि, जो यज्ञ में प्रज्वलित की जाती है।

7. अग्निः — अंगति ऊर्ध्वं गच्छति - अङ्ग् + नि (ङ लोप)।

मन्वर्थमुक्तावली—पितेति॥ वैशब्दोऽवधारणे। पितैव गार्हपत्योऽग्निः, माता दक्षिणाग्निः, आचार्य आहवनीयः। सेयमग्नित्रेता श्रेष्ठतरा। स्तुत्यर्थत्वाच्चास्य न वस्तुविरोधोऽत्र भावनीयः॥ 231॥

तत्पश्चात् माता-पिता और गुरु की सेवा के फल का कथन करते हैं—

त्रिष्वप्रमाद्यन्नेतेषु त्रींल्लोकान्विजयेद्गृही।
दीप्यमानः स्ववपुषा देववद्दिवि मोदते॥ 232॥

अन्वय—एतेषु त्रिषु अप्रमाद्यन् गृही त्रीन् लोकान् विजयेत्, स्व वपुषा दीप्यमानः (सः) देववत् दिवि मोदते॥ 232॥

अनुवाद—इन तीनों में प्रमाद न करता हुआ गृहस्थ व्यक्ति तीनों लोकों को जीत लेता है एवं अपने शरीर को प्रकाशित होता हुआ (वह) देवताओं के समान स्वर्गलोक में आनन्दित होता है।

'चन्द्रिका'—गृहस्थधर्म का निर्वाह करने वाला व्यक्ति माता-पिता एवं गुरु की सेवा करने एवं उनके अनुकूल आचरण करने में यदि लेशमात्र भी आलस्य नहीं करता है तो वह इसके फलस्वरूप तीनों लोकों (भूः भुवः, स्वः) को जीत लेता है। इनकी सेवा से प्राप्त होने वाले पुण्यों के प्रताप से उसका शरीर देवताओं के समान तेजस्वी एवं देदीप्यमान हो जाता है तथा मृत्यु के बाद वह अन्य देवताओं के समान ही स्वर्गलोक में आनन्द प्राप्त करता है।

विशेष—1. अप्रमाद्यन् — न प्रमाद्यन्, इति (नञ् समास) नञ् + प्र + √ मद् + घञ् + शतृ (आलस्य न करता हुआ)।

2. दीप्यमानः — √ दीप् + शानच् (प्रकाशित होता हुआ)।

3. दिवि से यहाँ द्युलोक अर्थ भी किया जा सकता है।

4. मोदते — √ मुद् + लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन, आत्मने. (आनन्दित होता है)।

5. सेवा के महत्त्व का प्रतिपादन किया है।

मन्वर्थमुक्तावली—त्रिष्विति।। एतेषु त्रिषु प्रमादमकुर्वन्ब्रह्मचारी तावज्जयत्येव गृहस्थोऽपि त्रींल्लोकान्विजयते। संज्ञापूर्वकस्यात्मनेपदविधेरनित्यत्वान्न 'विपराभ्यां जेः' इत्यात्मनेपदम्। त्रींल्लोकान्विजयेदिति त्रिष्वाधिपत्यं प्राप्नोति। तथा स्ववपुषा प्रकाशमानः सूर्यादिदेववद्दिवि हृष्टो भवति।। 232।।

माता-पिता एवं गुरु-सेवा में गुरुसेवा की उत्कृष्टता का प्रतिपादन करते हैं—

इमं लोकं मातृभक्त्या पितृभक्त्या तु मध्यमम्।
गुरुशुश्रूषया त्वेवं ब्रह्मलोकं समश्नुते।। 233।।

अन्वय—मातृभक्त्या इमम् लोकम्, पितृभक्त्या तु मध्यमम् एवं गुरुशुश्रूषया ब्रह्मलोकम् समश्नुते।। 233।।

अनुवाद—माता की भक्ति से इस लोक को, तथा पिता की भक्ति के द्वारा अन्तरिक्ष लोक को एवं गुरु की सेवा के द्वारा (व्यक्ति) ब्रह्मलोक को प्राप्त कर लेता है।

'चन्द्रिका'—यदि मनुष्य माता की सेवा करता है तो उसे इसलोक में सुखों की प्राप्ति होती है तथा पिता की सेवा करने पर वह अन्तरिक्ष-लोक में निवास प्राप्त करता है, किन्तु गुरु की सेवा-शुश्रूषा करने पर तो वह ब्रह्मलोक को प्राप्त कर लेता है। अतः माता, पिता एवं आचार्य इनकी सेवा में उत्तरोत्तर आचार्य की सेवा करना अत्यधिक श्रेष्ठ है।

विशेष—1. समश्नुते — सम् + √ अश् (व्याप्तौ) + लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन (प्राप्त कर लेता है)।

2. माता पिता एवं गुरु में, गुरु-सेवा की श्रेष्ठता प्रतिपादित की है।

3. गुरुशुश्रूषा — गुरोः शुश्रूषा तया (षष्ठी तत्पुरुष) इसी प्रकार मातृभक्त्या एवं पितृभक्त्या में भी समझना चाहिए।

4. ब्रह्मलोक को ही हिरण्यगर्भ लोक भी कहा जाता है।

मन्वर्थमुक्तावली—इममिति॥ इमं भूर्लोकं मातृभक्त्या। पितृभक्त्या मध्यममन्तरिक्षं। आचार्यभक्त्या तु हिरण्यगर्भलोकमेव प्राप्नोति॥ 233॥

पुनः इन तीनों की सेवा के फल को कहते हैं—

सर्वे तस्यादृता धर्मा यस्यैते त्रय आदृताः।
अनादृतास्तु यस्यैते सर्वास्तस्याफलाः क्रियाः॥ 234॥

अन्वय—यस्य एते त्रय आदृताः, तस्य सर्वे धर्माः आदृताः, तु यस्य एते (त्रयः) अनादृताः तस्य सर्वाः क्रियाः अफलाः (भवन्ति)॥ 234॥

अनुवाद—जिसके (माता, पिता और गुरु) ये तीनों समादृत हैं, उसके सभी धर्म सत्कृत हैं, किन्तु जिसके ये (तीनों) आदरयुक्त नहीं हैं, उसकी सभी क्रियाएँ निष्फल (हो जाती हैं)।

'चन्द्रिका'—जिस व्यक्ति द्वारा माता, पिता और गुरु इन तीनों का सम्मान किया जाता है, इनकी सेवा की जाती है, इनकी आज्ञा का पालन किया जाता है। उसके द्वारा मानों शास्त्रोक्त सभी धर्मों का सम्मान किया जाता है। ऐसा मानना चाहिए, किन्तु इसके विपरीत यदि कोई व्यक्ति इन तीनों का सम्मान नहीं करता, इनकी उपेक्षा अथवा तिरस्कार करता है। उसकी सभी प्रकार की धार्मिक क्रियाएँ किए जाने पर भी निष्फल हो जाती हैं। अतः व्यक्ति को सदैव माता-पिता और गुरु का सम्मान करना चाहिए।

विशेष—1. आदृताः — आ + √ दृ (विदारणे) + क्त, प्रथमा विभक्ति, बहुवचन (आदर किए गए)।

2. अनादृताः — न आदृताः, इति (नञ् समास) आदर न किए गए।

3. अफलाः — न फलाः, इति (नञ् समास) निष्फल।

4. त्रयः से यहाँ, माता-पिता एवं आचार्य से अभिप्राय ग्रहण करना चाहिए।

5. सर्वाः क्रियाः से अभिप्राय सभी प्रकार की श्रौत एवं स्मार्त क्रियाओं से है।

मन्वर्थमुक्तावली—सर्व इति॥ यस्यैते त्रयो मातृपित्राचार्या आदृताः सत्कृतास्तस्य सर्वे धर्माः फलदा भवन्ति। यस्यैते त्रयोऽनादृतास्तस्य सर्वाणि श्रौतस्मार्तकर्माणि निष्फलानि भवन्ति॥ 234॥

पुनः माता-पिता एवं गुरु इन तीनों की सेवा को ही सर्वोपरि प्रतिपादित करते हैं—

यावत्त्रयस्ते जीवेयुस्तावन्नान्यं समाचरेत्।
तेष्वेव नित्यं शुश्रूषां कुर्यात्प्रियहिते रतः॥ 235॥

अन्वय—यावत् ते त्रयः जीवेयुः, तावत् अन्यम् न समाचरेत्, प्रियहिते रतः नित्यम् तेषु ... कुर्यात्॥ 235॥

अनुवाद—जब तक वे तीनों (माता, पिता और आचार्य) जीवित रहें, तब तक अन्य कोई कार्य नहीं करना चाहिए। (उनकी) प्रसन्नता एवं कल्याण में लगे हुए, हमेशा उनकी ही सेवा करनी चाहिए।

'चन्द्रिका'—जब तक व्यक्ति के माता-पिता एवं आचार्य ये तीनों जीवित रहते हैं, तब तक उसे किसी अन्य धार्मिक अनुष्ठान आदि कराने की आवश्यकता नहीं है, अपितु उसका कर्तव्य है कि वह रात और दिन आलस्यरहित होकर उनकी प्रसन्नता के लिए उनके मनोनुकूल कार्य करे। उनके कल्याण के विषय में चिन्तन करे तथा पूर्णतया समर्पित भाव एवं मनोयोग से उनकी सेवा करता रहे।

विशेष—1. जीवेयुः — √ जीव् + विधिलिङ्ग लकार, प्रथम पुरुष, बहुवचन (जीवित रहें)।

2. समाचरेत् — सम् + आ + √ चर् + विधिलिंङ्ग, प्रथम पुरुष, एकवचन (आचरण करना चाहिए)।

3. प्रियहिते रतः — प्रियम् च हितम् च तयोः रतः (√ रम् + क्त) द्वन्द्व समास प्रिय एवं हित में लगा हुआ। प्रिय से 'मनोनुकूल आचरण' तथा हित से 'आपत्ति आदि में संरक्षण' रूप अभिप्राय ग्रहण करना चाहिए।

4. शुश्रूषाम् — √ श्रु + सन्, द्वित्वादि + अ + टाप् द्वितीया विभक्ति, एकवचन (सेवा को)।

मन्वर्थमुक्तावली—यावदिति॥ ते त्रयो यावजीवन्ति तावदन्यं धर्मं स्वातन्त्र्येण नानुतिष्ठेत्। तदनुज्ञया तु धर्मानुष्ठानं प्राग्विहितमेव। किन्तु तेष्वेव प्रत्यहं प्रियहितपरः शुश्रूषां तदर्थे प्रीतिसाधनम्। प्रियं भेषजपानादिवत्। आपत्यामिष्टसाधनं हितम्॥ 235॥

मन, वचन और कर्म से उन तीनों की अनुकूलता का पुनः प्रतिपादन किया जाता है—

तेषामनुपरोधेन पारत्र्यं यद्यदाचरेत्।
तत्तन्निवेदयेत्तेभ्यो मनोवचनकर्मभिः॥ 236॥

अन्वय—तेषाम् अनुपरोधेन, मनोवचनकर्मभिः यत् यत् पारत्र्यम् आचरेत्, तत् तत् तेभ्यः निवेदयेत्॥ 236॥

अनुवाद—उनकी अनुमति से मन-वचन और कर्म से जिस-जिस परलोक विषयक कर्म का आचरण करे, वह-वह उनके लिए निवेदन कर देना चाहिए।

'चन्द्रिका'—व्यक्ति को माता-पिता एवं गुरु की आज्ञा प्राप्त करके परलोक के सम्बन्ध में अपने मन, वाणी और कर्म से प्रत्येक कार्य करना चाहिए अर्थात् व्यक्ति द्वारा जो भी कार्य किया जाए, वह सब माता-पिता एवं गुरु में से किसी एक की अनुमति से ही करना चाहिए। साथ ही उस कार्य का समस्त श्रेय इन्हीं तीनों में से किसी एक

को अथवा तीनों को ही प्रदान कर देना चाहिए। अर्थात् स्वयं को उनका कर्ता नहीं मानना चाहिए।

विशेष—1. माता-पिता एवं गुरु के प्रति पूर्ण समर्पित-भाव की अपेक्षा की अभिव्यक्ति हुई है।

2. पारत्र्यम् — परत्र + ष्यञ् (परलोक-फल विषयक, पारलौकिक)।

3. अनुपरोधेन — न उपरोधेन, इति (नञ् समास) नञ् + उप + √ रुध् + घञ्, तेन, बिना रोक, बाधा अथवा रुकावट के।

4. मनोवचनकर्मभि — मनसा वाचा कर्मणा (मन वचन और कर्म द्वारा)।

5. निवेदयेत् — नि + √ विद् + विधिलिङ्ग, प्रथम पुरुष, एकवचन (निवेदन कर देना चाहिए)।

मन्वर्थमुक्तावली—तेषामिति॥ तेषां शुश्रूषाया अविरोधेन तदनुज्ञातो यद्यन्मनोवचनकर्मभिः परलोकफलं कर्मानुष्ठितं तन्मयैतदनुष्ठितमिति पश्चात्तेभ्यो निवेदयेत्॥ 236॥

माता-पिता एवं गुरु की सेवा के सम्बन्ध में पुनः कहते हैं—

त्रिष्वेतेष्वितिकृत्यं हि पुरुषस्य समाप्यते।
एष धर्मः परः साक्षादुपधर्मोऽन्य उच्यते॥ 237॥

अन्वय—हि एतेषु त्रिषु पुरुषस्य इति कृत्यम् समाप्यते, एषः साक्षात् परः धर्मः, अन्यः उपधर्मः उच्यते॥ 237॥

अनुवाद—क्योंकि इन तीनों की (सेवा में ही) पुरुष के सभी कार्य सम्पन्न हो जाते हैं। (अतः) यही साक्षात् परमधर्म है, अन्य (तो) गौण धर्म (ही) कहा जाता है।

'चन्द्रिका'—माता-पिता और गुरु इन तीनों की मन, वचन एवं कर्म से अर्थात् मनोयोग-पूर्वक एवं समर्पित-भाव से की गई सेवा में ही सभी करने योग्य कार्यों की इतिश्री समझनी चाहिए। इनकी सेवा ही सर्वोत्कृष्ट साक्षात् धर्म माना गया है। इसके अतिरिक्त जिनका धर्म के रूप में हमारे शास्त्रों में कथन हुआ है, उन्हें तो गौण-धर्म ही समझना चाहिए।

विशेष—1. 'इति कृत्यम्' में इति का प्रयोग पूर्णता की अभिव्यक्ति के लिए हुआ है। अर्थात् माता-पिता और गुरु की सेवा में ही मनुष्य के सभी श्रौतस्मार्त कर्तव्यों की इतिश्री हो जाती है।

2. उपधर्मः — गौण-भाव प्रदर्शन के लिए 'उप' का प्रयोग — गौण धर्म।

3. 'हि' शब्द का 'हेतु' अर्थ में प्रयोग।

4. अप्रत्यक्ष रूप से अग्निहोत्रादि से भी सेवा-धर्म की महत्ता प्रतिपादित की गई है।

मन्वर्थमुक्तावली—त्रिष्विति॥ इतिशब्दः कात्स्न्र्ये। हिशब्दो हेतौ। यस्मादेतेषु त्रिषु शुश्रूषितेषु पुरुषस्य सर्वं श्रौतस्मार्तं कर्तव्यं सम्पूर्णमनुष्ठितं भवति। तत्फलावाप्तेः। तस्मादेव

श्रेष्ठो धर्मः साक्षात्सर्वपुरुषार्थसाधनः। अस्याग्निहोत्रादिप्रतिनियतस्वर्गादिहेतुरूपधर्मो जघन्यधर्म इति शुश्रूषास्तुतिः ॥ 237 ॥

तत्पश्चात् नीच से भी ज्ञान-ग्राहकता के सम्बन्ध में कहते हैं—

श्रद्दधानः शुभां विद्यामाददीतावरादपि।
अन्त्यादपि परं धर्मं स्त्रीरत्नं दुष्कुलादपि ॥ 238 ॥

अन्वय—श्रद्दधानः शुभाम् विद्याम् अवरात् अपि, परम् धर्मम् अन्त्यात् अपि स्त्रीरत्नम् दुष्कुलात् अपि आददीत ॥ 238 ॥

अनुवाद—श्रद्धावान् (व्यक्ति) कल्याणकारी विद्या को निम्न (व्यक्ति) से भी, परम धर्म को चाण्डाल से भी (तथा) स्त्री-रत्न को नीच कुल से (भी) ग्रहण कर लेवे।

'चन्द्रिका'—विद्या, धर्म एवं स्त्री-रत्न को प्राप्त करने में व्यक्ति को स्थान अथवा व्यक्ति का विचार नहीं करना चाहिए, अपितु कल्याणों को प्रदान करने वाली विद्या यदि शूद्र व्यक्ति से भी प्राप्त हो रही हो, तो श्रद्धाभाव से उसे ग्रहण करना चाहिए। इसी प्रकार यदि कोई व्यक्ति अपने दुष्कर्मों के भोग के कारण चाण्डाल के यहाँ उत्पन्न हो गया हो, किन्तु मोक्ष के उपाय रूप उत्कृष्ट-धर्म का ज्ञाता हो तो उससे भी श्रद्धापूर्वक धर्म का उपदेश ग्रहण करना चाहिए। इसमें तनिक भी संकोच नहीं करना चाहिए। इसके अतिरिक्त यदि शुभलक्षणों से युक्त स्त्रियों में रत्नस्वरूप कोई सुन्दर स्त्री भले ही निम्नकुल में उत्पन्न हुई हो, किन्तु इस सबकी परवाह किये बिना उसके साथ विवाह करके उसे सहज ही स्वीकार कर लेना चाहिए।

विशेष—1. विद्या, धर्म एवं स्त्रीरत्न को श्रद्धापूर्वक ग्रहण करने के लिए कहा गया है, न कि तिरस्कार अथवा उपेक्षापूर्वक। इसीलिए आरम्भ में ही 'श्रद्दधानः' का प्रयोग किया है। अतः इसका तीनों के साथ प्रयोग करना चाहिए।

2. अवरात् — न वरः, इति - अवरः तस्मात् (निम्नकुल में उत्पन्न व्यक्ति से)।

3. शुभां विद्याम् — से अभिप्राय - गारुड़ी आदि विद्या से ग्रहण करना चाहिए।

4. अन्त्यात् — अन्त + यत् (अधम जाति का मनुष्य) इस श्रेणी में सात प्रकार के लोगों की गणना की जाती है—

चाण्डालः श्वपचः क्षत्ता सूतो वैदेहकस्तथा।
मागधायोग वौ चैव सप्तैतेऽन्त्यावसायिनः ॥

मन्वर्थमुक्तावली—श्रद्दधान इति॥ श्रद्धायुक्तः शुभां दृष्टशक्तिं गारुडादिविद्यामवराच्छूद्रादपि गृह्णीयात्। अन्त्यश्चाण्डालस्तस्मादपि जातिस्मरादेर्विहितयोगप्रकर्षात् दुष्कृतशेषोपभोगार्थमवाप्तचाण्डालजन्मतः परं धर्मं मोक्षोपायमात्मज्ञानमाददीत। तथा अज्ञानमेवोपक्रम्य मोक्षधर्मे प्राप्यज्ञानं ब्राह्मणात्क्षत्रियाद्वैश्याच्छूद्रादपि नीचादभीक्ष्णं श्रद्धातव्यं श्रद्दधानेन नित्यम्। न श्रद्धिनं प्रति जन्ममृत्युविशेषता। मेधातिथिस्तु 'श्रुतिस्मृत्यपेक्षया परो धर्मो लौकिकः।

धर्मशब्दोव्यवस्थायामपि युज्यते। यदि चाण्डालोऽ'प्यत्र प्रदेशे मा चिरं स्था मा चास्मिन्नम्भसि स्नाया' इति वदति तमपि धर्ममनुतिष्ठेत्।' 'प्रागल्भ्याल्लौकिकं वस्तु परं धर्ममिति ब्रुवन्। चित्रं तथापि सर्वत्र श्लाघ्यो मेधातिथिः सताम्॥' स्त्रीरत्नं आत्मापेक्षया निकृष्टकुलादपि परिणेतुं स्वीकुर्यात्॥ 238॥

इसी क्रम में अन्य ग्राह्य वस्तुओं के सम्बन्ध में भी कथन करते हैं—

विषादप्यमृतं ग्राह्यं बालादपि सुभाषितम्।
अमित्रादपि सद्वृत्तममेध्यादपि काञ्चनम्॥ 239॥

अन्वय—विषात् अपि अमृतम्, बालात् अपि सुभाषितम्, अमित्रात् अपि सद्वृत्तम्, अमेध्यात् अपि काञ्चनम् ग्राह्यम्॥ 239॥

अनुवाद—विष से भी अमृत को, बालक से भी सूक्ति को, शत्रु से भी सदाचार को (तथा) अपवित्र स्थान से भी सोने के ग्रहण कर लेना चाहिए।

'चन्द्रिका'—यदि विष में अमृत मिल गया हो तो विष को हटा कर अमृत को ग्रहण कर लेना चाहिए। इसीप्रकार अल्पायु वाला बालक यदि कोई अच्छी बात कह रहा हो तो उसे ग्रहण करने में संकोच नहीं करना चाहिए। इसके अतिरिक्त यदि अपने शत्रु से भी कोई श्रेष्ठव्यवहार, आचरण सीखने को मिले तो उसे अवश्य सीखना चाहिए तथा सोना भले ही अपवित्र स्थान पर क्यों न गिर गया हो, उसे उठा लेना चाहिए।

विशेष—1. कोई भी अच्छी वस्तु जहाँ भी प्राप्त हो उसके ग्रहण करने में संकोच नहीं करना चाहिए।

2. अमेध्यात्—न मेध्यः, इति तस्मात् (नञ् तत्पुरुष) अपवित्र स्थान से, विष्ठादि से।

3. आचरण विषयक अत्यन्त सुन्दर बातों का कथन किया गया है।

मन्वर्थमुक्तावली—विषादिति॥ विषं यद्यमृतसंयुक्तं भवति तदा विषमपसार्य तस्मादमृतं ग्राह्यम्। बालादपि हितवचनं ग्राह्यं, शत्रुतोऽपि सज्जनवृत्तं, अमेध्यादपि सुवर्णादिकं ग्रहीतव्यम्॥ 239॥

पुनः सर्वस्थलों से ग्राह्य वस्तुओं का परिगणन करते हैं—

स्त्रियो रत्नान्यथो विद्या धर्मः शौचं सुभाषितम्।
विविधानि च शिल्पानि समादेयानि सर्वतः॥ 240॥

अन्वय—स्त्रियः, रत्नानि अथो विद्या, धर्मः, शौचम्, सुभाषितम् च विविधानि शिल्पानि सर्वतः समादेयानि॥ 240॥

अनुवाद—स्त्रियाँ, रत्न और विद्या, धर्म, पवित्रता, सूक्तिवचन और विविध प्रकार के शिल्पों को सभी स्थानों से ग्रहण कर लेना चाहिए।

'चन्द्रिका'—सुन्दर एवं गुणसम्पन्न स्त्री, उत्तमश्रेणी के रत्न, मोक्ष प्रदान करने वाली विद्या आदि का ज्ञान, पवित्रता एवं अच्छी-अच्छी बातें, सुभाषित—ये सभी जहाँ से

जिस भी व्यक्ति से प्राप्त हों, वहाँ से ग्रहण कर लेना चाहिए, उनका परित्याग नहीं करना चाहिए।

विशेष—1. सभी स्थानों से ग्रहण करने योग्य वस्तुओं को गिनाया गया है।

2. प्रस्तुत श्लोक पूर्व श्लोक के भाव को ही विस्तृत रूप से अभिव्यक्त कर रहा है।

3. 'अथो' शब्द का 'समुच्चय' अर्थ में प्रयोग हुआ है।

4. सर्वतः — सर्व + तसिल् (सभी जगह से)।

5. समादेयानि — सम् + आ + √ दा + यत् (नपुंसकलिङ्ग, प्रथमा विभक्ति, बहुवचन) ग्रहण करनी चाहिएँ।

मन्वर्थमुक्तावली—स्त्रिय इति॥ अत्र स्त्र्यादीनामुक्तानामपि दृष्टान्तत्वेनोपादानं। यथा स्त्र्यादयो निकृष्टकुलादिभ्यो गृह्यन्ते तथा अन्यान्यपि हितानि चित्रलिखनादीनि सर्वतः प्रतिग्रहीतव्यानि॥ 240॥

तत्पश्चात् आपत्काल में ब्राह्मणेतर व्यक्ति से अध्ययन का विधान करते हैं—

अब्राह्मणादध्ययनमापत्काले विधीयते।
अनुव्रज्या च शुश्रूषा यावदध्ययनं गुरोः॥ 241॥

अन्वय—आपत्काले अब्राह्मणात् अध्ययनम् विधीयते, गुरोः अनुव्रज्या च शुश्रूषा यावत् अध्ययनम् कर्तव्या॥ 241॥

अनुवाद—आपत्ति के समय अब्राह्मण से अध्ययन का विधान किया गया है, (किन्तु ऐसे) गुरु का अनुकरण और सेवा अध्ययन पर्यन्त ही करनी चाहिए।

'चन्द्रिका'—संकट की स्थिति में जब ब्राह्मण वर्ण में उत्पन्न गुरु न मिले तो ब्राह्मण जाति से भिन्न मनुष्य से भी विद्या प्राप्त की जा सकती है, ऐसा धर्मशास्त्रों में उल्लेख मिलता है। किन्तु ऐसी स्थिति में गुरु का अनुसरण एवं सेवा आदि जब तक अध्ययन करे तभी तक करना चाहिए।

विशेष—1. ब्राह्मण से अन्य यहाँ द्विज वर्ण के व्यक्ति से ही अभिप्राय ग्रहण करना चाहिए अर्थात् ब्राह्मण के अभाव में क्षत्रिय और उसके अभाव में वैश्य वर्ण के व्यक्ति से अध्ययन किया जा सकता है।

2. किन्तु भिन्न वर्ण के गुरु के पाद-प्रक्षालन, उच्छिष्ट भोजनादि स्वरूप सेवा का निषेध मानना चाहिए।

3. किन्तु इस विषय में आचार्य व्यास का कथन है—

मन्त्रदः क्षत्रियो विप्रैः शुश्रूषानुगमादिना।
प्राप्तविद्यो ब्राह्मणस्तु पुनस्तस्य गुरु स्मृतः॥

4. अनुव्रज्या — अनु + √ व्रज् + क्यप् + टाप् (अनुसरण)।

5. अब्राह्मणात् — न ब्राह्मणः, इति (नञ् समास) ब्राह्मणेतर तस्मात्।

मन्वर्थमुक्तावली—अब्राह्मणादिति ॥ ब्राह्मणादन्यो यो द्विजः क्षत्रियस्तदभावे वैश्यो वा तस्मादध्ययनमापत्काले ब्राह्मणाध्यापकासंभवे ब्रह्मचारिणो विधीयते। अनुव्रज्यादिरूपा गुरोः शुश्रूषा यावदध्ययनं तावत्कार्या। गुरुपादप्रक्षालनोच्छिष्टप्राशनादिरूपा शुश्रूषाऽप्रशस्ता सा न कार्या। तदर्थमनुव्रज्या चेति विशेषितम्। गुरुत्वमपि यावदध्ययनमेव क्षत्रियस्याह व्यासः—'मन्त्रदः क्षत्रियो विप्रैः शुश्रूषानुगमादिना। प्राप्तविद्यो ब्राह्मणस्तु पुनस्तस्य गुरुः स्मृतः ॥ 241 ॥

ब्रह्मचारित्वे नैष्ठिकस्याप्यब्राह्मणादध्ययनं प्रसक्तं प्रतिषेधयति—

ब्राह्मण भिन्न गुरु के यहाँ अधिक समय तक निवास का निषेध करते हुए कहते हैं—

नाब्राह्मणे गुरौ शिष्यो वासमात्यन्तिकं वसेत्।
ब्राह्मणे चाननूचाने काङ्क्षन्गतिमनुत्तमाम् ॥ 242 ॥

अन्वय—अनुत्तमाम् गतिम् कांक्षन् शिष्यः अननूचाने अब्राह्मणे च गुरौ आत्यन्तिकम् वासम् न वसेत् ॥ 242 ॥

अनुवाद—सर्वोत्कृष्ट गति को चाहता हुआ शिष्य वेदज्ञान-रहित गुरु एवं ब्राह्मण से भिन्न गुरु में आत्यन्तिक निवास न करे।

'चन्द्रिका'—आत्मकल्याण रूप सद्गति अर्थात् मोक्ष को प्राप्त करने की इच्छा रखने वाले ब्रह्मचारी शिष्य को जीवनपर्यन्त ब्रह्मचर्य का पालन करने की भावना से ऐसे गुरु के पास निवास नहीं करना चाहिए, जो ब्राह्मण वर्ण में उत्पन्न न हुआ हो। अर्थात् क्षत्रिय अथवा वैश्य गुरु के पास आजीवन निवास नहीं करना चाहिए। इसीप्रकार भले ही वह गुरु ब्राह्मणकुल में भी क्यों न उत्पन्न हुआ हो, किन्तु वेदज्ञान से रहित होने पर भी उसके पास आजीवन निवास नहीं करना चाहिए।

विशेष—1. वेदज्ञान-रहित गुरु एवं ब्राह्मण भिन्न गुरु के पास आत्यन्तिक निवास मोक्ष-प्राप्ति में बाधक माना है।

2. आत्यन्तिक निवास—जीवन-पर्यन्त ब्रह्मचर्य धारण करने का संकल्प लेकर गुरु के आश्रम में रहना।

3. काङ्क्षन् — √ काङ्क्ष् + शतृ (चाहता हुआ)।

4. अननूचाने — वेदज्ञान-रहित (गुरु में)।

5. गतिम् — √ गम् + क्तिन् + द्वितीया विभक्ति, एकवचन (स्थिति को)।

मन्वर्थमुक्तावली—नाब्राह्मण इति ॥ आत्यन्तिकं वासं यावज्जीविकं ब्रह्मचर्यं क्षत्रियादिके गुरौ ब्राह्मणे साङ्गवेदानध्येतरि। अनुत्तमां गतिं मोक्षलक्षणामिच्छन् शिष्यो नावतिष्ठेत ॥ 242 ॥

गुरुकुल में आत्यन्तिक वास की शर्त का उल्लेख करते हैं—

यदि त्वात्यन्तिकं वासं रोचयेत गुरोः कुले।
युक्तः परिचरेदेनमाशरीरमोक्षणात् ॥ 243 ॥

अन्वय—तु यदि गुरोः कुले आत्यन्तिकम् वासम् रोचयेत, आशरीरविमोक्षणात् युक्तः एनम् परिचरेत्॥ 243॥

अनुवाद—किन्तु यदि (किसी शिष्य को) गुरुकुल में आत्यन्तिक निवास करना अच्छा लगता है (तो उसे गुरु के) शरीर-परित्याग पर्यन्त इसकी सेवा करनी चाहिए।

'चन्द्रिका'—किन्तु यदि कोई शिष्य आजीवन नैष्ठिक ब्रह्मचारी रहकर गुरुकुल में ही हमेशा निवास करना चाहता है, तो उसे जब तक उसके गुरु का प्राणान्त हो तब तक उसकी मन, वचन और कर्म से सेवा करनी चाहिए।

विशेष—1. गुरुकुल में आजीवन निवास के लिए जीवन-पर्यन्त गुरु की सेवा की अनिवार्यता प्रतिपादित की गई है।

2. आशरीरविमोक्षणात् से अभिप्राय गुरु द्वारा पार्थिव शरीर का परित्याग करने से है।

3. विमोक्षणात् — वि + √ मुच् + ल्युट्, पञ्चमी विभक्ति, एकवचन (शरीर का त्याग करने तक)।

मन्वर्थमुक्तावली—यदीति॥ यदि तु गुरोः कुले नैष्ठिकब्रह्मचर्यात्मकमात्यन्तिकं वासमिच्छेत्तदा यावज्जीवनमुद्युक्तो गुरुं शुश्रूषयेत्॥ 243॥ अस्य फलमाह—

तत्पश्चात् गुरुसेवा के फल का निर्देश करते हैं—

आ समाप्तेः शरीरस्य यस्तु शुश्रूषते गुरुम्।
स गच्छत्यञ्जसा विप्रो ब्रह्मणः सद्म शाश्वतम्॥ 244॥

अन्वय—तु यः शरीरस्य आ समाप्तेः गुरुम् शुश्रूषते, ब्राह्मणः सः विप्रः अञ्जसा शाश्वतम् सद्म गच्छति॥ 244॥

अनुवाद—किन्तु जो (ब्रह्मचारी) शरीरपात पर्यन्त गुरु की सेवा करता है, वेद ज्ञान-युक्त वह ब्राह्मण अनायास ही नित्य पद को प्राप्त कर लेता है।

'चन्द्रिका'—जब तक गुरु जीवित रहें तब तक उनकी मन, वचन, कर्म से श्रद्धापूर्वक सेवा करने वाले वेद-ज्ञान से परिचित ब्राह्मण शिष्य को अत्यन्त सहज रूप से परम पद अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है।

विशेष—1. आजीवन गुरु की सेवा के परिणामस्वरूप व्यक्ति को नित्यपद अर्थात् मोक्ष प्राप्ति होती है। इसी को मोक्षप्राप्ति का सरलतम उपाय कहा है।

2. शरीरस्य आ समाप्तेः का अभिप्राय गुरु के शरीरपात पर्यन्त मानना अधिक संगत प्रतीत होता है।

3. 'आ' उपसर्ग का प्रयोग 'मर्यादा' अर्थ में हुआ है।

4. ब्राह्मणः का अर्थ वेदज्ञान से युक्त तथा विप्रः का ब्राह्मण वर्ण में उत्पन्न अर्थ करना होगा।

मन्वर्थमुक्तावली—आ समाप्तेरिति॥ समाप्तिः शरीरस्य जीवनत्यागस्तत्पर्यन्तं यो गुरुं परिचरति स तत्त्वतो ब्रह्मणः सद्म रूपमविनाशि प्राप्नोति। ब्रह्मणि लीयत इत्यर्थः॥ 244॥

इसके बाद गुरु-दक्षिणा के विषय में कहते हैं—

न पूर्वं गुरवे किंचिदुपकुर्वीत धर्मवित्।
स्नास्यंस्तु गुरुणाज्ञप्तः शक्त्या गुर्वर्थमाहरेत्॥ 245॥

अन्वय—धर्मवित् पूर्वम् गुरवे न किञ्चित् उपकुर्वीत तु स्नास्यन् गुरुणा आज्ञप्तः शक्त्या गुर्वर्थम् आहरेत्॥ 245॥

अनुवाद—धर्मज्ञ (शिष्य) पहले गुरु के लिए कुछ भी निवेदन न करे, किन्तु (समावर्तन संस्कार विषयक) स्नान करने की इच्छा करता हुआ, गुरु की आज्ञा से यथाशक्ति गुरु के लिए (दक्षिणा का) आहरण करे।

'चन्द्रिका'—धर्म के मर्म से परिचित शिष्य को विद्या-प्राप्ति के समय समावर्तन संस्कार से पहले गुरु को कुछ भी देने की आवश्यकता नहीं है। प्रतिदिन भिक्षा में जो कुछ भी (अन्न, वस्त्रादि) प्राप्त हो, केवल उसी को गुरु की सेवा में निवेदन करना शिष्य का कर्तव्य है, किन्तु विद्या समाप्ति के बाद समावर्तन संस्कार के समय अनुष्ठेय स्नान करने की इच्छा करते हुए गुरु से पूछकर अर्थात् उनकी अनुमति प्राप्त करके अपनी आर्थिक सामर्थ्य के अनुसार कुछ न कुछ गुरु-दक्षिणा के रूप में गुरु की सेवा में अवश्य निवेदन करना चाहिए।

विशेष—1. स्नास्यन् — √ स्ना + सन् + शतृ (स्नान की इच्छा करता हुआ)।

2. आज्ञप्तः — आ + √ ज्ञा + क्त (आदेश प्राप्त किया हुआ)।

3. आहरेत् — आ + √ हृ + विधिलिङ्ग, प्रथम पुरुष, एकवचन (लाना चाहिए)।

4. गुरुदक्षिणा का प्रावधान केवल समावर्तन-संस्कार के समय किए जाने वाले स्नान के अवसर पर ही किया गया है।

5. विद्या की सफलता के लिए गुरु-दक्षिणा देना अत्यावश्यक है, उसे शिष्य गुरु की अनुमति से कहीं से भी लाकर दे सकता है।

6. इस विषय में आपस्तम्ब का कहना है—

यदन्यानि द्रव्याणि यथा लाभमुपहरति दक्षिणा एव।
ताः स एव ब्रह्मचारिणो यज्ञो नित्यव्रतम्॥

7. दक्षिणा की मात्रा के सम्बन्ध में हारीत कहते हैं—

एकमप्यक्षरं यस्तु गुरुः शिष्ये निवेदयेत्।
पृथिव्यां नास्ति तद् द्रव्यं यद् दत्त्वा चानृणो भवेत्॥

8. गुरु-दक्षिणा में कुछ भी न होने पर केवल शाक देने का भी शास्त्रों में उल्लेख मिलता है (मनुस्मृति 2/246)।

मन्वर्थमुक्तावली—न पूर्वमिति॥ उपकुर्वाणस्यायं विधिः नैष्ठिकस्य स्नानासंभवात्। गुरुदक्षिणादानं धर्मज्ञो ब्रह्मचारी स्नानात्पूर्वं किंचिद्गोवस्त्रादि धनं गुरवे नावश्यं दद्यात्। यदि

तु यदृच्छातो लभते तदा गुरवे दद्यादेव। अतएव स्नानात्पूर्वं गुरवे दानमाहापस्तम्बः—'यदन्यानि द्रव्याणि यथालाभमुपहरति दक्षिणा एव ताः स एव ब्रह्मचारिणो यज्ञो नित्यव्रतम्' इति। स्नास्यन्पुनर्गुरुणा दत्ताज्ञो यथाशक्ति धनिनं याचित्वापि प्रतिग्रहादिनापि गुरवेऽर्थमाहृत्यावश्यं दद्यात्॥ 245॥ किं तत्तदाह—

पुनः दक्षिणा में दिए जाने योग्य वस्तुओं का कथन करते हैं—

क्षेत्रं हिरण्यं गामश्वं छत्रोपानहमासनम्।
धान्यं शाकं च वासांसि गुरवे प्रीतिमावहेत्॥ 246॥

अन्वय—क्षेत्रम्, हिरण्यम्, गाम्, अश्वम्, छत्रोपानहम्, आसनम्, धान्यम्, शाकम् च वासांसि गुरवे (दत्त्वा) प्रीतिम् आवहेत्॥ 246॥

अनुवाद—(कृषि योग्य) भूमि, सोना, गाय, घोड़ा, छाता-जूते, आसन, धान्य और शाक एवं वस्त्र गुरु के लिए (निवेदन करके) उन्हें प्रसन्न करना चाहिए।

'चन्द्रिका'—विद्या-समाप्ति पर समावर्तन-संस्कार के अवसर पर किए जाने वाले स्नान के समय धर्म के तत्त्व से परिचित शिष्य विद्या प्रदान करने वाले गुरु के लिए दक्षिणा स्वरूप अपनी सामर्थ्य के अनुसार भूमि, स्वर्ण, गाय, घोड़े, छाता, जूते, आसन, धान्यादि खाद्य सामग्री, शाकादि, वस्त्रादि प्रदान कर सकता है। दक्षिणा देते समय गुरु की प्रसन्नता महत्त्वपूर्ण है। इसीलिए गुरु-दक्षिणा से पूर्व देने योग्य वस्तु के सम्बन्ध में उनकी अनुमति आवश्यक मानी गई है।

विशेष—1. गुरु-दक्षिणा में देने योग्य वस्तुओं का उल्लेख किया गया है।
2. गुरु-दक्षिणा अपनी सामर्थ्य के अनुसार ही देनी चाहिए।
3. गुरु-दक्षिणा में जीवनोपयोगी वस्तुओं को गिनाया गया है।

मन्वर्थमुक्तावली—क्षेत्रमिति॥ 'शक्त्या गुर्वर्थमाहरेत्' इत्युक्तत्वात्क्षेत्रहिरणादिकं यथा-सामर्थ्यं विकल्पितं समुदितं वा गुरवे दत्वा तत्प्रीतिमर्जयेत्। विकल्पपक्षे चान्ततोऽन्यासम्भवे छत्रोपानहमपि दद्यात्। द्वन्द्वनिर्देशात् 'समुदितदानम्'। प्रदर्शनार्थं चैतत्। संभवेऽन्यदपि दद्यात्। अतएव लघुहारीतः—'एकमप्यक्षरं यस्तु गुरुः शिष्ये निवेदयेत्। पृथिव्यां नास्ति तद्द्रव्यं यद्दत्वा चानृणी भवेत्॥' असंभवे शाकमपि दद्यात्॥ 246॥

आचार्य के उपरत हो जाने पर गुरुतुल्य आचरण के विषय में निर्देश करते हैं—

आचार्ये तु खलु प्रेते गुरुपुत्रे गुणान्विते।
गुरुदारे सपिण्डे वा गुरुवद्वृत्तिमाचरेत्॥ 247॥

अन्वय—तु आचार्ये प्रेते गुणान्विते गुरुपुत्रे गुरुदारे वा सपिण्डे खलु गुरुवत् वृत्तिम् आचरेत्॥ 247॥

अनुवाद—किन्तु आचार्य के उपरत होने पर, गुणयुक्त गुरुपुत्र में, गुरुपत्नी में गुरु के सपिण्ड में ही गुरु के समान व्यवहार का आचरण करना चाहिए।

'चन्द्रिका'—यदि आचार्य की मृत्यु हो जाए तो उनके गुणवान् पुत्र में, उनकी पत्नी

में अथवा उनके वंश में उत्पन्न किसी योग्य व्यक्ति के प्रति भी गुरु के समान ही व्यवहार करना चाहिए, अर्थात् उनके प्रति गुरु-भाव रखते हुए ही उनके साथ चरण-स्पर्श, गुरुदक्षिणा आदि प्रदान करना चाहिए।

विशेष—1. गुरु के जीवित रहते हुए इनके साथ गुरुवत् व्यवहार का निषेध अभिव्यञ्जित होता है।

2. सपिण्ड से अभिप्राय गुरु के वंश में उत्पन्न उनके छोटे या बड़े भाई आदि से है।

3. गुरुवत् व्यवहार के लिए इनका योग्य एवं सदाचरण वाला होना अत्यावश्यक है। इनमें भी पूर्व-पूर्व के न होने पर उत्तरोत्तर को समझना चाहिए।

मन्वर्थमुक्तावली—आचार्य इति॥ नैष्ठिकस्यायमुपदेशः। आचार्ये मृते तत्सुते विद्यादिगुणयुक्ते, तदभावे गुरुपत्न्यां, तदभावे गुरोः सपिण्डे पितृव्यादौ गुरुवच्छुश्रूषामनुतिष्ठेत् ॥ 247 ॥

गुरु-पुत्र, गुरु-पत्नी आदि के जीवित होने की स्थिति का विधान किया जाता है—

एतेष्वविद्यमानेषु स्नानासनविहारवान्।
प्रयुञ्जानोऽग्निशुश्रूषां साधयेद्देहमात्मनः ॥ 248 ॥

अन्वय—एतेषु अविद्यमानेषु स्नानासनविहारवान् अग्निशुश्रूषाम् प्रयुञ्जानः आत्मनः देहम् साधयेत् ॥ 248 ॥

अनुवाद—इन सबके न रहने पर, स्नान, आसन और विहार करता हुआ, यज्ञाग्नि की सेवा करता हुआ, अपने शरीर को (मोक्ष के योग्य) सिद्ध करना चाहिए।

'चन्द्रिका'—यदि व्यक्ति के गुरु, गुरुपुत्र, गुरुपत्नी, सपिण्ड आदि जीवित न हों तो गुरु की समाधि अथवा चिता आदि के निकट ही स्नान, आसन एवं भ्रमन् करते हुए दैनिक यज्ञादि कर्मों का अनुष्ठान करे तथा एकाग्रचित्त होकर अपने शरीर को मोक्ष-प्राप्ति के योग्य बनाना चाहिए।

विशेष—1. प्रयुञ्जानः — प्र + √ युज् + शानच् (प्रयुक्त करता हुआ)।

2. अग्निशुश्रूषा से अभिप्राय यज्ञादिक्रियाओं को करने से है।

3. अविद्यमानेषु — न विद्यमानः, इति तेषु (नञ् तत्पुरुष) जो विद्यमान नहीं है।

4. इन सबके अभाव में व्यक्ति को वैराग्यभाव से ब्रह्मप्राप्ति का प्रयास करना चाहिए।

मन्वर्थमुक्तावली—एतेष्विति॥ एतेषु त्रिष्वविद्यमानेषु सततमाचार्यस्येवाग्नेः समीपे स्नानासनविहारैः सायंप्रातरादौ समिद्धोमादिना चाग्नेः शुश्रूषां कुर्वन्नात्मनो देहमात्मदेहावच्छिन्नं जीवं ब्रह्मप्राप्तियोग्यं साधयेत् ॥ 248 ॥

अन्त में इस सब आचरण के फल का कथन करते हैं—

एवं चरति यो विप्रो ब्रह्मचर्यमविप्लुतः।
स गच्छत्युत्तमस्थानं न चेहाजायते पुनः ॥ 249 ॥

अन्वय—यः अविप्लुतः ब्रह्मचर्यम् विप्रः एवम् चरति, सः उत्तमस्थानम् गच्छति च इह पुनः न जायते॥ 249॥

अनुवाद—जो अखण्डित ब्रह्मचर्य वाला ब्राह्मण इस प्रकार आचरण करता है, वह उत्तम स्थान को प्राप्त करता है और इस (संसार) में फिर से उत्पन्न नहीं होता है।

'चन्द्रिका'—आजीवन ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन करने वाला जो ब्रह्मचारी ब्राह्मण अब तक बताए गए ब्रह्मचारी के कर्तव्यों का पालन करते हुए आचरण करता है तो वह सर्वोत्तमस्थान मोक्ष को प्राप्त करता है और उसका फिर से इस संसार में आगमन नहीं होता है, अर्थात् पुनर्जन्म नहीं होता है।

विशेष—1. अविप्लुतः — न विप्लुतः, इति (नञ् समास) वि + √ प्लु + क्त (जिसका लोप नहीं हुआ है, ऐसा)।

2. उत्तम स्थान से अभिप्राय मोक्ष से है।

3. मनु द्वारा कहे गये मार्ग का अनुसरण करने वाले ब्रह्मचारी को मोक्ष की प्राप्ति होती है तथा उसके पुनर्जन्म का भी निषेध किया गया है।

4. जायते — √ जन् (जनी प्रादुर्भावे) + लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन, आत्मने, उत्पन्न होता है।

इति मानवे धर्मशास्त्रे भृगुप्रोक्तायां संहितायां द्वितीयोऽध्यायः॥ 2॥

॥ इसप्रकार मानव-धर्मशास्त्र के अन्तर्गत भृगु द्वारा कही गई
संहिता में द्वितीय अध्याय पूर्ण हुआ॥

मन्वर्थमुक्तावली—एवं चरतीति॥ 'आ समाप्तेः शरीरस्य' इत्यनेन यावज्जीवमाचार्य-शुश्रूषाया मोक्षलक्षणं फलम्। इदानीमाचार्ये मृतेऽपि एवमित्यनेनानन्तरोक्तविधिना आचार्यपुत्रा-दीनामप्यग्निपर्यन्तानां शुश्रूषको यो नैष्ठिकब्रह्मचर्यमखण्डितव्रतोऽनुतिष्ठति स उत्तमं स्थानं ब्रह्मण्यात्यन्तिकलक्षणं प्राप्नोति। न चेह संसारे कर्मवशादुत्पत्तिं लभते॥ 249॥

इति श्रीकुल्लूकभट्टकृतायां मन्वर्थमुक्तावल्यां
मनुवृत्तौ द्वितीयोऽध्यायः॥ 2॥

इस प्रकार मनुस्मृति में
श्री कुल्लूकभट्ट विरचित मन्वर्थमुक्तावली एवं
डॉ. राकेश शास्त्री तथा डॉ. प्रतिमा शास्त्री कृत
'चन्द्रिका' हिन्दी व्याख्या सहित द्वितीय अध्याय पूर्ण हुआ॥

❀❀❀

परिशिष्ट

(क) हिन्दी व्याख्या

1. **आद्यन्त**—सर्वे तस्यादृता.................................क्रियाः ॥

2. **सन्दर्भ**—प्रस्तुत श्लोक धर्मशास्त्रीय साहित्य के देदीप्यमान सूर्य आचार्य मनु द्वारा विरचित स्मृति-साहित्य में प्रतिष्ठित मनुस्मृति के द्वितीय अध्याय से उद्धृत किया गया है।

3. **प्रसङ्ग**—आचार्य मनु माता-पिता एवं आचार्य की सेवा किए जाने के परिणामस्वरूप प्राप्त होने वाले फल का कथन करते हुए कहते हैं—

4. **अन्वय**—यस्य एते त्रयः आदृताः, तस्य सर्वे धर्माः आदृताः तु यस्य एते (त्रयः) अनादृताः तस्य सर्वाः क्रियाः अफलाः (भवन्ति)।

5. **हिन्दी अनुवाद**—जिस (व्यक्ति) के (माता, पिता और आचार्य) ये तीनों समादृत हैं, उसके सभी धर्म सत्कृत हैं, किन्तु जिसके ये तीनों आदरयुक्त नहीं हैं, उनकी सभी क्रियाएँ निष्फल (हो जाती हैं)।

6. **व्याख्या**—जो व्यक्ति माता-पिता और आचार्य इन तीनों का सम्मान करता है, उनकी सेवा करता है। उनकी आज्ञा का पालन करता है। उसने मानो शास्त्रों में कहे सभी धर्मों का सम्मान किया है, ऐसा मानना चाहिए। भले ही उसने अन्य धर्मों का निर्वाह नहीं किया हो।

इसके विपरीत यदि कोई व्यक्ति इन तीनों का सम्मान नहीं करता है। उनका तिरस्कार अथवा उपेक्षा करता है और शास्त्र में कही गई अन्य यज्ञादि क्रियाओं को ही सम्पन्न करता है। ऐसे व्यक्ति की सभी क्रियाएँ निष्फल हो जाती हैं। इसलिए व्यक्ति को सदैव माता-पिता और आचार्य का सम्मान करना चाहिए।

7. **विशेष**—(i) प्रस्तुत श्लोक की भाषा अत्यन्त सरल, भावबोधगम्य, प्रसादगुण-युक्त एवं प्रवाहपूर्ण प्रयुक्त हुई है।

(ii) त्रयः से यहाँ—माता-पिता एवं आचार्य से अभिप्राय ग्रहण करना चाहिए।

(iii) सर्वाः क्रिया से अभिप्राय-सभी प्रकार की श्रौत स्मार्त क्रियाओं से है।

(iv) माता-पिता एवं गुरु के प्रति आदरभाव प्रदर्शित करने की प्रेरणा प्रदान की गई है।

8. **व्याकरणात्मक टिप्पणी**—(i) आदृताः — आ + √ दृ (विदारणे) + क्त, प्रथमा विभक्ति, बहुवचन।

(ii) अनादृताः — न आदृताः, इति (नञ् समास)।

(iii) अफलाः — न फलाः, इति (नञ् समास)।

(iv) यस्यैते — यस्य + एते (अ + ए = ऐ) (वृद्धि सन्धि - वृद्धिरेचि)।

(v) तस्यादृताः — तस्य + आदृताः (अ + आ = आ) दीर्घसन्धि — अकः सवर्णे दीर्घः।

(ख) संस्कृत व्याख्या

1. **आद्यन्तः**—अभिवादनशीलस्य..........................यशो बलम्॥

2. **सन्दर्भः**—प्रस्तुतभावपूर्णः श्लोकः आचार्यमनुविरचितस्य 'मनुस्मृतिः' नाम स्मृतिग्रन्थस्य द्वितीयाध्यायात् अवतरितोऽस्ति।

3. **प्रसङ्गः**—अस्मिन् श्लोके ग्रन्थकारेण 'वृद्धानां सेवया किम् फलं भवति', इति उल्लिखितम् वर्तते।

4. **अन्वयः**—नित्यम् अभिवादनशीलस्य वृद्धोपसेविनः आयुः, विद्या, यशः बलम् चत्वारि वर्द्धन्ते।

5. **संस्कृत-व्याख्या**—यः जनः स्व-अग्रजान् गुरु जनान् वा प्रतिदिनम् अभिवादनं करोति, तेषां वृद्धानां च सेवाकार्यं करोति। तस्य जनस्य आयुः, विद्या, यशः बलं च (एतानि चत्वारि) वृद्धिं गच्छन्ति। अतः मनुष्येन स्वजीवने सदैव वृद्धपुरुषाणां सेवा कर्तव्या।

6. **विशेषः**—(i) अस्य श्लोकस्य भाषा अतिसरला, प्रवाहपूर्णा च वर्तते।

(ii) सर्वैः जनैः स्वाग्रजानां सेवा करणीया, इति संदिष्टम्।

(iii) प्रस्तुत श्लोकस्य चतुर्थे चरणे 'विद्या' स्थाने 'धर्म', 'प्रज्ञा' पाठभेदः अपि प्राप्यते। एवमेव वर्द्धन्ते स्थाने 'सम्प्रवर्द्धन्ते' इति पाठभेदः अपि।

(iv) गुरुजनानां सेवायाः अभिवादनस्य च महत्ता प्रतिपादिता।

7. **व्याकरणात्मक-टिप्पणयः**—(i) वृद्धोपसेविनः — वृद्ध + उपसेविनः (अ + उ = ओ, गुण - आद्गुणः)।

(ii) अभिवादनशीलस्य — अभिवादनं एव शीलं यस्य सः, तस्य (बहुव्रीहि)।

(iii) वर्द्धन्ते — √ वृध् (वृधु वृद्धौ) + लट् लकार, प्रथम पुरुष, बहुवचन, आत्मने.।

(iv) सम्प्रवर्द्धन्ते — सम् + प्र + √ वृध् + आत्मने. लट् लकार, प्रथम पुरुष, बहुवचन सम्यक् रूपेण, प्रकर्षेण च वर्द्धन्ते इति भावः।

(ग) श्लोकानुक्रमणिका

75/-

विद्यानिधि प्रकाशन

भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के प्रकाशक

डी-1061, गली नं॰ 10

(समीप श्री महागौरी मन्दिर)

खजूरी खास, दिल्ली-110094

दूरभाष-2175638